समास
22

समास - २२

सम्पादकीय

बातचीत

भारत की पेगन चेतना

वागीश शुक्ल से उदयन वाजपेयी की बातचीत ०१

योगवासिष्ठ में वेतालोपाख्यान - वागीश शुक्ल ५७

कविताएँ

कोई है? और अन्य कविताएँ - शिरीष ढोबले ८२

ख़लील मामून की नज़्में ६८

कुमार शहानी की कविताएँ १३८

कहानी/उपन्यास अंश

गोमती की महागाथा - शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी १३६

समन्दर - वीनेश अंताणी १५२

दो पत्र (जो गन्तव्य तक पहुँच नहीं सके) - अनामिका अनु १६१

बनावटी नींद - सृंजना शर्मा १६७

नाटक

आनन्द भोग मॉल - आशुतोष पोद्दार २०२

निबन्ध

अपने ही कल्पित अरण्य में भटकती कविता - मदन सोनी २४२

चार गद्य रचनाएँ - आस्तीक वाजपेयी २६५

हम सँवरै दुई बोल - ध्रुव शुक्ल २७७

महाभारतदर्पण : अनुवाद एवं पाठालोचन की भारतीय परम्परा - डॉ. राजकुमार २८३

इतालवी में ग़ालिब - स्टीवन ग्रीको ३०७

धान के खेत में बैंगन तलाश करने वाले लोग - माधव हाड़ा ३१२

(पश्चिमी ज्ञान मीमांसा और मीरां)

बूझती अंगुलियाँ-४ - जगदीश स्वामीनाथन - अखिलेश ३३३

समीक्षा

साहचर्य की वैकल्पिक सृष्टि - मिथिलेश शरण चौबे ३५८

लेखक परिचय ३६२

सम्पादकीय

मानवीय इतिहास में ऐसी कोई भी सभ्यता ढूँढ पाना असम्भव है जिसमें किसी-न-किसी तरह के विवाद न रहे हों। किसी-न-किसी तरह की समस्याएँ न रही हों। आधुनिक मनीषा का यह प्रयास अवश्य रहा है कि वह एक ऐसी सभ्यता की रचना करे जिसमें न विवाद हो और न समस्याएँ। तमाम आधुनिक विचारधारात्मक उपक्रम इसी दिशा में होते रहे हैं। कम-से-कम बीसवीं शताब्दी का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि ऐसी किसी सभ्यता की निर्मिति असम्भव है जिसमें विवाद या समस्याएँ न रहें। इसे हम इस तरह भी कह सकते हैं कि जब भी कोई मानवीय समुदाय बनेगा, उसके विभिन्न सदस्यों के स्वभावों के अलग होने के कारण विवाद उत्पन्न होकर ही रहेंगे। स्वभाव-वैविध्य मानवीय अस्तित्व का बल्कि जैविक अस्तित्व का एक ऐसा सच है जिसे किसी भी आदर्श के सहारे नष्ट नहीं किया जा सकता। अगर मनुष्य समाज है या कि कोई सभ्यता है तो उसमें विवाद होकर रहेंगे। लेकिन किसी भी सभ्यता की पहचान उन रास्तों से होती है, उन पद्धतियों से जिनके सहारे वह सभ्यता अपने विवादों को सुलझाने का प्रयास करती है। दूसरे शब्दों में किसी भी सभ्यता की पहचान उसके भीतर सक्रिय उन पद्धतियों से हुआ करती है जिनके सहारे वह अपने विवादों को सुलझाती है। चूँकि ये विवाद लगातार सामने आते रहते हैं इसलिए इन्हें लगातार सुलझाते रहना पड़ता है। ऐसी कोई स्थिति कभी किसी सभ्यता के जीवन में आयी ही नहीं है, जहाँ उसके सारे विवाद हमेशा के लिए सुलझ गये हों। अगर कोई व्यक्ति यह समझता है कि ऐसा हो सकता है, वह या तो निरा अज्ञानी है और या पाखण्डी। यह सिर्फ़ भारत की बाज़ारू फ़िल्मों के अन्त में हुआ करता है जहाँ नायक अन्तिम रूप से अपने खलनायक को परास्त कर देता है। सभ्यता के जीवन में न कोई पूरा नायक होता है, न खलनायक। हर व्यक्ति में इन दोनों के ही तत्व विद्यमान होते हैं। इसीलिए विवादों को सुलझाने का कोई सीधा सरल रास्ता नहीं हुआ करता। पर तब भी हर सभ्यता में विवादों को सुलझाने के तरीकों के समुच्चय का एक विशिष्ट स्वभाव हुआ करता है। इस स्वभाव से ही किसी भी सभ्यता के स्वरूप का पता चलता है। ऐसी कई सभ्यताएँ रही हैं जिनमें विवादों को दबाकर ही उन्हें हल किया जाता है। इन सभ्यताओं में विवादों को विवाद मानने के स्थान पर अपवाद मान लिया जाता है और इसलिए उसे सुलझाने का कोई गहरा उपाय नहीं किया जाता। चीन के कुछ प्रान्तों में अल्पसंख्यकों की समस्या की यही स्थिति है। उसे सुलझाने के स्थान पर चीनी राज्यसत्ता उसे दबाने में लगी है। लेकिन यह दबाव बहुत दिनों तक सफल रहने वाला नहीं है। जब भी विवादों को इस तरह दबाया जाता है, वह किसी दूसरे रूप में प्रकट हो जाता है। आधुनिक यूरोप ने विवादों को सुलझाने के प्रश्न पर बहुत विचार किया है। लेकिन आधुनिकता से पहले तक यूरोप ने विवादों को जिस हिंसक ढंग से सुलझाया जाता रहा था, वह आज इस सारे विचार-विमर्श के बाद भी यूरोपीय मानस पर छाया हुआ है। यूरोप आज भी अपने सभी नहीं तो अनेक विवाद या तो कानूनी हिंसा और या किसी और तरह की हिंसा के सहारे सुलझाने का प्रयास करता है। यह संयोग नहीं है कि बीसवीं

शताब्दी के चौथे और पाँचवें दशकों में जर्मनी के शासक हिटलर ने अपने देश में यहूदी विवाद को सुलझाने का उपाय समूची यहूदी प्रजाति को नष्ट करने में देखा था। आज हम सब जानते हैं कि उससे जर्मनी को कितना अधिक नुकसान हुआ था। जब भी एक समाज में एक समुदाय दूसरे समुदाय पर हिंसा करता है, वह पूरा समाज लांछित होता है और इस लांछना के फलस्वरूप उस समाज के नागरिकों में अप्रत्याशित मानसिक विकृतियाँ पैदा होती हैं जो नित-नयी समस्या उठाती रहती हैं।

भारतीय सभ्यता में अपने भीतर उठते विवादों को सुलझाने के क्या रास्ते रहे हैं? क्या हम इस हज़ारों सम्प्रदायों वाली सभ्यता में हिंसक मार्गों से अपने विवाद सुलझाते रहे हैं? क्या कभी भी इस सभ्यता के किसी भी समुदाय ने विवाद के चलते किसी भी दूसरे समुदाय को नेस्तनाबूद करने का प्रयास किया है? इन सभी सवालों का जवाब है, नहीं। भारतीय सभ्यता ने अपने भीतर के अन्यान्य विवादों को संवाद के सहारे सुलझाने का प्रयत्न किया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण भारत का भक्तिकाल है। यह सच है कि भक्ति का भाव और अवधारणा बहुत पुरानी है। पर यह भी सच है कि इस विचार और भावना का प्रयोग भारतीयों ने अपनी सभ्यता के एक बड़े विवाद को सुलझाने में भी किया था। भक्तिकाल के कवियों ने मानवीय अस्तित्व के एक ऐसे स्तर का अवगाहन अपनी कविताओं, गीतों, नृत्यों आदि में किया, जहाँ से सभी धर्मावलम्बियों को आत्मीय ढंग से सम्बोधित और प्रबुद्ध किया जा सके। उनके सृजनात्मक कर्म में मानवीय अस्तित्व के एक ऐसे स्तर की पहचान उभरकर सामने आयी, जिसमें सभी साझा कर सकते थे। जिस स्तर के सन्दर्भ में अलग-अलग धर्म दृष्टियों का कोई महत्व नहीं था। मानो हर साधना या धार्मिक परम्परा मानवीय अस्तित्व के उसी स्तर को प्रकाशित करने का प्रयास हो। इस रास्ते भक्तिकाल ने भारतीय सभ्यता की समावेशी परम्परा का पुनराविष्कार किया था। इसी रास्ते का एक और संस्करण गाँधी ने बीसवीं शताब्दी में औपनिवेशिक दासता के दौर में खोजा था। महात्मा गाँधी इसीलिए लगभग सभी भारतीयों को स्वतन्त्रता आन्दोलन में शामिल करने में सफल हुए थे क्योंकि उनका अंग्रेज़ों से विवाद को सुलझाने का रास्ता ऐसा था, जिसकी पहचान हर भारतीय के मन में पहले से थी। इसके चलते उन्होंने न सिर्फ़ अंग्रेज़ों से भारत को मुक्ति दिलायी बल्कि भारत में उपस्थित तमाम तरह के धार्मिक और साम्प्रदायिक विवादों को सुलझाने का रास्ता भी प्रशस्त किया। हम आज छिप-छिप कर गाँधी को कितना भी लांछित करते रहें लेकिन भारत के साम्प्रदायिक विवादों को सुलझाने का मार्ग हमें उन्हीं के दिखाये उपायों में ही मिलेगा। अगर हम पश्चिम की नकल में हिंसा के सहारे अपने विवादों को सुलझाने के प्रयास में पड़े, हमें एक ऐसी कठिन स्थिति में फँस जायेंगे, जहाँ से इस सभ्यता का बाहर निकलना असम्भव होगा।

भोपाल,
२३ मार्च, २०२२

उदयन वाजपेयी

भारत की पेगन चेतना

वागीश शुक्ल से उदयन वाजपेयी की बातचीत

वागीश शुक्ल हिन्दी के उन विरले लेखकों में हैं जो हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी, अंग्रेज़ी और इन भाषाओं के माध्यम से दूसरी भाषाओं के साहित्य को गहरायी से जानते हैं। वागीश जी वर्षों दिल्ली के आई. आई.टी. संस्थान में गणित पढ़ाते रहे और फिर सेवानिवृत्त होकर बस्ती चले गये हैं। उनका लिखा हुआ सरस और जटिल एक साथ होता है। उनके लिखने का ढंग निराला है। वे कोई भी अवधारणा सीधे-सीधे व्यक्त करने के स्थान पर पाठक को वैचारिकता के उस स्थान तक ले जाते हैं जहाँ वह अवधारणा रूप ले रही होती है। उन्होंने निराला की प्रसिद्ध कविता 'राम की शक्तिपूजा' की बहुत ही सुन्दर टीका लिखी है जो 'छन्द छन्द पर कुमकुम' नाम से प्रकाशित हुई है। उन्होंने देवकीनन्दन खत्री की उपन्यास शृंखला 'चन्द्रकान्ता सन्तति' पर भी किताब लिखी है। उन्होंने 'समास' के लिए 'भक्ति' पर कई निबन्धों की शृंखला भी लिखी है। वागीश जी हिन्दी में ग़ालिब की शायरी के सबसे बड़े विशेषज्ञ हैं और उन्होंने उस पर भी टीका लिख रखी है जो प्रकाशित होना बाक़ी है। वे कई बरसों से एक सुदीर्घ उपन्यास पर भी काम कर रहे हैं। उनसे मेरी पहली मुलाक़ात चालीस बरस पहले हुई होगी, उससे भी पहले से मैं उनके निबन्ध पढ़ता रहा था। उनका एक पाँव पश्चिम के अधुनातन चिन्तन में होता है, दूसरा हमारी अपनी परम्परा की गहराई में। शायद इसीलिए उनके लेखन में ऐसी गन्ध है जो बिल्कुल आज की होती हुई भी प्राचीन लगती है और पारम्परिक होने के रास्ते आधुनिक है। उनसे यह बातचीत ई-मेल पर हुई है। वागीश जी ने अपनी तमाम मुश्किलों के बावजूद हमारे प्रश्नों के पर्याप्त विस्तृत जवाब कुछ महीनों तक देते रहे, यह उनका बड़प्पन ही है।

यह बातचीत कोरोना-जनित असमर्थताओं के चलते ई-मेल के माध्यम से २० जुलाई २०२१ को प्रारम्भ हुई जिस दिन हरिशयनी एकादशी थी और भगवान् चार महीनों के लिए निद्रामग्न हुए। इसलिए इसमें एक बेबाकी का आ जाना स्वाभाविक है। इसमें सवाल उदयन वाजपेयी ने किये हैं और जवाब वागीश शुक्ल ने दिये हैं।

उदयनः आपकी पढ़ाई किस तरह शुरू हुई? बचपन में आप किस स्कूल में पढ़ने जाते थे? क्या वहाँ की कोई यादें आपके साथ हैं? उन दिनों आपके घर का परिवेश कैसा था?

वागीश जीः मेरी माता श्रीमती विद्यावती देवी यद्यपि चौदह वर्ष की अवस्था से ही मेरे पितृकुल में गुरुजनों की शुश्रुषा कर रही थीं, मेरे घर में बारह वर्ष बीत जाने पर भी उनके कोई सन्तान न हुई और उन्होंने किसी बड़ी-बूढ़ी की सलाह पर ऋषिपंचमी का व्रत प्रारम्भ किया। यह अरुन्धती देवी को शामिल करते हुए सप्तर्षियों की आराधना का व्रत है और भाद्रपद शुक्ल पंचमी को किया जाता है। हमारी तरफ़ अखण्ड सौभाग्य की आशा में स्त्रियाँ हरतालिका का व्रत रखती हैं जो भाद्रपद शुक्ल तृतीया को रखा जाता है। उसमें चौबीस घण्टे निर्जल उपवास करना होता है (यद्यपि आजकल 'निर्जल' विशेषण युवतर पीढ़ी की कुछ

महिलाओं ने हटा दिया है)। पंचांग की गणनाएँ प्रायः हरतालिका के दूसरे दिन ही ऋषिपंचमी घोषित कर देती हैं और इस कारण ऋषिपंचमी का दिनभर का निर्जल उपवास और कठिन हो जाता है।

इस तपस्या के आगे लाचार जगन्नियन्ता के आदेश पर चित्रगुप्त ने मेरा बही-खाता झाड़-पोंछ कर मिलाया और मैंने अपने पिछले कर्मों का फल भोगने तथा कुछ नये पाप-पुण्य अर्जित करने के लिए ज्येष्ठ शुक्ल दशमी विक्रम संवत् २००३ को इस धरती पर अपने गाँव थरौली, तप्पा बड़गों पगार, परगना महुली पश्चिम, तहसील सदर, जिला बस्ती, उत्तर प्रदेश में जन्म लिया यद्यपि संयुक्त परिवार का वह टुकड़ा जिसमें मेरे पिता आते थे, जिला मुख्यालय बस्ती में ही प्रायः रहता था, जो थरौली से पन्द्रह किलोमीटर दूर है।

'संयुक्त परिवार' से मेरा क्या आशय है, इसे मैं स्पष्ट करता हूँ। मेरे पूर्वज पण्डित शूलपाणि शुक्ल बस्ती से थरौली के रास्ते में थरौली से तीन किलोमीटर पहले पड़ने वाले महसों में रहते थे जहाँ के राजा द्वारा किये गये किसी अपमान से क्षुब्ध होकर वे अनशन पर बैठ गये और उनका प्राणान्त हो गया जिसके बाद उनके पुत्रों ने ब्रह्महत्यारे के राज्य में जल न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करके महसों छोड़ दिया और किसी अन्य आश्रय की तलाश में निकल पड़े। उनमें से एक को थरौली के तत्कालीन निवासियों ने अपने गाँव में शरण दे दी और अन्य भाई आगे चले गये। थरौली महुली राज्य में पड़ता था। जब मैं यहाँ 'राज्य' कहता हूँ, तो इसका आशय उन इलाक़ों से है जिनके अधिपति मध्यकाल में स्वतन्त्र शासक थे और इस नाते वंशानुगत 'राजा' थे किन्तु कालान्तर में मुग़लों और फिर अवध के नवाबों और उनके बाद अंगरेज़ों को मालगुज़ारी देने वाले ज़मींदार रह गये थे।

थरौली में बस गये पूर्वज के वंश में मेरे वृद्धप्रपितामह पण्डित शिवदीन शुक्ल के दो पुत्र हुए, पण्डित रामप्रसाद शुक्ल जो मेरे प्रपितामह थे, और पण्डित रामअवतार शुक्ल। इन दो भाइयों का परिवार एक ही रसोई में था किन्तु मेरे होश सँभालने तक चूल्हे अलग हो चुके थे हालाँकि सभी लोग एक ही मकान में अलग-अलग बरामदे बाँट कर रहते थे। यह मकान यों तो मेरे पितामह पण्डित जयनारायण शुक्ल ने बनवाया था किन्तु बँटवारे में ज़ाहिर है कि हम लोगों के हिस्से में दो ही बरामदे और उनसे जुड़ी कोठरियाँ आनी थी। लेकिन इसी से जुड़ा मेरे पितामह का ही बनवाया एक मकान बढ़त के तौर पर था और दोनों मकानों के बीच एक कोठरी रास्ते का काम देती थी जिसके नाते उस दूसरे मकान की संज्ञा 'दूसरा खण्ड' थी। इस 'दूसरके खण्ड' पर हमारा हक़ पूरा माना गया था और इस प्रकार पण्डित रामप्रसाद शुक्ल के दोनों पुत्रों- पण्डित शुभनारायण शुक्ल और उनके छोटे भाई पण्डित जयनारायण शुक्ल- के परिवार मिल कर वह परिवार बनाते थे जिसे मैं 'संयुक्त परिवार' कह रहा हूँ। यही संयुक्त परिवार इन डेढ़ मकानों और डेढ़ आँगनों में रहता था, और जब मैं इसके 'दूसरे टुकड़े' की बात करता हूँ तो मेरा आशय पण्डित शुभनारायण शुक्ल के वंशजों से है। मैं अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान हूँ और पण्डित जयनारायण शुक्ल के वंशजों से बने संयुक्त परिवार के हमारे अपने टुकड़े में इस समय मेरी पीढ़ी में मैं तथा मेरे पितृव्य पण्डित जयदेव शुक्ल के पुत्र देवेन्द्र शुक्ल मौजूद हैं।

आधे आँगन की हिस्सेदारी वाले 'पहला खण्ड' की वह कोठरी जो मेरे पितामह की मानी गयी थी, उनके देहान्त के बाद उनके बड़े पुत्र- मेरे पितृव्य पण्डित जयदेव शुक्ल- की थी किन्तु चूँकि वह गाँव पर न रहकर बस्ती रहते थे, उसमें मेरी माता रहा करती थीं, और उसी में मेरा जन्म हुआ। उस समय अस्पताल और प्रशिक्षित दाइयों का चलन न के बराबर था किन्तु मेरी देर-आयद को दुरुस्त-आयद में बदलने के लिए एक नर्स को बस्ती से बुलवाया गया था जिसे पुत्र-जन्म के उत्साह में मेरे पितृव्यों ने पूरे पचास रुपये दिये थे जो १९४६ के वर्ष और हमारी हैसियत, दोनों के हिसाब से अधिक थे किन्तु शायद इस शुक्र-अदायगी का कारण यह रहा हो कि उस वर्ष एक महामारी आयी थी जिससे होने वाली बड़ी जनहानि में मेरे परिवार के भी कई सदस्य दिवंगत हो गये थे।

बस्ती में हम लोग एक ठाकुर द्वारे में रहते थे जिसे बस्ती राज-परिवार की रानी दिगम्बर कुँवरि ने बनवाया था। ये १८५७ के प्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी बाबू कुँवर सिंह की बहिन थीं किन्तु ये स्वयं अंगरेज़ों के साथ थीं जिसके नाते बस्ती का राज्य विक्टोरिया शासनकाल में कुछ बढ़े आकार के साथ बचा रहा।

उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में अयोध्या के बाद सरयू नदी के उत्तर तरफ़ बसे हुए 'सरयूपारीण' ब्राह्मण यह मानते हैं कि महाराज दशरथ ने (सरयू के उत्तर ओर) जो अश्वमेध यज्ञ करवाया था और जिसके फलस्वरूप भगवान् राम का जन्म हुआ, उसे करवाने वाले सोलह ऋत्विजों के ही वे वंशज हैं। इन ब्राह्मणों के बीच एक 'तीन-तेरह' का उचावच क्रम भी है जिसका आधार यह प्रतीत होता है कि अश्वमेध के ऋत्विजों का यह समूह चार उपसमूहों में बँटा है जिनमें से अथर्ववेदीय चतुष्क केवल निरीक्षक होता है और कर्मकाण्ड यजुर्वेदीय 'अध्वर्यु' की अध्यक्षता में उसके अपने अधीन तीन के अतिरिक्त सामवेदीय 'उद्गाता', और 'होता' से 'तीन' और अन्य से 'तेरह' का प्रवर्तन हुआ। इन सोलह 'गोत्र-प्रवर्तक' ऋषियों में से यजुर्वेदीय गर्ग ऋषि से चले गोत्र के लोग शुक्ल' आस्पद का प्रयोग करते हैं जिसका आधार यह प्रतीत होता है कि इस यज्ञ का कर्मकाण्डीय आधार 'शुक्ल-यजुर्वेद' रहा होगा न कि 'कृष्ण-यजुर्वेद'। इस प्रकार हम लोग इस यज्ञ के अध्वर्यु महर्षि गर्ग के वंशज हैं, 'गर्ग-गोत्रीय' कहलाते हैं, और हमारा शुमार 'तीन' में है।

'पंक्ति-पावन' ब्राह्मणों का उल्लेख अनेक स्मृतियों, पुराणों और महाभारत जैसे ग्रन्थों में है। सम्भवतः अश्वमेध करवाने वाले सभी ऋषि पंक्ति-पावन ही रहे होंगे किन्तु शायद कुछ सौ वर्ष पूर्व यह विरुद उनके वंशजों के एक अन्तर्वैवाहिक (= endogamous) उपवर्ग के पास ही बचा रह गया जो किसी पंक्तिपावनेतर का पकाया अन्न न खाते थे। इसके अतिरिक्त विद्वत्ता आदि में कोई सामाजिक पहचान न बची थी। वैसे भवभूति ने अपने को 'पंक्तिपावन' बताया है किन्तु इस उपवर्ग के पूर्वजों में उनकी गिनती थी या नहीं यह कोई नहीं बता सकता। इनमें से वत्स-गोत्रीय लोग भगवत्पाद से पराजित होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार करने वाले मण्डन मिश्र को अपने पूर्वजों में गिनते हैं।

मेरा परिवार इन्हीं पंक्तिपावन ब्राह्मणों में से हैं। पंक्तिपावन ब्राह्मणों की बिरादरी आकार में बहुत छोटी है और इसका हर आदमी किसी सर्वथा अपरिचित व्यक्ति से उसके गाँव और एक दो पीढ़ी ऊपर के नाम पूछ कर यह बता सकता है कि यह व्यक्ति बिरादरी का है या नहीं। मेरे पितामह पण्डित जयनारायण शुक्ल कोई दस बरस की उम्र में मामूली खेती और गोचारण के भविष्य से बचने और कुछ पढ़ने-लिखने की आशा में गाँव से भाग कर बस्ती चले आये थे और यहाँ एक अन्य पंक्तिपावन पण्डित उदित नारायण मिश्र, जो ज़ाहिर है कि उनसे साक्षात्कार के अभाव में भी पूर्वपरिचित थे, के साथ राजदरबार आने-जाने लगे जिनका राजदरबार में आना-जाना इस नाते था कि उनके पिता पण्डित हरदयाल मिश्र रानी दिगम्बर कुँवरि के मुख्य सहायक थे। उन दिनों रानी दिगम्बर कुँवरि के पौत्र महाराज पाटेश्वरीप्रतापनारायण सिंह बस्ती के राजा थे जिन्होंने मेरे पितामह को पढ़ने के लिए काशी भेजा। संस्कृत व्याकरण की कुछ शिक्षा प्राप्त करके मेरे पितामह बस्ती लौट आये और महाराज का काम-काज देखने लगे। ठाकुरद्वारे में निवास इसी सिलसिले में प्रारम्भ हुआ।

मेरे पितामह की पीढ़ी मेरे जन्म के पहले दिवंगत हो चुकी थी लेकिन ठाकुरद्वारे में हमारा रहना बरक़रार रहा। उस समय की एक स्मृति यह है कि मैं रात को सोते-सोते अचानक जग गया और मुझे साँस लेने तथा बोलने में बहुत कठिनाई होने लगी। पास-पड़ोस में मुसलमान कुँजड़ों की बस्ती थी, वे ही दौड़े आये और एक बूढ़ी महिला ने मेरा मुँह खोल कर कुछ टटोलने के बाद एक उँगली मेरे हलक़ में डाली जिससे थोड़ा खून निकला और मेरी कठिनाइयाँ दूर हो गयीं। कुछ देर बाद मैं ज़िला अस्पताल भी ले जाया गया और मेरे एक पितृव्य अपनी आश्वस्ति के लिए रास्ते भर मुझसे बहुत सारे श्लोक दुहरवाते गये; अस्पताल से मैं 'सब ठीक है' का प्रमाणपत्र लेकर घर लौट आया। बीमारी का नाम मैं आज भी नहीं बता सकता किन्तु मेरे कान में उस समय शायद 'डिप्थीरिया' शब्द पड़ा था। जो भी हो, उस समय तो उस अशिक्षित बालरोग-विशेषज्ञ ने ही मेरी प्राण-रक्षा की।

मेरे पितृव्य पण्डित जयदेव शुक्ल अंगरेज़ी ढंग पर और मेरे पिता पण्डित भूपदेव शुक्ल संस्कृत की पारम्परिक शिक्षा प्राप्त करने काशी भेजे गये थे और संयुक्त परिवार में से मेरे पितामह के बड़े भाई पण्डित शुभनारायण शुक्ल के पुत्र पण्डित सहदेव शुक्ल तथा पण्डित हरदेव शुक्ल ने भी काशी में क्रमशः ज्योतिष और वैद्यक की शिक्षा प्राप्त की। इन दोनों के सगे भतीजे पण्डित ऋषिदेव शुक्ल भी काशी से वेद की शिक्षा प्राप्त करके लौटे। पारिवारिक पुस्तक-संग्रह में इन सब लोगों की कई पुस्तकें अब भी मेरे पास हैं।

जहाँ तक मेरी अपनी स्कूली पढ़ाई की बात है, मेरी पहली स्मृति पढ़ने की नहीं, परीक्षा देने की है। अक्षरज्ञान मुझे कब कराया गया, मुझे स्मरण नहीं है किन्तु घर में कल्याण आदि पत्रिकाएँ तथा कुछ उपन्यास आदि पड़े रहते थे जिनको मैं पढ़ता रहता था। कुछ गिनती-पहाड़ा भी सिखाया ही गया होगा। बहरहाल छह बरस से सात बरस की उम्र के बीच में मैंने बस्ती में ठाकुरद्वारे के पास के प्राइमरी स्कूल में कक्षा चार की

परीक्षा दी और पास होकर पूरे एक साल कक्षा पाँच में पढ़ा। उन दिनों ऐसे नियम नहीं थे जो कक्षा एक में प्रवेश की न्यूनतम उम्र निर्धारित करते हैं।

नाम लिखवाते समय नाम का चुनाव एक पारिवारिक विमर्श के तहत हुआ। नामकरण संस्कार के समय यह बताने के लिए कि मेरा जन्म तुला राशि में हुआ है, मेरा नाम 'राकेश' रखा गया था किन्तु लोकव्यवहार में ये राशिनाम इस्तेमाल में नहीं आते। घर में सब लोग 'कुलकुल' कह कर बुलाते थे जिसका कारण यह रहा होगा कि मैं दूध पीते समय कुछ ऐसी आवाज़ निकालता रहा होऊँगा यद्यपि बाद में मुझे यह जान कर बहुत मज़ा आया कि सुराही से शराब ढालते समय जो आवाज़ होती है उसे फ़ारसी में 'कुलकुल' कहते हैं। यह 'कुलकुल' ही मेरा नाम था और तबतक बना रहा जबतक वे लोग जीवित रहे जो मुझे इस नाम से जानते थे। किन्तु स्कूल के लिए यह नाम ठीक नहीं माना गया और पिता तथा पितृव्यों ने मिल कर 'वागीश' नाम चुना जिसमें मेरी भी सहमति ली गयी। यह नाम दस्तावेज़ों में सिमटा रहा और अब तो सारी पहचानें ही दस्तावेज़ों में सिमटी हैं।

प्राइमरी स्कूल में कक्षा पाँच को पढ़ाने वाले हमारे स्कूल के प्रधानाध्यापक मौलवी हबीबुल्लाह थे। बड़े मनोयोग से पढ़ाते थे जिसमें छड़ी का प्रचुर प्रयोग होता था यद्यपि मुझ तक वह कभी नहीं पहुँची। नाराज़ होने पर कुछ ऐसी बातें भी कहते थे जो आज कदाचरण में शुमार की जायेंगी। उदाहरण के लिए मेरे एक सहपाठी से उन्होंने पूछा कि फ़ीरोज़ाबाद क्यों प्रसिद्ध है। सही जवाब शायद था 'चूड़ियों के कारोबार के लिए' जो वह नहीं दे पाया। मौलवी साहब बोले, 'हाँ, इसलिए कि तुम्हारी अम्मा वहाँ चौराहे पर नाचती हैं'। लेकिन पढ़ाते भी थे। इस वाक्य को समकालीन परिदृश्य में एक महत्वपूर्ण वाक्य मानना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा तक जो मेरे शिक्षक रहे वे विश्रुत विद्वान् नहीं थे किन्तु जिस कार्य के लिए वे नियुक्त थे उसके लिए सक्षम थे और ईमानदारी से उसे पूरा करते थे। आज के शिक्षा-जगत् में ये दोनों गुण दुर्लभ हैं।

प्राथमिक शिक्षा के बाद मैं छठी कक्षा में पढ़ने के लिए श्रीकृष्ण पाण्डेय माध्यमिक विद्यालय में भर्ती हुआ। इसमें अब बारहवीं तक की पढ़ाई होने लगी है किन्तु तब यह केवल दसवीं तक था। इसमें मेरे पिता संस्कृत के अध्यापक थे और उस हैसियत से मैं उनका छात्र भी रहा हूँ। निजी तौर पर उन्होंने मुझे स्थानीय संस्कृत पाठशाला में भी भेजा था जहाँ एक दिन सरस्वती-पूजन के बाद मैं लघुसिद्धान्तकौमुदी के कुछ सूत्र और उनकी वृत्ति रट कर आ गया। इस एकदिवसीय विद्यालय-गमन का कारण मेरी संस्कृत से विरक्ति नहीं थी अपितु एक संस्कृत विद्वान् के रूप में मेरे पिता के कटु अनुभव थे। वे अपने छात्र-जीवन में काशी के होनहार विद्यार्थी गिने जाते थे और मैं अपनी बनारस यात्राओं में जब भी उनके सहपाठियों से मिला, वे उनका बहुत सम्मान के साथ उल्लेख करते थे। इन सहपाठियों में पण्डित बदरीनाथ शुक्ल जैसों के नाम शामिल हैं जिन्होंने अपने जीवन भर मुझे मेरे पिता के नाते ही पितृवत् स्नेह दिया। किन्तु ससम्मान प्रथम श्रेणी में आचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण करके मेरे पिता जब घर लौटे तो जीविका का कोई ठिकाना न था। अन्ततः इसी विद्यालय ने, जो एक स्थानीय ज़मींदार श्रीकृष्ण पाण्डेय ने बस्ती में नया-नया खोला था, उन्हें

संस्कृत अध्यापक के तौर पर नौकरी दी। विद्यालय एक व्यक्ति के वित्त-पोषण से चलता था अतः उसकी आर्थिक स्थिति कमज़ोर थी और मेरे पिता ने, जो पढ़ते समय पाँच रुपये मासिक की छात्र-वृत्ति पाते थे, प्रथम मासिक वेतन के रूप में चार रुपये पाये। बाद में मेरा भी कुछ ऐसा ही अनुभव रहा क्योंकि मैं बम्बई के टाटा इन्स्टीच्यूट ऑफ़ फ़ण्डामेण्टल रिसर्च में सीनियर विज़िटिंग मेम्बर के तौर पर छह सौ पचास रुपये मासिक पाता था और आई आई टी दिल्ली में अध्यापक के रूप में मेरा पहला वेतन एक वेतन-वृद्धि के एहसान के साथ पाँच सौ रुपये मासिक था।

बहरहाल, बात पढ़ाई की चल रही थी। सातवीं कक्षा में पहुँचने तक ठाकुरद्वारे का निवास छूट चुका था और हम लोग बीच बाज़ार में स्थित अपनी दुकान में रहने आ गये थे। इस निवास-परिवर्तन का कारण कोई वैमनस्य नहीं था अपितु यह था कि ठाकुरद्वारा मरम्मत के अभाव में रहने लायक नहीं रह गया था।

'दुकान' का क़िस्सा यह है कि मेरे पितृव्य पण्डित जयदेव शुक्ल कुछ अपनी अंगरेज़ी पढ़ाई के भरोसे और कुछ तत्कालीन महाराज ज्वालेश्वरीप्रतापनारायण सिंह से अपनी निकटता के नाते द्वितीय महायुद्ध के समय अंगरेज़ी सरकार द्वारा एक नागरिक पद पर नियुक्त हुए जिसका काम जनता को यह सिखाना था कि हवाई हमला होने पर बचाव कैसे करना चाहिए। मेरे बचपन में इस विषय पर भी शासन द्वारा वितरित की जाने वाली कुछ किताबें पड़ी हुई थीं जिन्हें मैंने पूरे मनोयोग से पढ़ा था। महायुद्ध समाप्त होने के बाद पुरस्कार-स्वरूप उन्हें एक मकान अलाट हुआ जिसमें कपड़े की एक दुकान खोली गयी जो यों तो उनके नाम थी किन्तु जिसका संचालन संयुक्त परिवार के दूसरे टुकड़े के हाथों में था।

जब हम लोग इस दुकान में रहने के लिए गये तब यह दुकान बन्द होने के कगार पर थी, यद्यपि उस समय तक कुछ कपड़ों का स्टाक वहाँ था और भूले-भटके कोई ग्राहक भी आ जाता था। हम लोग नीचे की मंज़िल को दुकान के लिए छोड़ कर ऊपर की मंज़िल में रहने लगे। शीघ्र ही यह दुकान टूट गयी और इसी के आसपास एक दूसरी दुकान भी जो होज़री की थी और जिसे कुछ अधिक कमाई की उम्मीद में खोला गया था। इसी के साथ हमारे परिवार की व्यापारिक महत्त्वाकांक्षाएँ समाप्त हो गयीं यद्यपि मेरे जो बड़े भाई इसे देखते थे वे न केवल इसके बल पर जीवन भर 'दुकनिया के बाबू' कहलाते रहे, अपितु इस अनुभव के भरोसे दो दुकानें उन्होंने बाद में भी खोलीं जो इसी तरह टूटीं। अस्तु, अब संयुक्त परिवार का दूसरा टुकड़ा गाँव पर रहने की घोषणा करके बस्ती छोड़ गया।

इस घोषणा का अर्थ यह था कि अब से बस्ती रहने का ख़र्च मेरे पिता के अल्प वेतन से ही निकलना था। मेरे पितृव्य पण्डित जयदेव शुक्ल वीतराग थे और ठाकुरद्वारे की एक बची हुई कोठरी में रहते चले आये किन्तु वहाँ भोजन की सुविधा न बची थी। गाँव पर रहने वाले लोगों में से भी कुछ लोग घूमफिर कर राजदरबार में हाज़िरी के बहाने यहीं रहते थे यद्यपि ज़मींदारी टूटने के बाद वहाँ ऐसा कुछ काम न बचा था जिसे वे सँभालते। परिवार के बच्चों की पढ़ाई भी बस्ती में ही होती थी। गाँव की खेती से एक दाना भी

आ न पाता था क्योंकि उपज बहुत कम थी और वहीं पूरा न पड़ता था। इन सब कारणों से आर्थिक कठिनाई का वातावरण सर्वदा वर्तमान रहता था और यद्यपि हम लोग दरिद्र नहीं थे, उस मध्य वर्ग में भी नहीं थे जो उदारीकरण के बाद भारत में उभरा है। कुछ 'अतिनिम्न मध्यवर्ग' जैसा वर्गनाम शायद समाजशास्त्री दे सकें। हम सब लोग ऊपरी मंज़िल में रहते थे और यद्यपि नीचे की मंज़िल में बिजली का पंखा ग्राहकों की सुविधा के लिए पहले से लगा हुआ था, उसका उपयोग निषिद्ध था ताकि बिजली का बिल अधिक न देना पड़े।

दुकान में रिहाइश के दौरान मेरी पढ़ाई में दो चीज़ें और जुड़ीं। पहली में कुछ पत्रिकाओं का नाम शामिल है जो शायद मेरे एक बड़े भाई जतन से छिपा कर रखते थे और जिनके नाते मेरा 'अण्डरग्राउण्ड लिटरेचर' से प्रथम परिचय हुआ। दूसरी में ढेर सारा उत्कृष्ट हिन्दी साहित्य शामिल है जिसकी घर में आवक का कारण यह था कि मेरे पिता भले ही व्यवहारतः नवीं-दसवीं के छात्रों को भी संस्कृत पढ़ा रहे थे, उनकी जाज्ज्वल्यमान आचार्य की डिगरी उत्तर प्रदेश शासन के एक आदेश के अनुसार उन्हें इसके लिए योग्य न बनाती थी और उनके पास एम.ए. की डिगरी होनी चाहिए थी। अतः अगले वेतनमान, एल.टी. ग्रेड, में पहुँचने की अर्हता पाने के लिए उन्होंने व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में सरकारी चाहत वाली यह डिगरी हासिल करनी चाही और विषय के रूप में हिन्दी का चुनाव किया। बाद में किसी अफ़सरी क़वायद में यह आदेश निरस्त हो गया और मेरे पिता को एम.ए. न करना पड़ा किन्तु इस बहाने घर में एम.ए. हिन्दी के लिए सारा साहित्य, जिसमें पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त भी बहुत सी उत्कृष्ट सामग्री थी, आ गया।

हर कोई जानता है कि संस्कृत में आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए जितनी योग्यता चाहिए उससे दशमांश से भी कम में संस्कृत में एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की जा सकती है। किन्तु फिर भी भारत के स्वतन्त्र होने के बाद लगातार संस्कृत की शास्त्रीय शिक्षा का अपमान क्यों होता रहा है, इसकी चर्चा में न उलझ कर मैं आपके सवाल की ओर मुड़ता हूँ यद्यपि मेरे 'परिवेश' का यह एक ज़रूरी हिस्सा है।

मैं आठवीं कक्षा में था जब मेरे विज्ञान-शिक्षक मुझे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा में बुलाने लगे जिसका वे ही संचालन करते थे। कुछ दिन बाद मैंने वहाँ जाना बन्द कर दिया जिसका कारण शायद व्यायाम-मूलक खेलों के प्रति मेरी अरुचि रही होगी किन्तु उनका स्नेह यथावत् रहा। वे बेहद मृदुभाषी और बहुत अच्छे शिक्षक थे।

इस बीच मकान मालिक की ओर से इस रिहाइश को छोड़ने का दबाव बढ़ने लगा और हम लोग एक परिचित के खाली पड़े मकान के एक हिस्से में बतौर किरायेदार आ गये। यह मकान 'पठान टोला' में पड़ता था और हम लोगों के पास दो बड़ी तथा एक छोटी, ये तीन कोठरियाँ थीं जिनमें से निचली मंज़िल की बड़ी कोठरी रसोई के काम आती थी। शौचालय न था जिसे मेरे पिता ने पहुँच कर जगह के अभाव में दरवाज़े के बाहर बनवाया और दरवाज़े में घुसते ही जो थोड़ी सी खुली जगह थी उसमें हैण्ड पाइप लगवा कर जल की

व्यवस्था की गयी- यही हमारा स्नानगृह भी था। किराया दस रुपये महीना था जो शायद रियायती ही रहा होगा किन्तु इससे अधिक दे पाने की स्थिति भी मेरे पिता की न थी। इस समय मैं नवीं कक्षा में आ गया था और हमारा विद्यालय भी, जो अब तक एक किराये के मकान में चलता था, अपने नये भवन में पहुँच गया।

'नया भवन' कहने से जो आशय है, उसे कुछ स्पष्ट करना आवश्यक है। हर शहर की तरह हमारे शहर में भी अंगरेज़ों ने प्रशासकीय रिहाइश पुरानी बसावट से दूर रखी थी। यह इलाक़ा अब तकनीकी तौर पर गाँधीनगर कहलाता है किन्तु इसका प्रचलित नाम अभी भी 'पक्के' ही है क्योंकि पूरे शहर में केवल वहीं की सड़क पक्की थी। पुरानी बसावट, जिसमें हम तब रहते थे, आज भी 'पुरानी बस्ती' के नाम से जानी जाती है और उसका आख़िरी छोर 'दक्खिन दरवाज़ा' कहलाता है क्योंकि हमेशा से नामौजूद शहरपनाह का दक्खिनी सिरा यही था। पक्के और दक्खिन दरवाज़े के बीच एक सड़क है जिसके दोनों तरफ़ उस समय सिर्फ़ खेत थे। उन्हीं खेतों में कुछ ज़मीन ली गयी थी जिसमें एक निर्माणाधीन इमारत में हमारा स्कूल पहुँचा। खेल के घण्टों में हम सब विद्यार्थी श्रमदान कार्यक्रम के तहत ईंटें ढोते थे और विद्यालय बनता जाता था। अपने श्रम से बनाये विद्यालय में पढ़ने का गर्व मुझमें अभी भी वर्तमान है यद्यपि आज शायद इसे बाल-श्रम का क़ानूनी जामा पहनाया जाय।

नवीं में पहुँचने के साथ ही मुझे चश्मा लगा। हुआ यों कि किसी यात्रा के दौरान गोरखपुर रेलवे स्टेशन पर मेरे पिता ने मुझसे प्लेटफ़ार्म पर लगी घड़ी देख कर समय बताने को कहा जो कुछ दूरी पर रहने के कारण मैं न बता पाया। उतनी बड़ी घड़ी से समय न बता पाना निश्चय ही दृष्टिदोष का सूचक था और यह आशंका जाँच में सही निकली। बाद में मुझे पिता जी ने बताया कि उनका भी चश्मा कुछ इसी प्रकार से लगा था। स्पष्टतः यों कि एक बार अपने सामने एक बुजुर्ग को देख कर न पहचानते हुए भी उन्होंने प्रणाम किया। ये बुजुर्ग महाराज पाटेश्वरीप्रतापनारायण सिंह थे। एक ब्राह्मण बालक द्वारा प्रणाम किये जाने पर एक धर्मभीरु क्षत्रिय का आश्चर्य और ग्लानि स्वाभाविक थे और महाराज ने तुरन्त उनकी आँखों की जाँच करवा कर चश्मा बनवा दिया।

नवीं कक्षा में उन दिनों कला, विज्ञान, वाणिज्य, आदि 'धाराओं' में से किसी एक का चुनाव करना पड़ता था जो भविष्य की आपकी शिक्षा का स्वरूप तय करता था। मेरे विद्यालय में कला के अतिरिक्त किसी धारा में तैरने की सुविधा नहीं थी किन्तु मेरे पिता ने 'साइंस' के दबदबे के बावजूद मुझे किसी और विद्यालय में भेजना नहीं चाहा जिसका कारण शायद यह रहा हो कि मैं कुल ग्यारह बरस का था और वे अपनी निगरानी के बाहर मुझे नहीं भेजना चाहते थे। जो भी हो, मैंने अर्थ-शास्त्र, नागरिक-शास्त्र और संस्कृत के वैकल्पिक विषयों के साथ दाख़िला लिया। अनिवार्य विषय गणित से भी बचने का रास्ता शायद था, किन्तु उसे पढ़ने की सुविधा थी, अतः वह बना रहा।

नवीं में पढ़ते हुए ही मैंने अपनी पहली कविता लिखी जिसकी प्रथम पंक्ति थीः 'पर्यंक-त्याग क्यों ओ बोले'। आगे की पंक्तियाँ मुझे याद नहीं हैं। मेरे ख़याल में छन्द या भाषा की दृष्टि से इस कविता में कोई त्रुटि नहीं थी किन्तु मैंने उसे न तो लिपिबद्ध किया न किसी वरिष्ठ साहित्य-प्रेमी को सुनाया, और वह मेरे कुछ सहपाठियों के ही बीच पढ़ी-सराही गयी। शायद कुछ और कविताएँ भी इसी भावभूमि पर रची गयी होंगी। इसी समय में जेब में इलायची-लोंग रखने लगा था जिसकी बहुत दिनों बाद परिणति तम्बाकू का पान खाने में हुई- यह आदत एकाध बार छूटने के बावुजूद आज तक क़ायम है।

पण्डित उदित नारायण मिश्र का नाम ऊपर आ चुका है। उनके परिवार से हमारे परिवार की निकटता अभी भी वर्तमान है। इन मिश्र जी के पुत्र पण्डित बलराम प्रसाद मिश्र, 'द्विजेश' नाम से ब्रजभाषा में और 'जैश' नाम से उर्दू में कविता करते थे। मेरी समझ में वे रीतिकाल के अन्तिम महत्वपूर्ण कवियों में से थे और मैंने उस हैसियत से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की जन्म-शती पर भारत भवन द्वारा किये गये आयोजन में रीतिकाल पर बोलते हुए उनकी कविताओं को उद्धृत भी किया है। वे अच्छे सितार-वादक भी थे और महदी हसन समेत कई संगीत-कर्मियों के कैरियर में उनकी भूमिका रही है। मैंने नवीं-दसवीं में उन्हें शय्या-सीमित लाचार हालत में देखा है और मैं दसवीं में था जब उनका काशी-लाभ हुआ। 'द्विजेश' जी के पुत्र पण्डित प्रेमशंकर मिश्र, जिन्हें मैं 'चाचा जी' कहता था, भी अच्छे कवि थे तथा बस्ती और फिर अयोध्या, के साहित्य-समाज में संरक्षक की भूमिका उनकी बनी रही। वे मेरे इन्हीं स्कूली दिनों से मेरा उत्साह-वर्धन करने लगे थे और अपनी साहित्यिक बैठकों में ताउम्र बुलाते रहे। ये मेरे पितृव्य पण्डित जयदेव शुक्ल के घनिष्ठ मिश्र थे।

दसवीं की परीक्षा मैंने प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी जो हमारे 'पिछड़े हुए' विद्यालय के लिए गौरव की बात मानी गयी। परीक्षा-परिणाम आने के बाद शहर में इसका कुछ चर्चा था और शायद मैंने भी इसी सुर में कहीं कुछ कह दिया जिसके लिए मेरे पिता जी ने मुझे बहुत डाँटा। स्कूल में एक पुस्तकालय भी था जिसकी अनेक पुस्तकों के साथ मैंने अलेक्ज़ेंण्डर ड्यूमा के The Three Musketeers का हिन्दी अनुवाद तीन तिलंगे भी पढ़ा। इसका पता चलने पर मेरे एक शिक्षक ने इस उपन्यास पर मेरी प्रतिक्रिया जाननी चाही जिसका उत्तर समीक्षक के रूप में मेरे कैरियर की शुरुआत कहा जा सकता है।

इसी कक्षा में मैंने वाद-विवाद और निबन्ध-लेखन जैसी प्रतियोगिताओं में कई पुरस्कार प्राप्त किये जिनमें विजेता को एक शब्दकोष देने का प्रचलन था किन्तु अनेक डिक्शनरियाँ देना बेतुका समझ कर पुरस्कार-हेतु पुस्तकों का चुनाव मेरे पिता पर छोड़ दिया गया जिन्होंने कई अन्य पुस्तकों के साथ हिन्दी अनुवाद-सहित काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण का भी चुनाव किया। पन्त जी की ग्राम्या भी मुझे इसी सिलसिले में मिली थी। इस समय प्राप्त शब्दकोष भी मेरे पास बहुत दिन तक रहे और मैंने इनसे बहुत काम लिया।

मैंने ऊपर अपने पिता के बारे में बताया है कि वे आठवीं कक्षा तक के छात्रों को पढ़ाने के वेतन-मान में दसवीं कक्षा तक के विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाते थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि उनकी शास्त्र-पिपासा शान्त हो गयी थी। वे ग़मेरोज़गार से थोड़ी भी फ़ुरसत पाने पर अपने छात्र-जीवन में एकत्र की गयी पुस्तकों को अकेले में चुपचाप पढ़ा करते थे। इनमें व्याकरण, न्याय, अद्वैत वेदान्त आदि के प्रायः सभी आकर-ग्रन्थ थे और मैंने बाद में पाया कि उनमें से अनेक का मूल्य उनकी मासिक छात्रवृत्ति के बराबर तक जा पहुँचता था। आज मैं कोई छात्र नहीं बता सकता जो अपनी छात्र-वृत्ति का एक मामूली-सा भी हिस्सा पुस्तकों पर ख़र्च करता हो। बहरहाल, कहना यह है कि मेरे दसवीं पास करने के बाद गरमी की छुट्टियों में पहली बार उन्होंने मुझे कुछ ऐसा पढ़ाने की सोची जो वे मुझे पढ़ाना चाहते थे।

काशी के पण्डितों में अध्ययन का एक अलिखित वरीयता-क्रम था। प्रथम कोटि का छात्र व्याकरण पढ़ता था, द्वितीय कोटि का न्याय, फिर मीमांसा आदि आते थे, और बहुत बाद में कहीं साहित्य आता था; वेद सबसे अन्त में थे और मात्र जीविका-निर्वाह के लिए रटाये जाते थे। इस हिसाब से मेरे पिता प्रथम कोटि में थे किन्तु कुछ सोच कर उन्होंने पहले मुझे न्याय पढ़ाना शुरू किया। मैंने कुछ ध्यान न दिया और कोई दो सप्ताह बाद उन्होंने निराश होकर मुझे साहित्य पढ़ने के लिए कहा जिसके लिए ये ही काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण मुझे सौंपे गये चूँकि ये हिन्दी अनुवाद सहित थे। मैंने शास्त्र-विवेचन पर तो कोई ध्यान नहीं दिया किन्तु दोनों ग्रन्थों में शृंगार-रस के जो भी उदाहरण थे वे मैंने याद कर लिए। मैंने क्या पढ़ा इसका कोई इम्तिहान मेरे पिता ने न लिया किन्तु साहित्य के अध्ययन में उपयोगी मान कर मुझे उन्होंने छन्दःशास्त्र का एक प्रारम्भिक ग्रन्थ श्रुतबोध अलग से रटा दिया था जो कालिदास का लिखा है किन्तु जैसा कि मुझे बहुत बाद में पता चला, वह मूल ग्रन्थ का 'अश्लीलांश-विवर्जित' संस्करण था। थोड़ा बड़े होने पर जब मैंने पिता जी का पुस्तकालय खँगालना शुरू किया तो संस्कृत काव्यों और नाटकों के भी सभी आकर-ग्रन्थ मुझे उसी में मिले और मेरा यह भ्रम दूर हो गया कि उन्हें साहित्य में रुचि नहीं थी। किन्तु यद्यपि मेरे पास सभी शास्त्रों के आकर-ग्रन्थ मौजूद थे, शास्त्र गुरु के बिना नहीं पढ़े जा सकते और मैकाले की नाव में चढ़ने के बाद उसे किसी गुरु तक खे ले जाने का दम मुझमें नहीं रहा। मुझे इस बात का बेहद मलाल है कि मैं घर में ही गुरु की उपस्थिति से कोई लाभ नहीं उठा सका और विधिवत् शास्त्राध्ययन से महरूम रहा किन्तु मैं अपनी अक्षमता के आगे विवश था।

इन गर्मियों में ही मेरा जनेऊ हुआ। यह वेदारम्भ से समावर्तन तक के चार संस्कारों का एकांकी अभिनय था जिसमें एक विद्यार्थी के रूप में मुझे भिक्षाटन भी करना था। परम्परा के अनुसार पहली भीख मेरी मात ने दी, फिर एकत्र स्त्रियों ने और तब उपस्थित जनसमाज ने। अन्त में एक प्रहसन शामिल था, जिसमें मुझे उच्चतर विद्याध्ययन हेतु काशी भाग जाने की ज़िद करनी थी और यह कह कर मुझे मनाया जाना था कि मेरा विवाह शीघ्र करा दिया जायेगा। यह सम्भवतः नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का हठ करने वाले बालक को गार्हस्थ्य की ओर उन्मुख करने का लौकिक प्रारूप होगा। अस्तु, गायत्री मन्त्र का उपदेश प्राप्त करने के

बाद अब मैं द्विज हो गया था, जिसका व्यावहारिक अर्थ यह था कि मैं अब रसोई में घुसने का अधिकारी था और मेरा छुआ अन्न अन्य पंक्तिपावन ब्राह्मण ग्रहण कर सकते थे जिसके प्रमाण के रूप में मुझे उपस्थित सम्बन्धियों में से पाँच लोगों को भोजन परोसना था। इसी के साथ मेरा स्वयं का किसी पंक्तिपावन चौके से बाहर का अन्न खाना वर्जित हो गया था।

हमारा स्कूल दसवीं के आगे था ही नहीं और अब मुझे किसी दूसरे स्कूल में भेजना अनिवार्य हो गया। ज़िले का इकलौता सरकारी स्कूल भी उच्चतर माध्यमिक स्तर की शिक्षा देता था किन्तु उसमें कला के विद्यार्थियों को गणित पढ़ने की सुविधा शायद न थी और मेरे पिता मुझे गणित पढ़ाना चाहते थे अतः इसके लिए ख़ैर कॉलेज का चुनाव किया गया, जो उन दिनों पढ़ाई के मामले में बस्ती का सबसे प्रतिष्ठित विद्यालय था। इसके संस्थापक अब्दुल ख़ैर नामक एक बड़े ज़मींदार थे। इसकी ख्याति का मुख्य आधार इसके प्रधानाचार्य मक़बूल (अहमद) साहब थे जिनकी ज़िले भर में मशहूर बेंत से मैं हमेशा बचा रहा और जिनका अपरिमित स्नेह मुझे तब तक प्राप्त रहा जब तक वे जिये। यद्यपि बारहवीं तक पहुँचते-पहुँचते मुझमें कुछ उद्दण्डता आ गयी थी और मैं कुछ कक्षाओं से हाज़िरी के बाद उठकर सड़क पर घूमने निकल जाता था, मेरे अध्यापकों ने मुझे कोई दण्ड न दिया और प्रिन्सिपल साहब के कानों तक भी यह बात न पहुँची।

यहाँ मैंने हिन्दी और अंगरेज़ी के अनिवार्य विषयों के साथ गणित, संस्कृत और इतिहास विषयों का चुनाव किया। अंगरेज़ी की पढ़ाई कुछ रुकावटों के साथ शुरू हुई। हुआ यों कि हमारे अध्यापक अनवारुल हक़ साहब ने शेली की A Lament कविता को प्रथम पाठ के रूप में पढ़ाना शुरू किया यद्यपि पाठ्य-पुस्तक के हिसाब से उसे कहीं बारहवें दरजे में जाकर पढ़ना था और उसमें तल्लीन होकर बहुत समय बिता दिया जिसके बाद वे जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली में अध्यापक होकर चले गये और फिर हमारे सेक्शन को अंगरेज़ी पढ़ाने वाला कोई न था। फिर कोई महीने भर बाद इफ़्तिख़ार अहमद साहब आये जिन्होंने भी अपनी कोई प्रिय कविता लेकर कुछ समय बिताया और ये भी किसी अन्य पद पर नियुक्त होकर चले गये। इसके बाद जो अंगरेज़ी के अध्यापक आये उनका नाम इस समय याद नहीं है किन्तु उन्होंने पाठ्य पुस्तक को नियमित क्रम से शुरू और ख़त्म किया। एक छात्र के रूप में शायद मुझे पहले दोनों अध्यापकों से पढ़ने में ज़ियादा मज़ा आया था।

ख़ैर कालेज का वातावरण कुछ भिन्न था। परिसर में एक मस्जिद थी और शुक्रवार का मध्यावकाश डेढ़ घण्टे का होता था। बहुत से सहपाठी उर्दू-भाषी थे। उर्दू साहित्य में मेरी रुचि का बीज कुछ पहले से वर्तमान था, जो यहाँ अंकुरित हुआ यद्यपि उसको सही ढंग से पढ़ने की क्षमता मुझमें बहुत बाद में आयी जब मैंने लिपि सीखी।

इस समय मेरी चोटी बहुत लम्बी थी और मेरे एक सहपाठी फ़ज़्लुल हक़ मुझे देखते ही 'मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी' पढ़ना शुरू कर देते थे। इस तरह की कुछ और छेड़खानियाँ भी होती थीं किन्तु इन सबसे

किसी कटुता की उपज नहीं हुई और तब से अब तक मुझे यह हँसी-खेल ही लगा। सिर्फ़ एक बार की खटक मुझे याद है जब शायद १९६० में पहली बार हाकी में भारत को पाकिस्तान ने पराजित किया और मैंने कुछ चेहरों पर सन्तुष्टि का भाव देखा।

दसवीं के परीक्षा-परिणाम के चलते किसी सरकारी योजना के तहत मुझे सोलह रुपये मासिक की एक छात्रवृत्ति मिली थी, जो घरेलू बजट में एक गण्य योगदान की हैसियत से शामिल हुई। घर से यह विद्यालय दूर था और शुरुआत में मुझे पचीस पैसे रिक्शा किराये के मिलते थे किन्तु यह शीघ्र ही भारी बोझ साबित हुआ और मैं पैदल आने-जाने लगा। कुछ देर से घर लौटने के बावजूद घर पहुँचते ही पढ़ाई शुरू करनी पड़ती थी, विशेषतः इसलिए कि गणित के सवाल हल करने होते थे और कुंजियों का उपयोग तब 'अण्डरग्राउण्ड' हुआ करता था जिस तक कुछ कामचोर विद्यार्थी ही पहुँचने की कोशिश करते थे। घर पर पढ़ाई का यह तरीक़ा था कि दो चटाइयाँ आमने सामने ज़मीन पर बिछती थीं और बीच में एक ईंट के ऊपर एक लालटेन रखी जाती थी। गाँव की तरफ़ से भी कुछ विद्यार्थी मेरे ही यहाँ रहकर पढ़ते थे और अलग-अलग कक्षाओं तथा स्कूलों के हम छह विद्यार्थी एक साथ अपनी किताबों-कापियों से जूझते थे। कक्षा की दृष्टि से इस घरेलू विद्यालय में मैं वरिष्ठ था और पढ़ाई के समय गुरु की भूमिका में होता था किन्तु रात को सोते समय यह भूमिका उलट जाती थी क्योंकि इनमें से कुछ विवाहित थे और दाम्पत्य में अर्जित वह ज्ञान बाँटने में समर्थ थे, जो मेरे पास न था।

शायद यह समझाने की ज़रूरत पड़ेगी कि ये लोग कैसे मेरे यहाँ रहकर पढ़ते थे। उन दिनों लोग अपने बच्चों को परिचितों के अभिभावकत्व में छोड़ देने का अधिकार भी रखते थे और भरोसा भी। छात्रावास जैसी चीज़ें हमारे शहर में न थीं, न ऐसे अभिभावक-रहित वातावरण में किसी को यक़ीन ही था। मेरे पिता को सभी अपने से अच्छा अभिभावक मानते थे और हमारे घर में चटाई पर लुढ़का रहना अपने बच्चों के लिए बिस्तर पर लेटने से अधिक हितकर मानते थे। कोई न कोई बराबर अपने बेटे को हमारे यहाँ पढ़ने के लिए छोड़े रहता। इनमें बड़े ज़मींदारों से लेकर छोटे किसानों तक के लड़के शामिल थे और साथ ही रहते थे। जो जीवित बचे हैं, वे आज भी मेरी माता से प्राप्त भोजन और स्नेह को कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करते हैं। जहाँ तक विवाहित होने की बात है, लड़कों की शादी प्रायः सत्रह-अठारह की उम्र तक कर दी जाती थी और प्रायः सभी दूल्हे विद्यार्थी ही होते थे।

हमारे क़स्बे में नगरपालिका द्वारा स्थापित एक वाचनालय था, जिसमें रोज़ शाम को मैं जाकर दैनिक समाचार पत्र और पत्रिकाएँ पढ़ा करता था। धर्मयुग में उन्हीं दिनों बच्चन जी की 'लाडो बाँस की बनाऊँ बँसिया कि लठिया' से शुरू होने वाली कविता छपी थी, जिसका मैंने बारहवीं की परीक्षा देते समय हिन्दी के परचे में हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर निबन्ध लिखने में उपयोग किया था। जिस संस्कृत विद्यालय में मैं एक दिवसीय अध्ययन कर चुका था, उसमें भी एक पुस्तकालय था जिसका सदस्य न होने के नाते मैं उसे वाचनालय की तरह इस्तेमाल करता था। देवकीनन्दन खत्री के सारे उपन्यास मैंने वहीं पढ़े। इधर मेरी

अंगरेज़ी अच्छी करने के चक्कर में मेरे पिता ने 'ब्लिट्ज़' नामक साप्ताहिक मेरे लिए मँगवाना शुरू किया जिसका दाम तब पचीस पैसे हुआ करता था। अंगरेज़ी की योग्यता में जो भी परिवर्तन आया हो, इस साप्ताहिक की गुलाबी प्रगतिशीलता मुझमें गदहपचीसी तक हावी रही। जिनका परिचय इस 'गदहपचीसी' शब्द से नहीं है, उनकी जानकारी के लिए बता दूँ कि यह मनुष्य-जीवन के प्रारम्भिक पचीस वर्षों के काल-खण्ड का नाम है जिसमें मनुष्य अपने को सर्वज्ञ और शेष सभी को मूर्ख मानता हुआ बिना किसी की परवाह किये गधे की तरह रेंकता हुआ सबको बताता रहता है कि दुनिया को कैसे चलाना चाहिए और जिसके बीतने के बाद दुनिया उसे चलाने लगती है। कुछ लोग उम्र बीतने के बाद भी इस मनःस्थिति से नहीं उबर पाते और पर-उपदेश करते ही रह जाते हैं- इन्हें अंगरेज़ी में 'पब्लिक इण्टेलेक्चुअल' कहा जाता है।

बारहवीं की परीक्षा देते समय एक विचित्र समस्या से सामना करना पड़ा। हम लोगों की गणित शिक्षा का माध्यम हिन्दी था, जिसका तात्पर्य यह था कि पुस्तक में 'साइन' की जगह 'ज्या' और 'कोसाइन' की जगह 'कोज्या' आदि लिखा होता था। अध्यापक बोलते हिन्दी में थे किन्तु तकनीकी अंश अंगरेज़ी में लिखते थे। परीक्षा में जो परचा आया, वह था तो एक ही किन्तु विकल्प के आधार पर अंगरेज़ी और हिन्दी दोनों में था। विकल्प की बाध्यता के चलते मैंने उत्तर हिन्दी में लिखने शुरू किये किन्तु जब भी अभ्यासवश sine लिखूँ, काट कर 'ज्या' लिखना पड़े। आधे घण्टे से ऊपर बीत गया, और मैं इस लिखने-काटने में ही फँसा रहा। अन्त में घबड़ा कर मैंने सब काट-कूट कर पूरी तरह अंगरेज़ी में ही परचा हल करना शुरू किया और ईश्वर-कृपा से बचे समय में भी पूरा परचा हल कर पाया। क़स्बाई साँसों को महानगरीय हवा में झोंकने का यह दुस्साहस परीक्षा परिणाम आने तक मेरी रातों की नींद हराम करता रहा क्योंकि मुझे भय था कि मेरी अंगरेज़ी कमज़ोर साबित होगी और मेरे नम्बर कट जायेंगे।

परीक्षा के बाद की गर्मियों में मेरी एक बहिन का विवाह हुआ। हमारी बिरादरी में उस समय तक दहेज़ का प्रचलन नहीं था किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बेटी की शादी में कुछ ख़र्च ही नहीं होता था। इस विवाह के वित्तपोषण की जिन लोगों ने प्रतिज्ञा की थी, वे सब विवाह के पाँच दिन पूर्व रिक्तपाणि कलहरत दिखे और लम्बी गर्मागर्म बहस का कोई परिणाम न निकलता देख कर मेरे पिता ने यह ज़िम्मा उठा लिया। इसे पूरा करने के लिए वे अब तक की नौकरी में बचाये सत्रह सौ रुपये डाकख़ाने से निकाल लाये तथा प्रायः हर परिचित से सौ दो सौ रुपयों का उधार इकट्ठा किया, जिसे चुकाने में कई बरस लगे। विवाह सकुशल सम्पन्न हुआ किन्तु पहली बार मैंने संयुक्त परिवार में आ चुकी असंयुक्तता का प्रत्यक्ष और दुस्सह अनुभव किया।

इस सारी स्कूली पढ़ाई के दौरान गर्मियों की छुट्टियाँ अधिकतर गाँव में बीतती थीं, कभी वह मेरा अपना गाँव होता था, कभी मेरे ननिहाल का गाँव बेलवा (तिवारी), जो गोरखपुर (अब नये बन गये ज़िले महराजगंज) में है। ननिहाल से जब भी लौटता, मेरी बोली का पुरबिहापन और चटक रहता जिसके लिए मेरे बड़े भाई लोग मुझे चिढ़ाते। भैंस को उसकी पीठ पर बैठे हुए चराना जैसे मज़े मैंने अपने ममेरे भाइयों के

साथ ही किये हैं। घुघली स्टेशन पर ट्रेन रात को पहुँचती थी और हम सब प्लेटफ़ार्म पर चादर बिछाये हुए मामा द्वारा भेजे गये 'टायर' की प्रतीक्षा करते थे, जो पौ फटने के पहले हमें गाँव तक पहुँचा देती थी। 'टायर' एक बैलगाड़ी होती थी, जिसमें पहिये पुराने टायरों के होते थे। यह हमारी तरफ़ की लकड़ी के बने पहियों वाली बैलगाड़ियों से अधिक चौड़ी और सुविधाजनक होती थी। कभी-कभार गाड़ीवान की बग़ल में बैठकर मैं गाड़ी हाँकने की डींग मारने में भी समर्थ होता था। अपने गाँव पर कभी-कभार हेंगे पर खड़ा होकर खेत की मिट्टी बराबर करने और 'दौरी चलाने', अर्थात् बाँस की बड़ी टोकरी में बँधी रस्सी पकड़ कर दूसरी ओर की रस्सी पकड़े हुए बच्चे के सहयोग से तालाब से पानी उलीच कर खेत सींचने, के अतिरिक्त कोई कृषिकार्य नहीं किया। दोनों जगह अधिकतर समय भाभियों के बीच चुहलबाज़ी में बीतता था।

परीक्षा-परिणाम आशानुरूप अच्छा ही आया और मेरे पिता ने अब मुझे विश्वविद्यालयीय पढ़ाई के लिए प्रयाग भेजने का निश्चय किया। बचपन और स्कूल, दोनों ही पीछे छूट चुके थे।

उदयन : आप बचपन के अपने मित्रों के बारे में कुछ बताइये। आप बचपन के उन दिनों में पढ़ने के अलावा और क्या-क्या किया करते थे, मेरा मतलब है कि क्या आप कोई ऐसा खेल भी खेलते थे जिसमें आप अपने दोस्तों के साथ समय गुज़ारते हों?

वागीश जी : पढ़ाई और रोज़गार के सिलसिले में जगहें और इर्दगिर्द बदलते रहते हैं और इस प्रकार हम सतत विस्थापित होते रहते हैं। मैं इस विस्थापन की प्रक्रिया से बहुत नैरन्तर्य में नहीं गुज़रा हूँ, किन्तु काल-प्रवाह में बहना हर आदमी की मजबूरी है। मेरे कई मित्र लगभग पचास बरस से मेरे मित्र हैं किन्तु ज़ाहिर है कि इसका यह भी एक कारण है कि देशकाल ने हमारी पारस्परिकता को सम्भव बनाये रखा है।

बचपन के कुछ दोस्तों के नाम याद रह गये हैं। हरेराम नाई थे, उनकी पत्नी को मैं उनके विवाह के पहले से जानता था और विवाह होने के बाद पूरी अकड़ के साथ 'भौजी' के पद पर आरूढ़ होकर उन्होंने मेरे कर्तव्यों और अपने अधिकारों को पुनः परिभाषित किया। अब ये दोनों इस दुनिया में नहीं हैं। मेरे घर पर रहकर पढ़ने वाले ठाकुर धीरेन्द्र पाल हैं, जो अपनी ज़मींदाराना ठसक से बेख़बर कच्चे फ़र्श पर बेतकल्लुफ़ पालथी मारे हाथ में रोटी लेकर खाते हुए फूले नहीं समाते थे- वे बनारस में बस गये और कुछ बरसों तक अगर संयोगवश हम दोनों बस्ती में मौजूद हुए तो मिल जाते थे मगर इधर अरसा हो गया कोई ख़बर नहीं है। मेरे घर पर रहकर ही पढ़ने वाले रामसबद यादव हैं जो हमेशा इस ताक में रहते थे कि कब नमक या माचिस की ज़रूरत पड़े और वे किताब बन्द कर बाज़ार की ओर भागें; ये अभी-भी गाँव जाने पर दिख जाते हैं। किन्तु जिन दोस्तों से अभी-भी सम्पर्क है, वे प्रायः सभी मेरे वयस्क होने के बाद मिले हैं।

हाँ, मेरे एक 'बचपन के मित्र', जो बचपन से आज इस बुढ़ापे तक मेरे मित्र हैं और बराबर मिलते हैं, अम्बिकेश्वर मिश्र हैं, जो पूर्वोल्लिखित 'द्विजेश' जी के प्रपौत्र हैं। इनके साथ कैशोरोन्मेष के रोमांच में अभी-भी वापसी मुमकिन हो जाती है। इनके पितामह पण्डित उमाशंकर मिश्र, जो 'द्विजेश' जी के बड़े पुत्र

थे, उस इकलौते खेल में मेरे दीक्षागुरु थे, जिसे मैं खेलना चाहता था। यह खेल शतरंज का था। मैंने जिस रूप में इसे सीखा था, वह 'अन्तर-राष्ट्रीय' नहीं है, पुराना तरीक़ा था जिसे आप 'फ़ारसी' तरीक़ा कह सकते हैं; इसमें 'क्वीन' नहीं थी, 'वज़ीर' था। लेकिन फिर इस तरह से खेलने वाले लोग नहीं मिले और मेरी दिलचस्पी इतनी गहरी नहीं रही कि मैं ऐसे बुज़ुर्गों की तलाश में भटकूँ जो मुझे इसका अभ्यास कराते रह सकें। यों, मैंने गुल्ली-डण्डा भी खेला है और मेरे पितृव्य मेरे लिए क्रिकेट का बल्ला भी लखनऊ से लाये थे, भले ही हम 'विकेट' का काम ईंटों के एक ढेर से लेते थे।

'वक़्त गुज़ारने' के लिए मेरी पसन्द किताबें ही रही हैं और इनमें लुगदी से लेकर उच्चभ्रू तक का साहित्य शामिल है। इसके बाद गपबाज़ी ही रही है, जिसमें मुझे लड़कपन में बुज़ुर्गों से बात करना अच्छा लगता था और अब बुढ़ापे में नौजवानों से बात करना अच्छा लगता है।

उदयन : आपने स्कूल से आगे की पढ़ाई इलाहाबाद विश्वविद्यालय से की है। आपके समय में वहाँ का परिवेश कैसा था? उन दिनों इलाहाबाद में कई हिन्दी और उर्दू लेखक भी रहा करते थे। क्या आपकी उनसे भी भेंट हुआ करती थी? क्या बातें हुआ करती थीं?

वागीश जी : अपना 'परिवेश' तो कुछ हद तक मैं अपने साथ बस्ती से ले कर ही चला था। मेरे एक मौसा जी इलाहाबाद में दारागंज मुहल्ले में रहते थे। वहाँ एक मन्दिर था जिसका नाम 'समाधी जी का मन्दिर' था। इसके महन्त जी की शायद कुल आमदनी इस मन्दिर की कोठरियों को किराये पर उठाने से ही थी। इसी की एक कोठरी में मेरे मौसा जी किराया अदा करने के अलावा मन्दिर के अवैतनिक पुजारी की हैसियत से अपनी सेवा देने के बदले रहा करते थे। उनके परिवार में मेरी मौसी के अलावा उनके पुत्र और पुत्रवधू थे जो मेरे भैया-भाभी हुए। मेरे मौसा और भैया दोनों ही छोटे बच्चों को ट्यूशन पढ़ा कर घर ख़र्च चलाते थे और उनकी आर्थिक स्थिति हमसे भी कमज़ोर थी। लेकिन दिल बहुत बड़ा था और हमारी बिरादरी के राजा-रंक-फ़क़ीर तीर्थ-यात्रा से लेकर हाईकोर्ट-यात्रा तक के सिलसिले में इलाहाबाद पहुँचने पर उन्हीं की कोठरी के सामने वाले बरामदे में रसोई से बची जगह में पड़ाव डालते थे। इन्हीं के यहाँ हम लोग पहुँचे।

'हम लोग' से मतलब मैं और मेरी माता। गये तो हमलोग मौसा जी के यहाँ ही थे किन्तु दीर्घकालिक निवास के लिए ज़ाहिर है कि जगह नहीं थी। उनकी कोठरी के ठीक बग़ल में एक छोटी कोठरी ख़ाली थी, जो हम लोगों ने किराये पर ले ली। शीघ्र ही मेरी माता ने यह महसूस किया कि भोजन का भार मौसा जी पर डालना अन्याय होगा और हमने अपनी रसोई अलग कर ली जिसमें मेरे एक सहपाठी विश्वनाथ मिश्र भी शामिल थे, जो बस्ती से हमारे ही भरोसे हमारे काफ़िले में शामिल हो गये थे। उनको भी बग़ल की एक कोठरी मिल गयी। तीन कोठरियों, तीन परिवारों, और दो रसोइयों वाली इस इकाई में जितना अपनापन था, बहुत से संयुक्त परिवारों में दुष्प्राप्य है।

अपनापन भरपूर था, लेकिन मुड़ कर देखने पर बहुत से रिक्त स्थान दिखायी देते हैं जिनकी पूर्ति के बिना आज मेरी रहन में सहन मुश्किल होगी। मन्दिर में बहुत से किरायेदार थे और शौचालय के नाम पर पिछवाड़े जो टूटा-फूटा निर्माण था, उसमें जाने का साहस कुछ कुलीन वीरांगनाओं की विवशता ही दिला पाती थी। दारागंज की अधिकांश जनता के जुलूस में शामिल हम मन्दिर के मर्द रहबासी सुबह-शाम लोटा हाथ में लिए उस मैदान में जाया करते थे, जिसमें मेला लगता है। निकटतर विकल्प रेलवे का पुल था, जो विश्वविद्यालय पहुँचने की दूरी को भी कुछ कम कर देता था। पानी के लिए मन्दिर में एक कुँआ था, जिसकी बँधान स्नानगृह का भी काम देती थी। इसकी तली से पानी खींच लेने में सहायता के लिए एक चर्खी लगी थी- इसी में से घड़ा-बालटी भर कर घर के भीतर रसोई से लेकर स्त्रियों के नहाने तक के लिए पानी बटोरा जाता था। मेरी कोठरी में एक चटाई भर की जगह थी जिस पर सिर गड़ाये मैं तब तक एक लालटेन के सहारे पढ़ता रहता था जब तक सोने का समय न हो जाय और फिर वह चटाई बिस्तर का काम देती थी। किसी और फर्नीचर के लिए न जगह थी, न पैसा था। लेकिन एक कस्बाई किशोर के लिए यह सब न अप्रत्याशित था न कष्टप्रद।

उन दिनों इलाहाबाद विश्वविद्यालय उत्तर भारत का सर्वाधिक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय था। हम लोग इस 'भारत के आक्सफ़ोर्ड' में घुस पाने पर सीना फुलाये रहते थे यद्यपि हमें यह पता नहीं था कि 'आक्सफ़ोर्ड' होने में क्या गौरवास्पद है। मैं जब प्रवेश के लिए आवेदन करने गया और अँगरेज़ी, गणित तथा संस्कृत विषयों के चुनाव के साथ फ़ार्म भरा तो मुझे उम्मीद नहीं थी कि यह चुनाव स्वीकृत हो जायेगा और प्रवेश मिलने पर राहत की जो साँस मैंने ली, वह आज भी याद है।

पढ़ाई का ख़र्च एक बड़ी समस्या थी और बस्ती में मेरे पिता द्वारा मुझे इलाहाबाद भेजने की सोचना उनके दुस्साहस का ही प्रमाण माना गया था। मुझे प्रवेश के बाद एक दिन अचानक यह सूचना मिली थी कि मैंने बारहवीं की परीक्षा में उत्तर प्रदेश में प्रथम स्थान प्राप्त किया है और खुशी के मारे मैंने घर पर तार भेज दिया जिसका पहुँचना एक बड़ी बेचैनी का सबब हुआ क्योंकि तार प्रायः केवल अशुभ समाचार भेजने के काम आते थे। कुछ अंगरेज़ीदाँ लोगों ने तार पढ़ कर जब असली ख़बर सुनायी तो मेरे पिता ने जो पत्र मुझे भेजा उसका आशय यह था कि अगर यह ख़बर झूठी निकले तो मुझे मायूस नहीं होना चाहिए। कुछ समय बाद इसका एक भौतिक लाभ भी सामने आया जब भारत सरकार ने 'नेशनल स्कॉलरशिप' नाम से एक छात्रवृत्ति प्रारम्भ की और मेरा चयन उसके लिए स्वतः ही हो गया। यह वज़ीफ़ा बहुत राहतबख़्श था- बी.ए. में पढ़ते हुए पचहत्तर रुपये महीना, एम.ए. में जाने पर सौ रुपये महीना और रिसर्च करने पर दो सौ रुपये महीना मिलने का वादा था। शर्त केवल एक थी- हर साल प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होना था। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के मेरे पाँच साल इसी के भरोसे मेरे पिता को मेरी पढ़ाई के चलते बिना किसी गम्भीर आर्थिक संकट में डाले गुज़रे।

इन पाँच वर्षों में मैं 'डेलीगेसी' छात्र रहा, अर्थात् मैं छात्रावास में नहीं रहा और इस पूरी अवधि में मेरी माता मेरे साथ रहीं अतः 'घर से बाहर' होने का आभास नहीं हुआ। बी.ए. का दूसरा साल बीतते-बीतते एक सुयोग के तहत चैथम लाइन्स में एक बहुत बड़े मकान में रहने को मिल गया। यह बहराइच की एक रियासत का पुराना मकान था, जिसका एक हिस्सा मेरे एक सहपाठी को रखवाली के नाम पर रहने को दिया गया और हम लोग उनके साथ नत्थी हो गये। अब बड़ा-सा हाता था, पेड़ थे, बड़ा कमरा था और यहाँ तक कि पानी की एक टोंटी थी। सबसे बढ़ कर बिजली थी चाहे उसके पुराने पीतल मढ़े स्विच इस्तेमाल के समय झटका देते थे। मेरे साथ धीरे-धीरे दो तीन और सहपाठी हमारी रसोई में शामिल हो गये और बस्ती का परिवेश कुछ और घना हो गया। इलाहाबाद पहुँचते समय गेहूँ सत्रह रुपये मन था और छोड़ते समय सत्ताइस रुपये मन, लेकिन वे दिन अभी कुछ आगे आने वाले थे, जब ऐसी गणनाएँ मेरी दैनन्दिन चिन्ता का विषय होतीं।

वज़ीफ़े और गोल्ड मेडल के साथ ही मेरा शुमार अब बी.ए. प्रथम वर्ष के पढ़ाकू छात्रों में था और मेरे कई पढ़ाकू सहपाठी मेरे मित्र बन गये। इनमें से सन्तोष खरे मेरे बहुत घनिष्ठ मित्र रहे और इनसे मैं दो चार बार दिल्ली में भी मिला हूँ, जब ये भारतीय विदेश सेवा में अफ़सरी करते हुए कभी-कभार मन्त्रालय के किसी कमरे में आबाद हुए। इनके पिता पुलिस के बड़े अफ़सर थे, शिक्षा कान्वेण्टी थी, पले-बढ़े लखनऊ में थे और इस प्रकार हम मध्यवर्ग के दो छोरों पर थे। मैं कमीज़ और पाजामा पहनता था, इन्होंने मुझे समझाया कि पाजामा के साथ कुर्ता और कमीज़ के साथ पैन्ट पहना करो। इस नसीहत पर मैंने साल भर बाद अमल किया जब पुराने कपड़े फट जाने के नाते नये कपड़े सिलाने की मजबूरी सामने आयी और इस प्रकार दूसरे साल में मैं हाफ़ बुश्शर्ट और पैण्ट में हो गया। इनका 'पढ़ाकूपन' भी ज़िक्रतलब है। ये 'साइन्स' के विद्यार्थी थे, किन्तु चमचमाते परीक्षा-परिणाम के बावजूद इन्होंने बी.ए. में दाख़िला लिया क्योंकि 'बी.एस. सी. में पढ़ना पड़ता'। शुरू में इनके भी वे ही विषय थे, जो मेरे थे किन्तु इन्होंने गणित भी इसी 'पढ़ना पड़ेगा' के तर्क पर छोड़ दी और राजनीति-विज्ञान ले लिया। अब ये अंगरेज़ी और संस्कृत में मेरे सहपाठी रह गये थे। संस्कृत शायद ही इन्होंने कभी पहले पढ़ी होगी। बहरहाल, हम लोग 'सेमिनार' कक्षाओं में, जिन्हें ट्युटोरियल समझना चाहिए, हाज़िरी ख़त्म होते ही छुट्टी माँग कर निकल जाते थे। 'लेक्चर' के दौरान हम पिछली बेंच पर बैठते थे और प्रायः एक दूसरे की कॉपियों पर कुछ-न-कुछ - मसलन चिरकीन के शेर-लिखा करते थे। इम्तहान में ये कम हाज़िरी की बदौलत बड़ी मुश्किल से बैठ पाते थे। परीक्षा के कोई एक महीने पहले, फ़रवरी में एक दिन नारियल फोड़ कर ये पढ़ाई शुरू करते थे। बी.ए. के दूसरे साल में हमारे कोर्स में शेक्सपियर की Twelfth Night थी, जो उनके पास थी नहीं और इम्तिहान के एक दिन पहले उन्होंने मुझसे माँग कर कुछ उलटा-पलटा। बहरहाल, ये बी.ए. का गोल्ड मेडल मुझसे छीनने में कामयाब रहे यद्यपि पहले साल में मैं ही शीर्ष-स्थान पर था। यह दूसरी बात है कि मैंने कभी इसका श्रेय इनको नहीं

दिया और हमेशा इनसे यही कहा कि अगर मेरा गणित का परचा ख़राब न हुआ होता तो तुम कभी मुझसे आगे न बढ़ पाते। इनके कई राज़ नश्वरता का धर्म-निर्वाह करते हुए मेरे साथ इस दुनिया से चले जायेंगे।

कई और दोस्त भी थे- एक और सन्तोष कुमार थे, जो फ़िराक़ साहब के घर आने-जाने लगे और उनके चटपटे क़िस्सों को हमारे उत्सुक कानों तक पहुँचाने लगे। कई से बाद में मैत्री की पुनः स्थापना हुई- इलाहाबाद में हिन्दी के आख़िरी झण्डाबरदार सत्यप्रकाश मिश्र इन्हीं में से हैं और उदय प्रकाश अरोड़ा भी जो प्राचीन इतिहास में प्रोफ़ेसर हुए और प्राचीन यूनान के भारत-विख्यात विशेषज्ञ के रूप में जाने गये। मेरे सभी अध्यापकों का वात्सल्य मुझे प्राप्त था- इनमें डॉ. बनवारी लाल शर्मा विशेष उल्लेखनीय हैं, जो सर्वोदयी आदर्शों के प्रति अपनी अखण्ड प्रतिबद्धता के नाते भी अनेक की श्रद्धा के अधिकारी थे। मेरे सहपाठी और मित्र राम जी लाल श्रीवास्तव ने इलाहाबाद के गणित विभाग को बड़ी ऊँचाई तक पहुँचाया और शोध तथा अध्यापन के क्षेत्र में मेरे आदर्श हैं।

अंगरेज़ी विभाग में फ़िराक़ साहब का एक विशेष व्याख्यान सुनना और सिनेट हाल में आयोजित एक मुशाइरे में उनकी भागीदारी का गवाह बनना भी मेरे नसीब में रहे। किन्तु इलाहाबाद के सर्वप्रसिद्ध साहित्य-जगत् से मेरा परिचय कुछ ऐसा ही दर्शक-दीर्घा का परदा पकड़ लेने का रहा। निराला जी के दर्शन का साहस बटोरते-बटोरते उनके देहान्त की ख़बर आ गयी। पढ़ते हुए साहित्यिक चर्चा जिस एक विभूति से हो पाती थी, वे मेरे गणित के अध्यापक प्रोफ़ेसर त्रिविक्रम पति थे, जो संस्कृत के आशु कवि थे और बाद में पुरी के संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति हुए। मेरे इनके बीच पुल बनाने का काम संस्कृत ने ही किया यद्यपि अंगरेज़ी विभाग में भी इनका बहुत सम्मान था और अंगरेज़ी साहित्य में भी मेरी रुचि के ये प्रेरणा-स्रोत थे। इनके साथ इलाहाबाद में तो नहीं किन्तु जबलपुर में मैंने काफ़ी-हॉउस की गोष्ठियों में भी भाग लिया और श्री हरिशंकर परसाई के साथ कुछ उठना-बैठना इन्हीं की संगत में हुआ।

बी.ए. में मेरे अध्यापकों में श्री विजयदेवनारायण साही थे, जिनसे मैंने बर्नार्ड शा का Arms and The Man तथा गाल्सवर्दी का Strife पढ़ा। किन्तु वे हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं, यह मैंने इलाहाबाद छोड़ने के बाद जाना। श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त अंगरेज़ी में मेरे सेमिनार टीचर थे किन्तु प्रगतिशील लेखक संघ में उनका क्या रुतबा था, यह मुझे बहुत बाद में नामवर जी से पता चला।

उर्दू साहित्य से मेरा उन दिनों का परिचय प्रकाश पण्डित के पाकेट-बुक संस्करणों के अलावा एक पत्रिका 'उर्दू साहित्य' के माध्यम से था, जो डॉ. जाफ़र रज़ा निकाला करते थे और जिसके पुराने अनबिके अंक मैं फ़ुटपाथ से बहुत कम दामों में ख़रीद लेता था।

मैं अब स्कूली छात्र न रह कर विश्वविद्यालय में पहुँच गया हूँ इसका पहला एहसास तब हुआ जब एक छात्र आन्दोलन के चलते विश्वविद्यालय अनिश्चित काल के लिए बन्द हुआ। उन दिनों लोहिया जी की समाजवादी युवजन सभा का विश्वविद्यालय में बोलबाला था और मेरे साथ पढ़ने वाले श्री ब्रजभूषण तिवारी

बाद में चल कर बड़े समाजवादी नेता बने। किन्तु मेरा कोई निकट परिचय छात्र नेताओं से नहीं था और मैं राजनीतिक सक्रियता से स्वभावतः सदा दूर रहा हूँ। यों, मैंने नेहरू जी का भाषण इलाहाबाद विश्वविद्यालय में सुना है।

एम.ए. करने के लिए मैंने गणित चुना क्योंकि मुझे यह मालूम था कि मैं इसे 'स्वाध्याय' से नहीं सीख पाऊँगा। कुछ ऐसा हुआ कि उसी वर्ष इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने चालीस वर्षों से चले आ रहे पाठ्यक्रम का पुनर्नवीकरण करने का निश्चय किया। इसके पहले अंगरेज़ी विभाग में मेरे एक अध्यापक स-सन्तोष मुझे बता चुके थे कि किस प्रकार उन जैसे अध्यापकों के संघर्ष के बाद डी.एच. लारेन्स जैसे 'नये' लेखक पाठ्यक्रम में शामिल किये जा सके थे और किस प्रकार शेक्सपियर पढ़ने के लिए जी. विल्सन नाइट और एल.सी. नाइट्स जैसे 'नये' समीक्षकों की पुस्तकें पढ़ना ठीक रहेगा। यह करना बहुत कठिन न लगा था।

किन्तु गणित में इस आधुनिकीकरण का परिणाम एक अफरातफरी के रूप में आया। इस अफरातफरी को गणित पढ़ने-पढ़ाने वाले ही समझ सकते हैं किन्तु एक उदाहरण से इसका अन्दाज़ा लग सकता है। 'हाइन-बोरेल थियरम' पहले हाबसन की पुस्तक से पढ़ाया जाता था, अब उसे रूडिन की पुस्तक से पढ़ना था। हम लोग अपने अध्यापक के पास गये और उनसे कहा, 'समझ में नहीं आ रहा है'। उनका उत्तर था, 'मैं बीस साल से इसे पढ़ा रहा हूँ, मेरी समझ में नहीं आ रहा तो तुम्हारी समझ में क्या आयेगा'।

एम.ए. की पढ़ाई और इम्तिहान एक अर्धस्वप्न की तरह हैं। पाठ्यपुस्तकें बहुत कठिन लगती थीं, सहायक निर्देशन बहुत अपर्याप्त लगता था। मैंने परीक्षा छोड़ने की सोची जिसका अर्थ था, वज़ीफ़े से हाथ धोना, किन्तु इसी वर्ष मेरे पिता एक, उस समय दुःसाध्य, रोग -प्लूरिसी- से ग्रस्त हुए और मैंने उन्हें अतिरिक्त चिन्ता में डालने की अपेक्षा भगवान भरोसे परीक्षा में बैठने का निर्णय लिया। प्रथम श्रेणी कैसे आयी और वज़ीफ़ा कैसे बचा, मैं नहीं जानता।

एम.ए. मैंने १९६५ में पूरा कर लिया। इसी वर्ष मेरा विवाह हो गया क्योंकि मैं उन्नीस वर्ष का हो रहा था और गृहस्थाश्रम में प्रवेश की उम्र निकल रही थी। मैं अब नौकरी करने के लायक़ भी हो चुका था और कुछ महाविद्यालयों से इसकी पेशकश भी हुई किन्तु मैंने 'रिसर्च' करने का तै कर रखा था और उसी पर डटा रहा।

इस 'डटे रहने' का मतलब समझना ज़रूरी है। अध्यापन करते हुए पी.एच.डी. हासिल करना कठिन न था। किन्तु सच यह है कि यह 'नया गणित' समझ में भले ही न आता था, इसका आकर्षण दुर्निवार था और उत्तर भारत के किसी विश्वविद्यालय में इसकी गुन्जाइश न थी। ले दे कर मैंने एक ही जगह के बारे में सुना था, जहाँ इसके जानने वाले मौजूद थे- टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ़ फ़न्डामेण्टल रिसर्च, बम्बई। लेकिन मैं था तो कच्चा घड़ा ही- शोध के लिए मैं टाटा इन्स्टीट्यूट में चयनित न हो सका।

यह एक बड़ा संकट था और मेरे ऊपर मेरे अध्यापक डॉ भट्ट का बहुत बड़ा ऋण है, जिन्होंने मुझसे कहा कि मैं उनके साथ शोध-छात्र के रूप में पंजीकृत हो जाऊँ और फिर जब भी मुझे मनोनुकूल शोध-संस्थान मिले, मैं छोड़ कर चला जाऊँ। इससे मेरा दो सौ रुपये का वज़ीफ़ा बचा रह गया जिसके भरोसे मैं इलाहाबाद में एक साल और टिक पाया।

इस दौरान मुझे आई.आई.टी. कानपुर का भी नाम सुनायी पड़ा और अगले साल यद्यपि मैं बम्बई विश्वविद्यालय और आई.आई.टी. कानपुर, दोनों जगह चयनित हुआ, मैंने आई.आई.टी. कानपुर चुना। यह उन दिनों एक अमेरिकन विश्वविद्यालय ही था और मुझे शोध-निर्देशक के रूप में कार्नेगी-मेलन के प्रो. एस. पी. फ्रैन्कलिन प्राप्त हुए, जिनसे मैंने गणित के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ सीखा। यहीं से मैं एक विज़िटिंग फ़ेलो के रूप में टाटा इन्स्टीट्यूट भी गया, जहाँ बिताया गया एक साल मुझे इस 'नये गणित' के और क़रीब ले आया।

फिर मुझे आई.आई.टी. दिल्ली में नौकरी मिल गयी और मैंने वहाँ बयालीस साल नौकरी करने के बाद सेवानिवृत्ति प्राप्त की।

उदयन : इलाहाबाद में अध्ययन के दौरान क्या आपने कुछ लिखना भी शुरू किया है? क्या विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में कुछ ऐसे उपन्यास और कविता-संग्रह आदि थे जिन्हें पढ़कर आप चमत्कृत हुए हों और साहित्य के प्रति आपका आकर्षण कई गुना हो गया हो? आपने एक जगह कहा कि आप अपने मित्र के साथ कक्षा की आख़िरी पंक्ति में बैठकर चिरकीन के शेर एक दूसरे को देते थे, यानी तब तक आपका उर्दू शाइरी से परिचय अच्छा ख़ासा हो चुका होगा। क्या आप शाइरी के साथ उर्दू गद्य भी पढ़ रहे थे?

वागीश जी : 'चिरकीन की शाइरी' से तात्पर्य उर्दू की उस कविता से है, जो मल-मूत्र विसर्जन को अपनी विषय-वस्तु बनाती है। जुगुप्सा-अश्लील और व्रीडा-अश्लील रचनाएँ विशेषतः किशोरों में लोकप्रिय होती हैं और शायद स्वीकृत भाषिक व्यवहार की मर्यादा को तोड़ने के नाते कोई 'विद्रोह' भी बताती हों, यद्यपि इसकी व्यापकता और गुपचुप पहुँच अनेक सुरुचिसम्पन्न सहृदयों तक है। जिस वक़्त की बात मैंने की है, ऐसी रचनाओं से परिचय का आशय उर्दू साहित्य से परिचय नहीं था, यह छात्रों के बीच वाचिक परम्परा से उपलब्ध साहित्य था, जिसमें हम भी पंक्तियाँ जोड़ने के लिए स्वतन्त्र थे। वैसे, आज चिरकीन का एक सुसम्पादित दीवान छप चुका है और व्रीडा-अश्लील उर्दू शाइरी के शलाका-पुरुष जाफ़र 'ज़टली' का भी सुसम्पादित दीवान उपलब्ध है। जाफ़र ज़टली को फ़र्रुख़सियर ने एक उपहासात्मक कविता लिखने के अपराध में मृत्युदण्ड दे दिया था।

फ़ारसी-उर्दू परम्परा में ऐसे साहित्य की स्वीकार्यता अन्य साहित्यों की तुलना में सम्भवतः कुछ अधिक रही है। जाफ़र का 'ज़टली' उपनाम औरंगज़ेब की बेटी ज़ेबुन्निसा द्वारा दिया गया। बताया जाता है और

सुनते हैं कि बेदिल की तीन हज़ार ग़ज़लें इस 'ज़टल' की विधा में थीं, जिनमें से कम-से-कम एक तो मैंने उनके छपे हुए कुल्लियात में भी देखी है। सौदा, इन्शा, रंगीं आदि की कई रचनाएँ इस कोटि की हैं। किन्तु यह सब मैंने बाद में जाना, छात्रावस्था में हमारी पहुँच देवनागरी लिपि में छपे उर्दू साहित्य तक थी, जिसमें यह सब सिरे से ग़ायब था।

मैं कह आया हूँ कि 'उर्दू साहित्य' नाम की पत्रिका मैं पढ़ता था, जिसमें समकालीन उर्दू साहित्य देवनागरी लिपि में उपलब्ध होता था। क़ाज़ी अब्दुस्सत्तार के कई उपन्यास मैंने उसमें पढ़े और बहुत-सा अन्य उर्दू गद्य भी।

पुस्तकालय का मैंने भरपूर उपयोग किया। बहुत सा अंगरेज़ी साहित्य और अंगरेज़ी में उपलब्ध यूरोपियन साहित्य पढ़ा, सब गिनाना सम्भव नहीं है। विश्वविद्यालय के अतिरिक्त आज़ाद पार्क में एक अंगरेज़ों के ज़माने से चला आ रहा सार्वजनिक पुस्तकालय भी था, वहाँ मैं प्रायः सात बजे सुबह पहुँच जाता था और दोपहर को कुछ देर के लिए पुस्तकालय बन्द होने पर पार्क में ही बैठा रहता था कि तीसरे पहर पुस्तकालय खुलने पर फिर उसमें बैठ सकूँ। बहुत-सी पुरानी पुस्तकें वहाँ मिलीं।

मैं सबकुछ पढ़ता था और साहित्य में ऊँच-नीच की तमीज़ मुझमें नहीं थी। किन्तु शायद वे सभी किताबें 'अच्छी' ही रही होंगी। उपन्यास, नाटक, निबन्ध, इतिहास, जो मिल जाय पढ़ता था। मैंने 'जासूसी दुनिया', 'तिलिस्मी दुनिया', 'सजनी', 'साजन', 'शेरबच्चा', सबकुछ पढ़ा है। बच्चन जी की 'मधुशाला' पढ़ी तो उनकी पैरोडी में लिखी गयी किसी 'कोल्हू' कवि की 'पौशाला' भी पढ़ी। अज्ञेय जी का 'शेखर' पढ़ा तो कुशवाहा कान्त और प्यारे लाल आवारा के उपन्यास भी पढ़े।

जहाँ तक लिखने की बात है, मैंने इलाहाबाद में कुछ गीत लिखे थे, जिन्हें मैंने बाद में एक मित्र को दे दिया और उनके बल पर उन्होंने कई कवि सम्मेलनों में वाहवाही लूटी। बी.ए. के दूसरे साल में इलाहाबाद में भयंकर शीतलहर आयी थी और चूँकि मेरे पास गर्म कपड़े नहीं थे, मैं हाफ़ बुश्शर्ट पहने हुए कक्षा में पहुँचता था। प्रोफ़ेसर यदुपति सहाय (फ़िराक़ साहब के छोटे भाई) शेक्सपियर पढ़ाते थे, उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या मुझे ठण्ड नहीं लगती। अपनी इज़्ज़त बचाते हुए मैंने जवाब तो 'नहीं' ही दिया किन्तु मैंने फिर अंगरेज़ी में एक नाटिका The Cold Wave लिखी, जिसमें शीत-लहर में काँपते हुए एक उच्च मध्यवर्गीय परिवार के सभी सदस्य टेनिस खेलने और माडलिंग जैसे विभिन्न कारणों से धीरे-धीरे कम कपड़ों में आ जाते हैं। वैसे, मेरा उस ज़माने का लिखा एक अंगरेज़ी निबन्ध विश्वविद्यालय की पत्रिका में छपा था।

किन्तु मुझे 'लेखक' कुछ बाद में अज्ञेय जी ने अपनी पत्रिका 'नया प्रतीक' में छाप कर बनाया।

उदयन : अज्ञेय ने आपकी कौन सी रचना प्रकाशित की थी? क्या तब तक आप अज्ञेय से मिल चुके थे? कम से कम इलाहाबाद में उन्हें देख चुके थे? आपने लिखने की शुरुआत तो की थी गीत से, आलोचना

कब और कैसे आ गयी? क्या किन्हीं ऐसे आलोचकों की रचनाओं का पठन आप करने लगे थे, जिनके कारण आपके लेखन की दिशा बदल गयी?

वागीश जी : इलाहाबाद में मैं १९६१-६६ रहा। अज्ञेय जी इलाहाबाद उसके पहले छोड़ चुके थे यद्यपि यह बात भी मुझे बाद में पता चली। उन दिनों भी इलाहाबाद में बहुत से बड़े लेखक थे किन्तु मेरी बहुत दिलचस्पी साहित्यकारों में नहीं थी। अज्ञेय जी अगर होते भी तो मैं उनसे मिलने शायद ही गया होता। साहित्य में भी पढ़ने पर ही ध्यान था। गीत लिखे ज़रूर, और आज मैं यह भी कह सकता हूँ कि वे बहुत ख़राब नहीं थे किन्तु उन्हें छपवाने या गीतकार बनने का कोई ख़याल नहीं आया, और जैसा मैंने बताया, उन्हें अपने एक मित्र को मैंने दे दिया था, सो आज उनके और मेरे सिवा कोई नहीं जानता कि मैंने कभी गीत लिखे भी थे।

अज्ञेय जी ने 'प्रतीक' तो इलाहाबाद से ही शुरू किया था किन्तु 'नया प्रतीक' उन्होंने 'प्रतीक' के कोई बीस बरस बाद दिल्ली से निकाला था। वे 'दिनमान' छोड़कर अमरीका चले गये थे और वहाँ से लौटने के बाद उस सबसे किनाराकशी करके रह रहे थे। मेरे ख़याल में उनके इर्दगिर्द साहित्यकों के जो नाम चले आ रहे थे उनमें से पण्डित विद्यानिवास मिश्र से ही उनका कुछ सम्पर्क बना रह गया था। बहरहाल, जब उन्होंने 'नया प्रतीक' निकालने की सोची तो वे किसी ऐसे लेखक की खोज में थे जो विज्ञान पर कुछ लिख सके और पण्डित जी ने उन्हें मेरा नाम सुझाया, जिसके परिणाम-स्वरूप गणित पर मेरे तीन लेख उन्होंने 'नया प्रतीक' में छापे। थोड़ा बहुत आना-जाना भी शुरू हुआ, जो यद्यपि मात्रा में कम था, वे मुझे इस लायक़ तो समझते ही थे कि मेरी बात ध्यान से सुनें।

मेरा यह 'विज्ञान-लेखक' का परिचय कुछ दिन चला। जोशी जी ने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में मेरी एक लेख-माला उस समय की कणभौतिकी पर छापी थी और फिर मुझसे प्रायः हर विषय पर लेख माँग लेते थे। यह सिलसिला उनके 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' छोड़ने के बाद ही ख़त्म हुआ।

पण्डित विद्यानिवास मिश्र मेरे निकट सम्बन्धी थे और उन्हें इस बात की जानकारी थी कि साहित्य में मेरी कुछ रुचि है। उन्होंने मुझे मुक्तिबोध जी की 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की प्रति छपने के तत्काल बाद दी थी। मैं जब गीत छोड़कर 'नयी कविता' लिखने लगा तो उन्होंने एक बार 'धर्मयुग' में और एक बार 'आलोचना' में भेजने के लिए कविताएँ भी लीं किन्तु दोनों बार वे उनके काग़ज़ों में ही दबी रह गयीं और मैंने कोई तगादा न किया, फलतः मैं 'नया कवि' भी न बन सका।

जब कमलेश जी ने जार्ज फ़र्नाण्डीस के लिए 'प्रतिपक्ष' निकाला तो उन्होंने उसमें साहित्य के लिए भी जगह बनायी। मेरी कविताओं को उन्होंने कुछ सुधारा किन्तु मैंने ही उनसे कहा कि कहीं श्रीकान्त वर्मा और कहीं रघुवीर सहाय बनने से अच्छा है कि कवि ही न बना जाय और वे भी इससे सहमत हुए। किन्तु मेरी मौखिक रायदिहानियों को उन्होंने इस लायक़ माना कि उन्हें मैं लिखूँ और मुझसे रामकुमार के एक

कहानी-संग्रह पर, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की 'पुनर्नवा' पर, तथा सर्वेश्वर जी की 'कुआनो नदी' पर लिखवा कर उन्होंने छापा। इन्हीं को पढ़कर नामवर जी ने मुझसे 'कुआनो नदी' पर 'आलोचना' के लिए लिखवाया। इसे मेरे 'मुख्य धारा का आलोचक' बनने की शुरुआत कहा जा सकता है। फिर मुझ पर अशोक जी (श्री अशोक वाजपेयी) की नज़र पड़ी और मेरा अधिकांश लेखन उन्हीं के नाते सामने आया।

उदयन : आपके लेखों और निबन्धों के पाठकों को यह समझने में शायद ही मुश्किल हो कि हिन्दी आलोचना में आपके प्रवेश के साथ ही कुछ नया होना शुरू हो गया। मैं आपके ही दिये प्रत्यय का इस्तेमाल करूँ तो कह सकता हूँ कि आप हिन्दी के उन आलोचकों में हैं जो पश्चिम से संवादरत भले हों पर उससे दहशतज़दा नहीं हैं। इसका बड़ा कारण आपका भारतीय पारम्परिक काव्यशास्त्र का अध्ययन और उस पर निरन्तर चिन्तन रहा है। आपने जिन लेखकों का अपने पिछले कुछ जवाबों में उल्लेख किया है, उनमें वे लेखक हैं, जो दहशतज़दा नहीं हैं। लेकिन आपकी आलोचना की स्थिति इनसे अलग है। उसमें आप पश्चिम की अधुनातन चिन्तन धारा को भारतीय पारम्परिक चिन्तन के आलोक में देखने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन साथ ही इस प्रक्रिया में पारम्परिक चिन्तन के भी नये आयामों को उद्घाटित करते चलते हैं। वे कौन से लेखक हैं, जो आपके इस तरह लिखने के ढंग के पूर्ववर्ती हों।

वागीश जी : आपके प्रश्न के अन्तिम वाक्य ने मुझे मुश्किल में डाल दिया है क्योंकि अगर मैं यह कहता हूँ कि ऐसा कोई लेखक नहीं है तो यह एक विकत्थन होगा, जो मेरा घटियापन बतायेगा और यदि मैं किसी लेखक का नाम बताता हूँ तो उससे पूरी बात सामने नहीं आती। इसलिए मैं थोड़े विस्तार के साथ आपके प्रश्न में निहित जिज्ञासा पर बात करता हूँ। मेरी उम्मीद है कि इसमें 'मैं' और 'मेरा' नहीं होगा किन्तु आपकी पृच्छा तक इस उत्तर की पहुँच होगी।

सबसे पहले मैं 'दहशतज़दा' को थोड़ा स्पष्ट करता हूँ। आपने कहा है कि मैंने जिन लेखकों के नाम लिये हैं, उनमें वे लेखक (भी) हैं जो दहशतज़दा नहीं हैं। मैं इससे पूर्ण सहमत हूँ और यह कहना चाहूँगा कि कोई भी आधुनिक भारतीय लेखक इस अर्थ में 'दहशतज़दा' नहीं है कि उसने भारतीय चिन्तन या क्षमता को पश्चिम के चिन्तन या क्षमता से कमतर माना हो। वस्तुतः प्रायः सभी का शक्ति भर प्रयास यही रहा है कि भारतीय पारम्परिक चिन्तन को सबल बताया जाय। किन्तु इस 'स-बल' होने में 'बल' क्या है, इसकी समझ अलग-अलग थी।

मैं एक उदाहरण से प्रारम्भ करना चाहता हूँ। यद्यपि 'पिलो बुक्स' सब जगह हमेशा से मौजूद रही हैं, भारत अकेला देश है जहाँ काम को धर्म और अर्थ के समकक्ष एक पुरुषार्थ माना गया और फलतः इस पर एक शास्त्र की आवश्यकता स्वीकार की गयी जिसके अनुपालन में कई ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें से कामसूत्र आज भी उपलब्ध है। किन्तु यह उपलब्धि कैसे सम्भव हुई? इसका अंगरेज़ी अनुवाद रिचर्ड बर्टन ने १८८३ में छापा जिसे 'अश्लीलता' के भय के नाते सार्वजनिक रूप से उपलब्ध नहीं कराया जा सकता था। पण्डित दुर्गाप्रसाद महामहोपाध्याय की इच्छा हुई कि मूल ग्रन्थ भी उपलब्ध कराया जाय। यह 'इच्छा' निश्चय

ही इस कारण थी कि भारत में जो सोचा गया वह जस-का-तस सामने आये, उसे पश्चिमी शीशे में उतारने के बाद नहीं। इसके लिए उन्होंने कठिन परिश्रम से कई पाण्डुलिपियाँ इकट्ठा कीं और एक सुसम्पादित संस्करण तैयार किया, जिसमें सर्वप्रशंसित 'जयमंगला' टीका भी थी। भारतीय चिन्तन में उनकी अडिग आस्था थी, यह मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

किन्तु हम फिर देखते हैं कि अन्ततः जब इसे उन्होंने १८६१ में छाप लिया तो फिर कुछ विद्वानों को भेजा जिनमें अनेक पश्चिमी भारत-विद् थे।[१] इसके साथ एक पत्र भी था, जिसमें उन्होंने कुछ दिलचस्प बातें कही हैं। वे लिखते हैं कि यद्यपि यह ग्रन्थ केवल संस्कृतज्ञों की समझ में आ सकता है किन्तु 'वर्तमान व्यवहार के अनुसार' वे इसे सार्वजनिक रूप से उपलब्ध नहीं करवा रहे हैं। यह 'वर्तमान व्यवहार' क्या हो सकता है, इस पर थोड़ी-सी रोशनी तब पड़ती है, जब हम देखते हैं कि वे इस ग्रन्थ के बारे में यह लिखते हैं कि इसमें यद्यपि कहीं-कहीं थोड़ी-सी अश्लीलता आ गयी है किन्तु उतनी हरगिज़ नहीं है जितनी कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष के काव्यों में है।

अब यह 'अश्लीलता' क्या है, जिसे महामहोपाध्याय जी ने एक 'निर्बलता' के रूप में देखा है? जिन काव्यों के नाम उन्होंने गिनाये हैं, वे सभी भारतीय साहित्य के गौरव-ग्रन्थ हैं और उस समय तक इन पण्डित जी समेत अनेक विद्वानों के प्रयास से छापकर सार्वजनिक रूप से उपलब्ध कराये जा रहे थे। भारतीय काव्यशास्त्र में अश्लीलता पर विचार भी हुआ है और उसे दोष ही माना गया है किन्तु इन काव्यों को उदाहरण के रूप में नहीं शामिल किया गया है।[२] इन सबको दरकिनार करते हुए उन्होंने वही मानदण्ड चुना जो विक्टोरियन इंग्लैण्ड के थे और जिनके चलते रिचर्ड बर्टन के अनुवाद को इंग्लैण्ड तथा अमरीका में १६६१ के पहले छापना ग़ैर-क़ानूनी था यद्यपि उन्होंने इसी पत्र में प्राचीन आचार्यों के प्रमाण से यह भी लिखा है कि भगवत्पाद ने कामसूत्र पढ़ कर इस विषय पर एक ग्रन्थ लिखा था। आगे चल कर हम देखते हैं कि कालिदास में अश्लीलता महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी खोजी और रामविलास शर्मा ने भी, भले ही उन्होंने इसे 'दरबारीपन' के तहत समेटा जैसे किसान और मज़दूर की काम में कोई रुचि ही न होती हो।

भारतीय चिन्तन के सन्दर्भ में सवाल तो ये उठने चाहिए थे कि वेद के जिन मन्त्रों पर टीका लिखने में सायण को हिचक नहीं हुई उनका अनुवाद करने में अंगरेज़ भारत-विद् क्यों ठिठक गये किन्तु हम देखते हैं कि हमारे विद्वान् लज्जित हैं और यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हमारे ग्रन्थों में

---

१. इस प्रकाशन में अन्तिम अधिकरण पर टीका अनुपलब्ध होने के नाते छप नहीं सकी थी। पण्डित जी के पुत्र केदारनाथ शर्मा ने उसे भी हासिल करके पुस्तक के १६०० में प्रकाशित दूसरे संस्करण में शामिल किया तथा कुछ भारत-विदों की प्रतिक्रियाएँ भी शामिल कीं। यह १६०० वाला संस्करण भी सार्वजनिक नहीं था और समय के साथ दुष्प्राप्य हो चला किन्तु सौभाग्य से यतीन्द्र मिश्र के नाते अयोध्या राज-परिवार के निजी पुस्तकालय में मुझे यह मिल गयी और मेरे अनुरोध पर वे इसे भारत सरकार की पुनर्मुद्रण योजना के लिए प्रो. कुटुम्ब शास्त्री को देने के लिए तैयार हो गये, जिसके नाते आज यह राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान से सहज उपलब्ध है।

२. कालिदास-कृत कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग की स्थिति कुछ भिन्न है और आनन्दवर्द्धन ने इसमें अश्लीलता की सम्भावना पर अलग से बात की है। उस पर कुछ विस्तार से मैं अपने एक पुराने लेख में चर्चा कर चुका हूँ।

कुछ 'मिलावट' हो गयी है। यह 'मिलावट' का विचार भी अ-भारतीय विद्वत्ता की देन है जिसकी बुनियाद बाइबिल और कुर्आन का शुद्ध पाठ प्राप्त करने के लिए किये गये क्रूर प्रयासों में है।

बहरहाल कुल मिलाकर हुआ यह है कि हमने अपनी सैनिक पराजय को एक सांस्कृतिक पराजय के रूप में मान लिया और यह स्वीकार किया कि यह अंगरेज़ी रहन-सहन की विजय है। हिन्दुओं ने यहाँ से शुरू किया कि यह बहुदेव-वाद पर एकेश्वर-वाद की जीत है और राजा राम मोहन राय यह साबित करने में लग गये कि हमारे ग्रन्थ तो उपनिषद् हैं और देखो कि ये एकेश्वरवादी हैं। कुछ ऐसा ही स्वामी दयानन्द ने घोषित किया जब उन्होंने कहा कि हमारे ग्रन्थ तो वेद हैं और पुराण 'पोपलीला' हैं। ये सारे प्रयत्न एक वंशवृक्ष तैयार करने के थे जिसमें यह दिखाना था कि एकेश्वर-वाद से लेकर सारे पश्चिमी आदर्श हमारे यहाँ पहले से मौजूद हैं। आज भी हममें से अनेक वेदों में पर्यावरण-चेतना, मानव-अधिकार आदि के समकालीन दस्तावेज़ों से लेकर क्वाण्टम फिज़िक्स तक के समीकरण खोजते फिरते हैं। हमने यह जानने की कोशिश बन्द कर दी कि हमारे यहाँ क्या सोचा गया और यह जताने में लग गये कि पश्चिम की सोच हमने पहले ही सोच डाली थी, अर्थात् हमारी सोच भी वही है जो पश्चिम की। इसी को मैंने 'दहशतज़दा' होना कहा है।

अपने लेखन में मेरा कुल प्रयास इतना ही रहा है कि किसी विषय पर हमारे आचार्यों ने क्या कहा है इससे नज़र न हटायी जाय। इस प्रक्रिया में मैंने उन विचारों के स्फोरण का भी प्रयास किया है और इस सिलसिले में कभी-कभार पश्चिमी चिन्तन की शब्दावली से सामना भी हो गया है। न मैंने पश्चिमी वैचारिकता के वर्चस्व (= supremacy) को स्वीकार किया है न ही भारतीय वर्चस्व की स्थापना का प्रयास किया है, सिर्फ़ यह किया है कि भारतीय चिन्तन की उपेक्षा नहीं की है।

इस सिलसिले में जिन लेखकों का ज़िक्र मेरे लिखने में आया है उनमें मैंने आचार्य चन्द्रधर शर्मा गुलेरी से लेकर आचार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डेय तक के गम्भीर चिन्तन से लाभ उठाया है और जहाँ-जहाँ मुझे उनकी दृढ़ता लरज़ती दिखी है, उसे सामने भी लाया हूँ। लेकिन अगर मैंने किसी लेखक का नाम लिया है तो उसके अध्ययन और परिश्रम से प्रभावित हो कर ही। मैं सभी का अधमर्ण हूँ।

उदयन : आपने भारतीय सभ्यता को 'पेगन सभ्यता' भी कहा है। आपके मन में इसे 'पेगन' कहने का एकमात्र आधार 'बहुदेववाद' नहीं हो सकता। आप इसे 'पेगन सभ्यता' क्यों कहते हैं? क्या सभी पेगन सभ्यताओं में कुछ लक्षण सामान्य हुआ करते हैं? अगर हाँ, तो वे कौन से लक्षण हैं?

वागीश जी : आपके इस प्रश्न का उत्तर तो दरअसल मेरी एक अबतक न लिखी गयी पुस्तक में ही मिल सकता है जिसमें मैंने 'पेगन' पर मेरे मन में जो कुछ है उसे विस्तार से ले आने की सोची है। फ़िलहाल कुछ बातें ये हैं।

पहली बात यह कि मैंने यह कहा है कि भारतीय सभ्यता एकमात्र पेगन सभ्यता है, जो जीवित है। ऐसा कहने के पीछे मेरे मन में यह है कि जो सभ्यताएँ आज 'पेगन' कही जाती हैं वे सबकी सब हमारे पास ग़ैर-पेगन विचारकों के माध्यम से ही मौजूद हैं। प्राचीन ग्रीस और प्राचीन रोम के बारे में हम जो कुछ जानते हैं, वह सब उनके ईसाई-करण के बाद के चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन अरब सभ्यता के बारे में केवल वही मालूम है जो उसके इस्लामीकरण के बाद लिखा गया, यही बात प्राचीन ईरानी, प्राचीन तुर्की, आदि सभ्यताओं के बारे में सच है। ये सब सभ्यताएँ आज नामौजूद हैं और इनका ग़ैर-पेगन पुनर्लेखन ही अवशेष है। यह एक सार्वत्रिक (Universal) प्रवृत्ति है कि हम अपने वर्तमान को किसी 'गौरवशाली अतीत' से जोड़ना चाहते हैं, या यों कहिए कि अपने अतीत पर गौरव का प्रक्षेपण करते हुए उसके 'सन लैम्प' की धूप में अपना वर्तमान सेंकना चाहते हैं। अपना पूर्वज गर्ग या शाण्डिल्य को बताना, अपने को सूर्यवंशी या चन्द्र-वंशी कहना, ये सब इसी के उदाहरण हैं। इसी प्रकार ऐसे जातीय पुनर्लेखनों के पीछे भी अपने जातीय अतीत को कुछ स्वीकृत उच्चताओं तक पहुँचाने की महत्त्वाकांक्षाएँ कार्यरत होती हैं। उदाहरण के लिए वर्तमान अरब इतिहास जब इस्लाम को अपने सुदूर अतीत के पूर्वज हज़रत इब्राहीम का दीन बताता है तो वह यही कह रहा होता है कि उसके पूर्वज इस्लाम की ज्ञान-ज्योति से सर्वथा वंचित नहीं थे और इस्लाम सबसे नया आलमी मज़हब न होकर सबसे पुराना आलमी मज़हब है।

पश्चिम में चूँकि यूरोप का एक बड़ा भाग प्राचीन रोमन साम्राज्य का अंग था और ईसाई-करण के बाद भी रोम केन्द्रीय रहा इसलिए न केवल मूल बाइबिल की जगह उसका लैटिन अनुवाद मानक पाठ (= vulgate) स्वीकृत हुआ अपितु प्राचीन रोम की भी पुनःसंरचना करके उसको अपना अतीत घोषित करने की तमन्ना जगी। बाद में आने वाले 'होली रोमन एम्पायर' भी इसी तमन्ना की उपज है।

वर्तमानकालिक ज्ञान-सम्पदा इस कारण से पूर्णतया एकध्रुवीय है। यद्यपि अमेरिका आदि के पुराने बाशिन्दे एकदम से उच्छिन्न नहीं हुए, उनको हम ग़ैर-पेगन विश्लेषकों के ही माध्यम से जानते हैं। भारत में स्थिति थोड़ी भिन्न है। यद्यपि हमारे वर्चस्वशाली बुद्धिजीवी वर्ग में प्राचीन और वर्तमान भारत उतना ही मौजूद है जितना वह ग़ैर-पेगन पश्चिमी विद्वत्ता में समा पाया है, उस विद्वत्ता के बिना भी वह अभी मौजूद है, बशर्ते कि हम उसकी ओर से आँखें न मूँदें।

तो 'सभी पेगन सभ्यताओं' की बात करने में यह संकट तो है ही कि 'यूनानोमिस्र रोमाँ, सब मिट गये जहाँ से' किन्तु भारत अभी मौजूद है और कोई भी सामान्यीकरण करने में एक खोखलापन अनिवार्यतः रहेगा। फिर भी हम देख सकते हैं कि 'बहुदेववाद' एक सामान्य लक्षण है। इन सभी सभ्यताओं के पास कोई एक ईश्वर नहीं है, कोई एक पैग़म्बर नहीं है, कोई एक क़िताब नहीं है। इन सबके पास एक 'परम्परा' है। मैं भारत की बात अभी करता हूँ किन्तु उसके पहले एक उड़ती नज़र प्राचीन रोम पर डाल लेते हैं।

मैं इसके लिए लियोतार (Jean-Francois Lyotard, 10 August 1924-21 April 1998) की एक पुस्तक LIBIDINAL ECONOMY के अन्तर्गत Pagan Theatrics शीर्षक से कही गयी बातों का आश्रय लेने से प्रारम्भ करूँगा। इसमें लियोतार ने बताया है कि किस प्रकार रोमन संकल्पना में नीवीमोचन से लेकर संवेशन और भावशान्ति तक रतिक्रिया के प्रत्येक चरण के नियामक देवता थे और किस प्रकार ईसाई चिन्तक सेण्ट आगस्टाइन ने इस संकल्पना का उपहास किया है। लियोतार ने कहा है कि इस पेगन संकल्पना में प्रत्येक कृत्य एक स्वतन्त्र दैवी कृत्य था, जबकि ईसाई विचार में सब कुछ एक ही शक्ति से संचालित था। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'पेगन = बहुदेववादी' बहुलता का समर्थक है जबकि ग़ैर-पेगन मज़ाहिब एकशक्त्यात्मक होते हैं।

इस प्रकार जिस 'बहुलता = स्वतन्त्रता' के राजनीतिक समीकरण को आज हम एक वांछनीय के रूप में स्वीकार करते हैं, उसकी बुनियाद यह 'बहुदेववाद' ही ठहरता है। सत्ता-विमर्श में एक-तन्त्र से छूट कर जन-तन्त्र की ओर ले जाने वाली हमारी सारी छटपटाहटें 'एकदेव-वाद' के पाश से छूट कर 'बहुदेव-वाद' की शरण में जाने की छटपटाहटें हैं। सभी आख्यानों के चालक बनने की तमन्ना रखने वाले जितने भी अभ्याख्यान (= meta-narrative) हैं, वे सभी वैविध्य-विरोधी हैं और इस वैविध्य-विरोध में ही एकदेव-वाद का तार्किक अस्तित्व है। ये अभ्याख्यान देवोपासना के वैविध्य को अस्वीकार करते हुए किसी एक मज़हब को ही स्वीकार्य मानने से शुरू हुए और वेष-परिवर्तन के साथ लूई चौदहवें के 'मैं ही फ्रान्स हूँ' या मार्क्सवाद जैसी अनेक सर्वग्रासी योजनाओं में समय-समय पर प्रकट होते रहे हैं।

'कालरेखाख्यान (= history)' इसी की सर्जना है। यह मनुष्य के रैखिक अतीत को किसी एक बिन्दु पर दोफाड़ करती है और यह कहती है कि इस बिन्दु से मनुष्य की चेतनावस्था है तथा इसके पहले उसकी अचेतनावस्था थी। इस चेतनावस्था में मनुष्य को ले आने वाला एक संदेसिया होता है जिसके पास एक सन्मार्ग-दर्शी क़िताब होती है, जिसका प्रकाशन उसी एकदेव से हुआ है। इस सन्मार्ग पर चलने से अनन्त सुख और इस पर न चलने से अनन्त दुःख प्राप्त होता है। अब ज़ाहिर है कि जो इस सन्मार्ग पर नहीं चलता वह दुःख को सुख पर वरीयता देने वाला मूढ है और उसे इस मूढता से बाहर निकालना एक सत्कृत्य है, जिसकी सेवा में उपदेश से लेकर शस्त्र तक का प्रयोग वैध है। इसी से 'आलमी मज़हब (= world religion)' की शब्दावली बनती है जिसके न मानने वाले 'पेगन' कहलाते हैं।

यह एकदेव-वाद या अभ्याख्यान अपने को 'चर्च मिलिटैण्ट' में मूर्त करता है और इसका घोष-वाक्य है 'चर्च के बाहर मुक्ति नहीं (= extra Ecclesiam nulla salus)। 'चर्च-निरपेक्षता (= secularism)' इस अभ्याख्यान की दूसरी उपज है। यह एकदेव-वाद को उलटे चश्मे से देखने के द्वारा अपने को परिभाषित करता है और इस प्रकार उसमें उलटा लटकने में अपनी इयत्ता सीमित करता है। कालरेखाख्यान और चर्च-निरपेक्षता, दोनों ही एकदेववाद-संज्ञक अभ्याख्यान के परजीवी हैं, इनके पास अपनी कोई बौद्धिक पूँजी नहीं है और ये किसी वैचारिक विकल्प को प्रस्तुत नहीं करते। ये उतने ही हैं जितना एकदेव-वाद है।

परिणामतः ये सभी उसी सर्वग्रासिता (= totalitarianism) की पुनःप्रस्तुति करते हैं जो एकदेव-वाद की प्रस्तुति है और वैसी ही विश्व-नियन्त्रणा की योजनाओं को सामने ले आते हैं जैसी एकदेव-वाद सामने ले आता है। ये सब गैस-चैम्बर तैयार करने की तकनीकियाँ हैं। हम याद कर लें कि लियोतार ने 'एकदेव-वाद = अभ्याख्यान' से परिचालित होने को 'माडर्न' कहा है और इसी के प्रतिपक्ष में 'पोस्ट-माडर्न' शब्द रखा जो 'पेगन' की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुआ।

इतनी दूर तक मैंने जो कुछ कहा वह 'पेगन' की पश्चिमी समझ के अनुसार है और 'एक बनाम बहुत' की गणनात्मकता से निर्धारित है। अपने इस रूप में भी हमें यह काम्य होना चाहिए और हमें उन कोशिशों के विरोध में खड़ा होना चाहिए जो हमारे सनातन को कालाख्यानात्मक में तथा हमारे उपासना-समभाव को चर्च-निरपेक्षता में घटाने का प्रयास करती हैं। इसके लिए हमें अपने ग्रन्थों को अपने बाप-दादा की तरह पढ़ना होगा जिसका तात्पर्य सीधे-सीधे यह है कि हमारे पुरुषार्थ वेदार्थ से उद्भूत हैं जिन तक पहुँचने का रास्ता हमारे रामायण-महाभारत जैसे इतिहास-ग्रन्थों और पुराणों में निर्दिष्ट है। यहाँ यह नहीं भुलाना चाहिए कि जिन्हें एक प्राचीन शब्दावली का उपयोग करते हुए मैंने अभी 'इतिहास-ग्रन्थ' कहा है वे ही वैकल्पिकतया 'काव्य' कहलाते हैं। भारत एक काव्य-चेतन देश है।

दुर्भाग्यवश अंगरेज़ी शासनकाल में हमारे यहाँ इस काव्य-चैतन्य से रहित ठीक लियोतारी अर्थ में 'माडर्न' वैचारिकता विकसित और वर्चस्व-शाली हुई। एक सूत्र-वाक्य में हम इसे 'मैकाले चैतन्य' कह सकते हैं (जिसका यह अर्थ नहीं कि यह मैकाले के बाद उपजी)। इसके तहत भारत को उसी प्रकार 'सभ्य = यूरोप-सम' बनना था जिस प्रकार रूस बना था। यह ग़ौरतलब है कि इस मैकाले चैतन्य का प्रत्यक्ष उद्देश्य भारत को चर्च-गामी बनाना नहीं था (यद्यपि मैकाले के नीति-पत्र में इसकी आशा व्यक्त की गयी है) अपितु भारतीयों को वह शिक्षा देना था जो इंग्लैण्ड के लोगों को मिल रही थी और इस प्रकार इसके पीछे 'समान अधिकार' का सिद्धान्त भी कार्य-रत था। इसका उद्देश्य हमारा अपकार नहीं था और आज जब हम सिलिकान वैली में अपनी उपस्थिति जैसी उपलब्धियों पर गर्व करते हैं तो इसी मैकाले चैतन्य के प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर रहे होते हैं। किन्तु हमारी सैनिक और राजनीतिक पराजय ने हमें इतना हतप्रभ कर दिया था कि हमने अपना काव्य-चैतन्य तिरस्कृत कर दिया और परदेसी ताक़त की जड़ को परदेसी रहन-सहन तथा परदेसी सोच-विचार में खोजने लग गये।

मैं एक उदाहरण देता हूँ। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पितामह द्वारकानाथ ठाकुर अपनी शाहख़र्ची के नाते 'प्रिन्स' कहलाते थे। इस शाहख़र्ची में अंगरेज़ों के साथ पार्टीबाज़ी भी शामिल थी जिसमें उनके परिवार की भागीदारी अनिवार्य न थी। उन्होंने तत्कालीन ब्राह्मण-समाज के नियमों के विरुद्ध जाकर विदेश-यात्रा भी की जहाँ से लौटने के बाद उनकी माता और उनकी पत्नी ने घर में घुसने से उन्हें मना कर दिया और वे चुपचाप घर के बाहरी हिस्से में रहने लगे तथा पूर्ववत् पार्टीबाज़ी करते रहे। उनकी प्रसिद्धि एक चिन्तक की नहीं है, सिर्फ़ एक रईस की है।

उनके पुत्र देवेन्द्रनाथ अपने अध्ययन और मनन के नाते 'महर्षि' कहलाते हैं। उनके मन में हिन्दू समाज की गहरी चिन्ता थी और वे ब्रह्म-समाज के प्रमुख स्तम्भ थे। इस चिन्ता के तहत उन्होंने पाया कि हिन्दू समाज की अवनति का एक कारण मूर्ति-पूजा है और स्वयं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने घर से सारी मूर्तियाँ बाहर फिंकवा दीं। उन मूर्तियों को लेकर उनके परिवार की एक स्त्री घर से बाहर उसी हिस्से में रहने लगी जिसमें द्वारकानाथ ठाकुर रहते थे। इस 'पितृसत्तात्मकता' को आप आकस्मिक न मानें, यह उनके एकदेव-वाद की अनिवार्य परिणति है जिसे उन्होंने उपनिषदों के गम्भीर अध्ययन के बाद पाया था और इस निर्णय पर पहुँचे थे कि एकमात्र 'ब्रह्म' को मानने वाले हिन्दू किसी भी प्रकार एक ही ईश्वर को मानने वाले ईसाइयों से हेय नहीं हैं। यह उन्होंने कैसे किया? निश्चय ही वे ऐसा इसलिए कर पाये कि उपनिषदों में नाना-त्व का निषेध है और भगवत्पाद ने ब्रह्म की सत्ता के अतिरिक्त सभी सत्ताओं को मिथ्या कहा है। भगवत्पाद ने मूर्ति में विष्णु-त्व की स्वीकृति को भी मिथ्या (= 'अध्याय') कहा है। इन सब बातों ने महर्षि देवेन्द्रनाथ का रास्ता आसान कर दिया। फिर ज़ाहिर है कि उन्हें यह मानने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि सभी धर्म एक ही बात कहते हैं। इसलिए वे चर्च-निरपेक्ष भी थे और अपनी दैनन्दिन उपासना में उन्होंने उपनिषदों के मन्त्रों के अतिरिक्त हाफ़िज़ की ग़ज़ल भी शामिल कर रखी थी जिसका तात्पर्य यह है कि वे यह मानते थे कि औपनिषदिक चिन्तन 'सूफ़ीवाद' से तो संगत है किन्तु मूर्ति-पूजा से नहीं। इस तरह से सोचने पर यह आत्मगौरव सहज उपलबध था कि चूँकि कालरेखा पर उपनिषद् पहले अवतरित हुए इसलिए भारत ज्ञानसूर्य का उदयाचल है। ऐसा ही वंशवृक्ष दाराशुकोह ने भी अपनी पुस्तक मजमअ-उल-बहरैन में बना लिया है कि कुर्आन में सम्पूर्णतया अवतरित होने के पहले उपनिषदों में भी ईश्वरीय ज्ञान अवतरित हुआ था। 'ज्ञान का बाप' खोजने की यह तमन्ना एकदम से नयी भी नहीं थी।

किन्तु उन जैसे चिन्तकों ने एक सवाल नहीं उठाया जो ज़रूरी था- वह यह कि अगर भगवत्पाद मूर्तिपूजा को मिथ्या मानते थे तो उन्होंने इतनी सारी देवस्तुतियाँ क्यों लिखी हैं और बदरीनाथ तथा पशुपतिनाथ जैसे मन्दिरों में अर्चना-पद्धति का निर्धारण क्यों किया है। भगवत्पाद ने ही गृहस्थों की दैनन्दिन चर्या में पंचदेवोपासना- विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, और दुर्गा की उपासना- का प्रचलन करवाया है। वे तान्त्रिक उपासना के भी परमगुरु माने जाते हैं। हम कैसे कह सकते हैं कि वे बहुदेववादी नहीं थे? हमें जो खोजना चाहिए वह यह कि भारत में बहुदेववाद की ऐसी संकल्पना कैसे बन सकी जो नाना-त्व के निषेध की अविरोधी हो? यह खोज शुरू करने के पहले भी हम भाँप सकते हैं कि ऐसा बहुदेव-वाद वह नहीं होगा जिसके विरुद्ध मज़हबी एकेश्वर-वाद हथियारबन्द है। किन्तु इधर ध्यान देने की जगह हमारे प्रतिष्ठित चिन्तक एक ऐसे शास्त्रार्थ में उलझ गये जिसकी बुनियादी शर्तें पूरा करने के लिए ही उन्हें अपने आचार्य-वचनों को तोड़-मरोड़ कर पेश करना पड़ा।

मैं यह मानता हूँ कि अपनी अंगरेज़-परस्ती के बावजूद द्वारकानाथ 'पेगन' थे और अंगरेज़ियत से छुटकारा पाने को बेचैन देवेन्द्रनाथ 'ग़ैर-पेगन' जिनके लिए मैंने ऊपर 'दहशत-ज़दा' का प्रयोग किया है। इस

'दहशत-ज़दा' वर्ग में हमारे बहुत से बड़े नाम शामिल हैं जिनके भरोसे हम आज भारत को उसका 'प्राचीन गौरव' वापस दिलाना चाहते हैं।

तो आप का यह कहना सही है कि जब मैं भारतीय सभ्यता को 'पेगन' कहता हूँ तो इसका कारण 'केवल बहुदेव-वाद' नहीं हो सकता। लेकिन यह इसी अर्थ में सही है कि एकदेव-वाद के विरोध में बहुदेव-वाद को मैं एक गणनात्मक अवधारणा के रूप में नहीं प्रस्तुत कर रहा हूँ। हमें ध्यान देना चाहिए कि 'पहाड़ खड़े हैं' और 'घोड़े खड़े हैं' में 'खड़े हैं' एक ही बात नहीं कहता- 'घोड़े खड़े हैं' में यह कहा जा रहा है कि घोड़े इस समय चल नहीं रहे हैं जब कि पहाड़ खड़े हैं' का तात्पर्य यह है कि वे अपने स्वरूप में हैं। ऐसा ही विवेक 'बहुदेव-वाद' का तात्पर्य समझने के लिए भी आवश्यक है।

वस्तुतः जब मैं भारतीय सभ्यता को 'पेगन' कहता हूँ तो मेरे मन में 'एक-त्व' या 'बहुत्व' की गणनात्मकता नहीं है, 'अ-द्वैत' है जो गणनात्मकता पर आधरित न होकर अ-गणनीयता पर आधारित हैं। मैं इसे स्पष्ट करने का प्रयास करता हूँ।

अद्वैत- प्रतिपादन के लिए हमारे आचार्य श्रुति को ही प्रमाण मानते हैं किन्तु उससे अविरोधी स्मृति, युक्ति, आदि का भी सहारा लेते हैं। कालिदास का मेघदूत भी प्रमाण-वाक्य के रूप में अमलानन्द सरस्वती ने ब्रह्मसूत्र की अपनी परिमल-नाम्नी व्याख्या में दिया है। तो इस प्रमाण-संग्रह को पढ़ने-समझने के लिए कुछ मार्ग-दर्शन भी हमारे आचार्यों ने किया है। अप्पय्य दीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंग्रह में यह सवाल उठाया है कि अद्वैत के कुछ आचार्य एक ही जीव मानते हैं तो कुछ अनेक जीव मानते हैं, कुछ ईश्वर को जीव से भिन्न मानते हैं तो कुछ के मत में ईश्वर भी एक जीव ही है, इस प्रकार उनमें अनेक मतभेद हैं। फिर अद्वैत का सिद्धान्त क्या है? इसका उत्तर उन्होंने यह दिया है कि आचार्यों का तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान करना है न कि अपनी बतायी प्रक्रिया को स्थापित करना; जिसको जिस प्रक्रिया से ज्ञान हो जाय उसके लिए वही प्रक्रिया स्वीकार्य है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में सृष्टि-प्रक्रिया अलग-अलग तरीक़ों से बतायी गयी है, किसी में जल की उत्पत्ति पहले है अग्नि की बाद में, किसी में अग्नि की पहले है, जल की बाद में, तो फिर कौन-सी सही मानें? इसका उत्तर यही है कि उपनिषद् का तात्पर्य सत्य ब्रह्म का ज्ञान कराना है न कि मिथ्या जगत् का, अतः जिस प्रक्रिया से जगत् का परिचय प्राप्त हो जाय उसी को स्वीकार कर लेना चाहिए। झुटपुटे में रस्सी देख कर कोई कहता है कि यहाँ साप है, कोई कहना है कि यहाँ माला है, प्रकाश दिखाने पर वे दोनों ही जान जाते हैं कि यहाँ रस्सी है, तो क्या प्रकाश दिखाने वाला यह बताता है कि यहाँ साँप था या माला थी? जिसे साँप नज़र आया वह भी जान गया कि यहाँ रस्सी है, जिसे माला नज़र आयी वह भी जान गया कि यहाँ रस्सी है, अब अगर वे प्रकाश दिखाने वाले से यह जानना चाहें कि यहाँ साँप था या माला थी तो यह फ़ैसला करना प्रकाश दिखाने वाले का काम नहीं है, वह तो यही कह सकता है कि चाहे तुम्हें साँप दिखा चाहे माला दिखी, दोनों ही मान्य हैं किन्तु है तो रस्सी ही।

तो जब गीता में भगवान् कृष्ण यह कहते हैं कि ''सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज (= सभी धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण में आ जाओ)'', तो हमारा कोई टीकाकार इसका यह अर्थ नहीं बताता कि सब मन्दिरों से मूर्तियाँ फिंकवा कर केवल पार्थसारथी कृष्ण की मूर्ति लगे जबकि सभी आलमी मज़हब ऐसी ही किसी घोषणा से प्रारम्भ करते हैं और इसका अर्थ यह बताते हैं कि तुम अपने उपास्य की उपासना छोड़ो और मेरे द्वारा बताये गये उपास्य की उपासना करो। हमारी मान्यता है कि ब्रह्म नीरूप है और उपासक की रुचि के अनुसार उपासना हेतु रूप-धारण करता है, यह उपासक की रुचि है कि वह इस उपास्य को धनुर्धारी राम के रूप में अवतरित करे या वंशीधारी कृष्ण के रूप में। तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष-बाण लेहु हाथ, तो ठीक है भई, मैं वंशी फेंकता हूँ, और धनुष-बाण पकड़ लेता हूँ, न तो मेरे हाथ में वंशी थी, न धनुष-बाण है, तेरी आँख को जैसा अच्छा लगे, मुझे देख।

भगवान् राम के एक उपासक सूरकिसोर जी हुए हैं। ये मिथिला-वासी थे और अपने को जनक मानते हुए भगवान् को अपना दामाद मानते थे। वे अयोध्या तक जाते थे किन्तु उसकी सरहद के भीतर कभी नहीं घुसते थे क्योंकि हमारे लोकाचर में अनेक लोग बेटी की ससुराल इसलिए नहीं जाते थे कि ऐसा करने में उसके गाव का पानी पीना पड़ सकता है और बेटी का धन खाना वर्जित है, इसी आचार के अधीन अनेक लोग दामाद का छुआ भोजन नहीं ग्रहण करते। कहते हैं कि उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर एक बार भगवान् राम प्रकट हुए और उनसे कोई वर माँगने को कहा। सूरकिसोर जी ने अस्वीकार कर दिया क्योंकि दामाद से कुछ लेने पर वे नरकगामी होते। सूरकिसोर जी के पुत्र प्रयाग दास जी इस रिश्ते को निभाते हुए जानकी जी को बहिन और अपने को 'भगवान् राम का साला' बताते थे तथा भक्त-समाज में 'मामा प्रयाग दास' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी ये पंक्तियाँ बहुविदित हैं:

नीम के नीचे खाट पड़ी है, खाट के नीचे करवा
प्राग दास अलमस्ता सोवै, राम लला का सरवा।।

हमारे निकट अतीत में भी भगवान् राम की एक उपासिका उन्हें कौसल्या-भाव से पूजती थीं और इस हैसियत से भगवान् के डायपर नियमित रूप से बदलती थीं। एक और उपासक थे जो अपने को गुरु वसिष्ठ मानते थे और इस हैसियत में पूजा के समय माला पहले खुद पहनते थे तथा बाद में भगवान् की मूर्ति को आशीर्वाद-स्वरूप पहनाते थे। यही हमारा 'बहुदेव-वाद' है और हम इसी अर्थ में बहुदेव-वादी है। हमारे यहाँ परम तत्व नीरूप है इसलिए हम मूर्तिपूजा को मिथ्या मानते हैं, किन्तु जब वह उपास्य है तब वह हमारी इच्छा के अनुसार रूप-धारण करने को विवश है। हमसे बढ़ कर कौन जानता है कि पत्थर की मूर्ति देवता नहीं है, उसे हमने ही गढ़ा है। हमारे यहाँ कहावत ही है, मानो तो देव, नहीं पत्थर। किन्तु पत्थर में हम देवता का अभ्यास नहीं कर सकते, पत्थर को देवता मान नहीं सकते, इसे हम नहीं स्वीकार करते।

कुछ समय पूर्व अख़बारों में ऐसे चित्र छपे थे जिनमें बहुत सी महिलाएँ 'कोरोना मैया' की पूजा करती दिख रही थीं और उनकी मूढता पर हमारे बुद्धिजीवियों ने प्रचुर मात्रा में आन-लाइन बत्तीसियाँ निपोरीं। क्या वे स्त्रियाँ स्वास्थ्य-विभाग द्वारा चलाये गये टीकाकरण अभियान का विरोध कर रही थीं जैसा अमेरिका जैसे कुछ देशों में टीका लगवाने को विकल्प मानते हुए उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से समीकृत करके कुछ लोगों ने किया? भारत में ताक़त की सबसे निचली सीढ़ी पर ढकेला हुआ आदमी भी कृषि से लेकर चिकित्सा तक के किसी क्षेत्र में आधुनिक विद्वत्परिषद् के सभी आग्रहों का स्वागत करता है बशर्ते कि उसे कोई दूसरी ताक़त पारलौकिक या इहलौकिक भय दिखा कर उन आग्रहों से दूरी बनाने पर उसे विवश न करे। किन्तु हम 'साइन्टिफ़िक टेम्पर' को पेनिसिलिन के इन्जेक्शन की तरह नहीं घोंप सकते। मनुष्य को अपने देवता ईजाद करने की छूट होनी चाहिए, दिये गये मज़हबी खाँचों के बीच आवाजाही को धार्मिक स्वतन्त्रता मानना-मनवाना कपट के अतिरिक्त कुछ नहीं।

तो जैसा मैंने कहा, हम बहुदेव-वादी हैं क्योंकि हम अपने देवता ईजाद कर सकते हैं। हम कालिदास के मेघदूत में उल्लिखित महाकाल की अर्चना की भी स्वतन्त्रता माँगते हैं और 'एड्स देवी' तथा 'कोरोना मैया' की अर्चना का भी। हमारे देवताओं की संख्या अनन्त-शक्य (= potentially infinite) है, जब हम उनकी संख्या 'तैंतीस करोड़' बताते हैं, तो हम यही कह रहे होते हैं।

यहाँ मैं आपका ध्यान 'तान्त्रिक उपासना' पर समास में छप चुके अपने एक लेख की ओर दिलाना चाहता हूँ। उसमें मैंने विद्यारण्य स्वामी की पंचदशी से एक उद्धरण दिया है जिसके अन्तर्गत उन्होंने कहा है कि पेड़, पत्थर, नदी, हल, कुल्हाड़ी, सभी ईश्वर हैं किन्तु इनको पारमार्थिक सत्य मान कर इनके बीच विवाद करने वाले सर्वथा भ्रम में रहते हैं। सत्य तो अद्वैत ही है। यह अद्वैत ज्ञानस्वरूप है, जब हम ब्रह्म से अपनी अभिन्नता को पहचान लेते हैं, हमें इस संसार का मिथ्या-त्व स्पष्ट हो जाता है। इस नाते मूर्ति-पूजा से लेकर ब्रह्म-साक्षात्कार तक सब कुछ अपने को ही पहचानना है जिसके नाते योगवासिष्ठ में एक स्तोत्र दिया हुआ है जिसकी टेक है: ''मह्यमेव नमो नमः (= मुझे ही बार-बार नमस्कार है)''।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हम शरीरवान् की शरीर के धर्माधर्म से संलिप्तता से इनकार करते हैं। पुराणों में कथा आती है कि जब विष्णु ने वराह अवतार धारण करके धरती को उबारा तो कुछ देर वराह-शरीर में ही रह गये और देवताओं ने यद्यपि बारहा याद दिलाया कि देवकार्य समाप्त हुआ, अब इस देह से निकलें, इसी वराह-शरीर के सुखभोग में लगे रहे। अन्ततः भगवान् शिव ने शरभावतार धारण किया और उनकी वराह-काया का संहार किया।[३] किन्तु हम देह और देही में अन्तर करने वाले लोग हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में मधु-काण्ड के अन्तर्गत ब्रह्म को 'मधु' कहा गया है। अब जब

३. कुछ जगह वराह-अवतार की जगह नृसिंह-अवतार का उल्लेख है और बताया गया है कि हिरण्यकशिपु के वध के बाद भी विष्णु अपना रौद्र रूप नहीं समेट पा रहे थे। बात वही है, वराह वाली कथा में शरीर के काम-वश हो जाने की ओर इशारा है, नृसिंह वाली कथा में शरीर के क्रोध-वश हो जाने की ओर इशारा है, नृसिंह वाली कथा में शरीर के

क्रोध-वश हो जाने की ओर। यही बात गुरु गोरखनाथ वाली उस कहानी में भी है जिसमें उन्होंने ''जाग मछिन्दर गोरख आया'' की गुहार लगा कर अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को योगिनियों से बचाया था।

हमारे आचार्यों का देह-विचार एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है, उसे मैं यहाँ नहीं छेड़ रहा हूँ।

दुर्गासप्तशती में महिष-वध के पूर्व देवी महिष से कहती हैं ''गर्ज गर्ज क्षणम्मूढ मधु यावत् पिबाम्यहम् (= हे मूढ, तू थोड़ी देर गरज ले, जब तक मैं मधु-पान करती हूँ'', तो इसमें हम यह संकेत पाते हैं कि अज्ञान के नाश हेतु ब्रह्मविद्या को आत्मसात् करना होता है, किन्तु जो उपासक यहाँ 'मधु = शराब' समझ कर शराब की आहुति देते है, उनको पथभ्रष्ट मान कर उनको दण्डित करने के लिए हमने कोई व्यवस्था नहीं बनायी है क्योंकि यदि किसी श्रद्धा देवी में है, तो वह चाहे जैसे भी व्यक्त हो, अन्ततः वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले ही जायेगी। आज चाहें, तो लियोतार के 'मुल्यों का बहुदेव-वाद (= polytheism of values)' की बग़ल में इसे रख सकते हैं किन्तु उसके बिना भी बात समझ में आनी चाहिए। तत्व-ज्ञान के लिए कोई एक ही राह है, यह हमारे यहाँ कभी नहीं स्वीकार किया गया।

तकनीकी तौर पर हम कहते हैं कि ब्रह्मसूत्र का शांकर-भाष्य केवलाद्वैती है और श्रीकण्ठ का भाष्य (शिव) विशिष्टाद्वैती, किन्तु अप्पय्य दीक्षित ने श्रीकण्ठ-भाष्य पर अपनी टीका में बताया है कि इस विशिष्टाद्वैत का पर्यवसान अद्वैत में ही है। अद्वैत ही तत्व है किन्तु शिवकृपा के बिना अद्वैत-वासना नहीं जागृत होती। इस अर्थ में शिवोपासना, अर्थात् कोई भी प्रतीकोपासना, आवश्यक मानी गयी है। इसी अर्थ में हम मूर्तिपूजक हैं।

विद्यारण्य स्वामी ने कहा है कि माया कामधेनु है और ईश्वर तथा जीव इसके दो बछड़े हैं, ये माया का द्वैत-रूपी दूध पी कर चाहे जितना बढ़ सकते हैं, किन्तु तत्व तो अद्वैत ही है। शृंखला चाहे लोहे की हो चाहे सोने की, स्वतन्त्रता उसको तोड़ने से ही मिलती है। रुद्र एक हैं कि ग्यारह? दोनों उत्तर स्वीकार्य हैं और 'न एक, न ग्यारह' भी, क्योंकि रुद्र गणना के परे हैं। हमारे यहाँ 'गणदेवता' की परिकल्पना यही बताती है, आठ वसु हैं, दो सौ तुषित, चौंसठ आभास्वर। फिर आप तय करते रहिए कि सूर्य एक है कि बारह हैं, वायु एक है कि उनचास हैं।

'निश्चय' करना अन्तःकरण की एक वृत्ति का काम है जिसे 'बुद्धि' कहते हैं। किन्तु अन्तःकरण परिसीमन और बन्धन के द्वारा जीव को परिभाषित करता है। याद रखने की बात है कि 'करण' का अर्थ 'इन्द्रिय' होता है जिनके माध्यम से हम कुछ करते हैं। 'अन्तःकरण' मन और बुद्धि जैसी उन इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होता है जो हमारी हाथ-पाँव, आँख-नाक जैसी बाह्य इन्द्रियों से भिन्न हैं। 'अहम्' और 'अहंकार' में अन्तर इसी अन्तःकरण के नाते है- 'अहम्' ममेतर को अ-पारमर्थिक मानना है जबकि 'अहंकार' मामकीकरण है जिसके तहत धृतराष्ट्र ने भगवद्गीता के प्रथम श्लोक में संजय से लड़ाई का हाल पूछते हुए अपने पुत्रों को 'मामक' कहते हुए उन्हें 'पाण्डव = पाण्डु-पुत्रों' से अलग किया था और जब अर्जुन ने तीसरे अध्याय में भगवान् से पूछा कि आप कभी कर्म करने को कहते हैं, कभी कहते हैं कि नहीं करना

चाहिए, निश्चय करके मुझे बताइये, तो वह इसी 'बुद्धि' से परिचालित था। भगवान् के पूरे उपदेश को सुनकर के ही उसका 'संशय' दूर होता है और वह कहता है कि जैसा आप कहते हैं वैसा ही करूँगा। यह अहंकार मायात्मक होता है और इसमें से 'कार' के विलोपन को ही तत्व-ज्ञान कहते हैं। मिर्ज़ा बेदिल का यह बेहद खूबसूरत शेर इसी बात को कहता है:

अ़दम-म दाद ज़ि जौलाँगह+ए+दिलदार सुराग़
ख़ाक+ए+रह गश्तम +ओ+नक़्श+ए+क़दमे पैदा शुद।।

['मेरे' विलोप ने ही मेरे माशूक़ की सैरगाह का पता दिया। विलुप्त हो कर मैं राह की धूल बन गया और (उस धूल में उस माशुक़ के) क़दमों के निशान उभर आये।]

हमें याद रखना चाहिए कि माया त्रिगुणात्मिका है और 'गुण' का अर्थ है बन्धन। द्वैत-वासना इसी 'तिरगुन फाँस' का नाम है। इसलिए सत्व में आबद्ध व्यक्ति को रजस् या तमस् में आबद्ध व्यक्तियों पर हँसने का कोई अधिकार नहीं है, गुण (= बन्धन) के पार जाना लक्ष्य हे न कि एक गुण से मुक्ति पा कर दूसरे गुण में आबद्ध होना।

इसी अर्थ में हम मूर्तन को मिथ्या मानते हैं और चाहे तो कोई इस पर सीना फुला सकता है कि हम मूर्तिपूजक नहीं हैं। किन्तु यह हमें मूर्तियाँ तोड़ने का अधिकार नहीं देता और न ही उसे हमारा कर्तव्य निर्धारित करता है। इसका यह अर्थ नहीं कि द्वैत-वासना का भारत में कोई उदाहरण ही नहीं है। कुछ वैष्णव ऐसे हैं जो शिव को जीव मानते हैं और शिवमूर्ति को प्रणाम करने से इनकार करते हैं। यह वही बात है कि ख़ालिक़ को सिजदा फ़र्ज़ है लेकिन मख़लूक़ को सिजदा गुनाह है, और उसी द्वैत-वासना से परिचालित है। सौभाग्यवश ऐसे मताग्रह हमारे यहाँ हाशिये पर ही रहे हैं, और राजदरबारों में प्रतिष्ठा-प्राप्ति हेतु स्वमत के माहात्म्य-कथन के रूप में ही स्वीकार्य रहे।

मैं इस बात को कालिदास के एक श्लोक से और स्पष्ट करना चाहता हूँ:

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषाम्प्रथमावरत्वम्
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ।।

[एक ही मूर्ति तीन में बँटी है, इन तीनों में ही 'पहले होना' और 'पीछे होना' एक ही साथ मौजूद हैं। कभी विष्णु से शिव पहले होते हैं कभी शिव से विष्णु, कभी ब्रह्मा ही इन दोनों से पहले होते हैं और कभी ये ही दोनों ब्रह्मा से पहले होते हैं।]

यह कुमारसम्भव के सातवें सर्ग का चौवालीसवाँ श्लोक है। इसे प्रकाशिका नाम की टीका में प्रक्षिप्त माना गया हे क्योंकि यह 'नायक-प्रभाव' का अंग नहीं है- अर्थात् चूँकि इस काव्य के नायक शिव हैं इसलिए उनका उत्कर्ष ही कवि को दिखाना चाहिए किन्तु यहाँ उन्होंने नायक की बराबरी में दो और बिठा दिये। इसका खण्डन करते हुए विवरण नाम की टीका में कहा गया है कि इस श्लोक से तो नायक का परमोत्कर्ष

सूचित होता है क्योंकि यह उनके परमेश्वरत्व को बता रहा है। विवरण में समझाया गया है कि जैसे बच्चों के खेल में कभी एक बच्चा राजा बन जाता है और दूसरा उसका मन्त्री, फिर दूसरी बार खेलते हुए जो पहले मन्त्री बना था वह राजा बन जाता है और जो पहले राजा बना था वह मन्त्री बन जाता है, किन्तु इससे यह नहीं तय होता कि उन दो बच्चों में कौन अधिक महत्वशाली है, उसी प्रकार एक क्रीडाभाव से ही यह सृष्टि-स्थिति-संहार का विधान भी देखना चाहिए- पार्थक्य केवल अभिनेता को दी गयी भूमिका में होता है और किसी अभिनेता को उसके द्वारा किये गये अभिनय के आधार पर किसी वास्तविक मुक़दमे में आप जवाबदेह नहीं ठहरा सकते। संक्षेप में, हमें 'रील लाइफ़' और 'रियल लाइफ़' में अन्तर करना सीखना चाहिए और यह स्वीकार करना चाहिए कि किसी अभिनेता को अगर एक फ़िल्म में हीरो का रोल मिला है तो दूसरी फ़िल्म में वह 'कैरेक्टर' का भी रोल पा सकता है।

इस 'रील लाइफ़' को ही अद्वैत-सिद्धान्त में 'व्यावहारिक सत्ता' कहा गया है और 'रियल लाइफ़' को 'पारमार्थिक सत्ता' कहते हैं। जब हम कहते हैं कि ब्रह्म सत्य है तो हमारा यह कहना है कि ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है, जब हम कहते हैं कि जगत् मिथ्या है, तो हमारा कहना है कि जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। इन दोनों सत्ताओं का घालमेल ही द्वैत-वासना है।

कालिदास ने यह श्लोक क्यों लिखा है? प्रसंग यह है कि भगवान् शिव देवी पार्वती से विवाह हेतु बरात लेकर आये हैं और इस श्लोक के पहले वाले श्लोक में कहा गया है कि कन्यापक्ष की ओर से भगवान् विष्णु तथा भगवान् ब्रह्मा उनके स्वागत में जयघोष करके उनकी महिमा बढ़ा रहे हैं। अवश्य ही कालिदास ने पाया कि कुछ लोग इस अभ्यर्थना का यह तात्पर्य निकालेंगे कि उन्होंने यहाँ त्रिमूर्ति में तारतम्य स्थापित करते हुए शिव को सर्वश्रेष्ठ बताया है। ऐसा कोई भ्रम न हो, इसीलिए उन्होंने यह लिखा है। इससे हमारे आधुनिक साहित्य-चिन्तकों को यह तय करने में असुविधा होगी कि कालिदास शैव थे या वैष्णव, किन्तु जैसा कि प्रकाशिका टीका से स्पष्ट है, ऐसा कुछ पुराने लोगों में भी समझा गया है और 'तारतम्य' के निर्वाह को इस श्लोक के माध्यम से खण्डित करने का दोष कालिदास पर एक साहित्य-शास्त्रीय मान्यता के आधार पर लगाया भी गया। विवरण टीका ने साहित्य-शास्त्र के अखाड़े में उतर कर इस अरोप का खण्डन कर दिया है। किन्तु कालिदास को यह लिखना पड़ा इससे यह तो साबित होता ही है कि द्वैत-वासना से अभिभूत लोग भारत में प्राचीन समय में भी रहे हैं।

इस प्रकार यह न समझना चाहिए कि जब मैं भारतीय सभ्यता को 'पेगन' कहता हूँ तो इसका तात्पर्य यह है कि मैं यह दावा कर रहा हूँ कि भारत में ग़ैर-पेगन लोग रहे ही नहीं हैं। आख़िर आलमी मज़हब किसी रिक्ति में तो उपजे नहीं। नीत्शे ने जब 'अपोलो बनाम डायोनिसस' की बात उठायी है तो उन्होंने 'पेगन' ग्रीक अतीत में ही 'पेगन' और 'ग़ैर-पेगन' दोनों की मौजूदगी की बात की है। मैं भारतीय सन्दर्भ में 'पेगन = अद्वैत-वासना' और 'ग़ैर-पेगन = द्वैत-वासना' की शब्दावली का प्रयोग करूँगा।

तो जिसे मैंने अभी 'रील-लाइफ़' या 'व्यावहारिक सत्ता' कहा है, उसके अन्तर्गत हम सभी द्वैत-वासना से परिचालित होते हैं। यह द्वैत-वासना ही हमारा दैनन्दिन अनुभव है। भला हममें से कौन यह अनुभव करता है कि वही अन्य जीव है, या वही ईश्वर है? इस द्वैत-वासना के स्वीकार के लिए किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नहीं, यह हम अपने बल पर ही मानते हैं। हम अपने से भिन्न और अधिक शक्तिशाली ईश्वर को स्वतः स्वीकार करते हैं। व्यवहारतः हम सभी द्वैत-वादी हैं। शास्त्र से प्राप्त ज्ञान तो अद्वैत-वासना को ही जगा सकता है और हमें इस व्यावहारिक सत्ता में डूबे रहने से उबार कर पारमार्थिक सत्ता की ओर उन्मुख करा सकता है।

मैंने ऊपर कहा है कि यह अद्वैत गणनात्मकता को बहुत से घटा कर एक पर ले आना नहीं है। इस बात को ठीक से समझना चाहिए। एक अद्वैत वह है जिसमें सारी सत्ताएँ अस्तित्वहीन हैं, यह 'अ-भावाद्वैत' कहलाता है। एक अद्वैत वह है जिसमें हमारी सत्ता सभी सत्ताओं से पृथक् है, या यों कहिए कि सभी सत्ताएँ हमारे अनुभव से बाहर हैं, यह 'भावाद्वैत' कहलाता है। ये दोनों ही अद्वैत गणना पर आधारित हैं। भारत में ये अद्वैती भी रहे हैं, कहा जाता है कि बौद्ध अ-भावाद्वैती हैं और योगी भावाद्वैती। द्वैत, भावाद्वैत, अ-भावाद्वैत, ये सभी गणना पर आधारित हैं। किन्तु जब मैं अ-द्वैत कह रहा हूँ तो मेरा तात्पर्य उस अ-द्वैत से है जिसे हम शांकर अद्वैत के नाम से जानते हैं और जो कभी-कभी 'पूर्णाद्वैत' या 'केवलाद्वैत' के नाम से जाना जाता है। यह गणना पर आधारित नहीं है, इसका मानना है कि एक ही पूर्ण है, गणनात्मकता की सर्जना करने वाली आगे की सारी गिनतियाँ 'रील लाइफ़' की गिनतियाँ हैं। 'एक' कोई शुरुआत नहीं है, एक पारमार्थिक है, शुरुआत व्यावहारिक। इसे ही 'अजात-वाद' कहते हैं, किसी का जन्म ही नहीं हुआ तो मृत्यु कहाँ से होगी, बन्धन कहाँ से होगा और मोक्ष कहाँ से होगा। उस पूर्ण सत्ता में ही सभी सत्ताएँ अध्यारोपित हैं।

इस पूर्णाद्वैत या अजात-वाद के मूर्धन्य ग्रन्थ योगवासिष्ठ (निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध, सर्ग २१) में काकभुशुण्डि ने महर्षि वसिष्ठ से अपने दीर्घ जीवन का बयान करते हुए कहा है :

गरुडवाहनं विहगवाहनं विगहवाहनं वृषभवाहनं
वृषभवाहनं गरुडवाहनं कलितवानहं कलितजीवितः।।

[(मैंने एक लम्बी ज़िन्दगी जी है और अनेक बार) मैंने विष्णु को ब्रह्मा होते, ब्रह्मा को शिव होते, शिव को विष्णु होते अपनी ज़िन्दगी में देखा है।]

यद्यपि हमारे आधुनिक चिन्तक इसे अतार्किक बतायेंगे कि अनेक महाप्रलयों और सृष्टियों को काकभुशुण्डि अपने इकलौते जीवन में देख सकते हैं, यह ठीक वही बात है जो कालिदास ने कही है। हम भी यही कह रहे होते हैं जब हम राम-कथा की विभिन्न प्रस्तुतियों में मौजूद आँकड़ों के बीच का फ़र्क़ समझाते हुए यह कहते हैं कि ये विभिन्न कल्पों में होने वाले रामावतार की कथाएँ हैं क्योंकि रामावतार तो प्रत्येक

कल्प की प्रत्येक चतुर्युगी के त्रेता में होता है। इसी अनन्त-पुनरावर्ती समय-संकल्पना को हम 'चाक्रिक' बता कर सेमिनारों में यह कहते हैं कि भारतीय काल-चिन्तन उन अन्य संस्कृतियों के काल-चिन्तन से भिन्न है जो काल को 'रैखिक' मानते हैं। किन्तु इन ज्यामितीय चित्रणों के माध्यम से किस प्रकार काल की चक्रात्मकता अद्वैत-वासना को और काल की रैखिकता द्वैत-वासना को रूपायित करती है इस पर हम ध्यान नहीं देते। पुनर्जन्म की अवधारणा भी इसी प्रकार अद्वैत-वासना को रूपायित करती है।

मैं फिर दुहराता हूँ कि पूर्णाद्वैत गणनात्मकता पर आधारित नहीं है। चाहने पर, जिसे मैंने अभी तक भारतीय 'बहुदेव-वाद' कहा है, उसे 'अदेव-वाद' भी कह सकते हैं क्योंकि हमारा मीमांसा-शास्त्र घोषित करता है कि देवता स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते, वे उन मन्त्रों के बाहर सत्ताहीन हैं जिनका आश्रय ले कर हम उनके लिए यज्ञ करते हैं। एक तरह से वे एक 'भाषिक क्रीडा' की निर्मिति हैं।

मैंने अभी 'भाषिक क्रीडा' शब्द का इस्तेमाल किया। आप चाहने पर लियोतार के language game की बग़ल में इसे रख सकते हैं और किसी जर्नल में छापे जाने योग्य एक परचा भी तैयार कर सकते हैं। मैंने यह स्वीकार करने में कभी संकोच नहीं किया कि मेरे मन में कुछ 'उत्तर-आधुनिकतावादी' चिन्तकों के प्रति सम्मान का भाव है और अगर मेरी स्मृति धोखा नहीं देती तो हिन्दी के सेमिनारों में शायद मैंने ही उन लोगों का ज़िक्र करना शुरू किया था। किन्तु जहाँ भी मैंने भारतीय चिन्तन को पश्चिमी चिन्तन के रू-ब-रू रखा है, मेरा उद्देश्य यह जताने का नहीं रहा है कि 'हमारे यहाँ यह भी था'। मैं वेदों में मानवाधिकार या क़्वान्टम फिज़िक्स, या वहदत-उल-वुजूद खोजने के सर्वथा विरुद्ध हूँ। मेरे ऐसे पार्श्व-टिप्पनों को आप ऐसा कौतुक भी मान सकते हैं जिसका उद्देश्य डालर का भाव रुपये में बताने वाला टेबुल तैयार करना नहीं है, किन्तु मैं यह ज़रूर जानना चाहता हूँ कि आख़िर वह कौन सा तर्क है जिसके अधीन हिन्दी साहित्य के छात्र को विखण्डन-सिद्धान्त (= Deconstruction Theory) पढ़ाना तो उचित माना गया है किन्तु शब्द-बोध की किसी भी भारतीय प्रविधि से परिचित कराना ग़ैर-ज़रूरी समझा गया है। जितने भी मज़हबी खाँचे आज हमें 'धर्म' कह कर पेश किये जाते हैं, सब इसी द्वैत-वासना से परिचालित हैं। वर्तमान पश्चिमी चिन्तन में जिस 'अन्य (= other) की बात उठती रहती है, वह इसी द्वैत-वासना को व्यक्त करने का एक तरीक़ा है। इस 'अन्य' की उपस्थिति के बिना ये खाँचे तैयार नहीं हो सकते। परिणामतः इनमें उस 'अन्य' का भय भी अनुस्यूत होता है और भय-प्रसूत द्वेष तथा हिंसा भी उनकी तामीर करते हैं। जिस प्रकार रस्सी में दिखने वाले साँप का विष किसी भी प्रतिविष से नहीं दूर हो सकता, उसी प्रकार यह भय भी 'पड़ोसी से प्यार करो' जैसे उपदेशों से दूर नहीं हो सकता क्योंकि पड़ोसी है तो 'अन्य' ही चूँकि वह एक चौहद्दी से परिभाषित राजनीतिक इकाई है और तब उससे अपनी चौहद्दी बचानी भी है और अगर मुमकिन हो तो उसकी चौहद्दी में घुसपैठ भी कर लेनी चाहिए ताकि अपनी चौहद्दी कुछ और फैल सके। अकारण ही नहीं कौटल्य ने अर्थशास्त्र में पड़ोस के राजा को 'अरि' कहा है।

हमारे उपनिषद् घोषित करते हैं, ''द्वितीयाद् वै भयम् (= दूसरे से ही भय होता है)'' और याज्ञवल्क्य जनक को अ-भय होने का उपदेश करते हैं। यदि आप मूर्ति-पूजक हैं तो आप देख सकते हैं कि प्रायः प्रत्येक मूर्ति का एक हाथ अभय-मुद्रा में होता है। इसी द्वैत-वासना से प्रसूत भय से मुक्ति के लिए हमारा बहुदेववाद प्रयत्नशील है।

किन्तु हमें पढ़ाया जाता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती को ज्ञान इसलिए हुआ कि उन्होंने देखा कि गणेश-मूर्ति पर चूहे दौड़ रहे हैं और गणेश जी अपनी 'रक्षा' नहीं कर पा रहे हैं। यह कौन सी शिक्षा है? गणेश जी को हिन्दुओं ने उनकी चूहे मारने की शक्ति के नाते देवमाला में प्रथम पूज्य रखा है?

अस्तु, मैं समझता हूँ कि मैंने भारतीय सभ्यता को जब 'पेगन' कहा है तो उसके अन्तर्गत 'भारतीय बहुदेव-वाद' के बारे में अपनी समझ को कुछ हद तक मैं बता पाया हूँ। किन्तु 'पेगन' का अर्थ-विस्तार कुछ अन्य दिशाओं में भी है। मै। इसकी समकालीन अर्थच्छटाओं की बात नहीं करूँगा और मेरे दिमाग़ में pagan diet या neopaganism जैसी चीज़ें नहीं हैं। मैं इसके पुराने इस्तेमाल की ही बात कर रहा हूँ। 'पेगन' दो चीज़ों का प्रतिपक्ष था, वह 'ईसा का लश्करी (= Soldier of Christ)' नहीं था और वह 'खुदावन्द के शहर (= City of God)' का शहरी नहीं था। ग़ैर-लश्करी और ग़ैर-शहरी होने की ये छवियाँ भी हमारी भारतीयता में उपस्थित हैं। 'विश्व-विजय' हमारा लक्ष्य नहीं रहा है। हमने कोई लश्कर कहीं नहीं भेजा है, यहाँ तक कि जिस एकमात्र पन्थ-बौद्ध धर्म- ने भारत के बाहर पहुँच बनायी, उसने भी ऐसा शस्त्रबल के आधार पर नहीं किया, जब कि आलमी मज़हब अपने फैलाव के लिए लश्कर ज़रूर भेजते हैं। हमारी बौद्ध ग्रन्थ-राशि तिब्बती, चीनी, जापानी, आदि में अनूदित की गयी है किन्तु हमने कोई 'किताब' बाहर नहीं भेजी है। हमारे आचार्यों का तो यह दावा है कि ''अवचनम्बुद्धवचनम् (= बुद्ध ने कुछ कहा ही नहीं)'' (तथागतगुह्यसूत्र)। आचार्य नागार्जुन माध्यमिककारिका में लिखते हैं, ''न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद्धर्मो बुद्धेन देशितः (= भगवान् बुद्ध ने कहीं भी किसी को भी किसी भी धर्म का उपदेश दिया ही नहीं)। हम कैसे मान लें कि बुद्ध एक पैग़म्बर थे?

अम्बेडकर जी ने जाति-व्यवस्था में जो दोष गिनाये हैं उनमें एक यह भी है कि इसने हिन्दू धर्म को एक आलमी मज़हब बनने से रोक दिया- हम किसी को हिन्दू नहीं बना पाते क्योंकि सवाल यह उठ जाता है कि इस नौ-हिन्दू को किस जाति में शामिल करें। मेरे ख़याल में बात इतनी सीधी नहीं है और मघों (= शाकद्वीपी ब्राह्मणों) तथा शकों का समावेशन आदि इसके विरुद्ध जाते हैं। विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के बारे में भी यही कहा जाता है कि मुहम्मद तुग़लक ने होयसल साम्राज्य की पराजय के बाद उसके दो सामन्तों-हरिहर और बुक्क- को मुसलमान बना लिया था जिनकी हिन्दू धर्म में 'घर-वापसी' करके उनसे विद्यारण्य स्वामी ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना करवायी। किन्तु अम्बेडकर जी का यह कहना बिलकुल सच है कि हिन्दू धर्म एक आलमी मज़हब नहीं है क्योंकि ऐसे उदाहरण विरल हैं और प्रायः एक मन्थर सामाजिक स्वीकृति के या कभी-कभार विद्यारण्य स्वामी जैसे महापुरुषों के व्यक्तिगत प्रताप के सूचक हैं तथा

किसी ऐसी सरल और उजागर उन-सांख्यिकीय प्रविधि को नहीं बताते जैसी आलमी मज़हबों को उपलब्ध है। अगर यह जाति-व्यवस्था के नाते है तो मेरी समझ में यह जाति-व्यवस्था का एक हितकारी प्रभाव माना जाना चाहिए। सनातन में 'अन्य' की अवधारणा नहीं है, इसलिए 'अन्य' को 'स्व' में बदलने की कोई तकनीकी भी कल्पित नहीं की गयी है।

ग़ैर-शहरी होने का मतलब भी समझना चाहिए। 'राधा नागर' किस अर्थ में 'नागर' हैं? निश्चय ही अपने नगर-निवास के नाते नहीं, जिसके जीवन में मथुरा और द्वारका की जगह नहीं है और जो वृन्दावन-विहारी के साथ विहार के अतिरिक्त उनके भौतिक ऐश्वर्य की सहचारिणी रही नहीं, उन्हें हम 'शहरी' तो कदापि नहीं मान सकते। वे 'नागरी' हैं किन्तु किसी ऐसे अर्थ में जो निकुंज-लीला से, यमुना के कछार से, और उन बारह वनों से संगत है जिनके बीच वृषभानु और नन्द बसे हुए हैं।

'शहर' क्या है? बाइबिल में हज़रत आदम के दो बेटों- आबेल और केन - की कथा दी हुई है। केन अपने भाई आबेल की हत्या के लिए जाना जाता है। इसी केन ने 'शहर' की शुरुआत की है जो 'देहात' के प्रतिपक्ष में उभरा। 'खुदावन्द के शहर' की गौरवमय उपस्थिति रोमन सम्राट् थिओडिसस

यहाँ हम देखते हैं कि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'नगर' शब्द की व्युत्पत्ति ऊषसुषिमुष्कमधो रः (अष्टाध्यायी ५-२-१०७) सूत्र पर कात्यायन के वार्तिक नगपांसुपाण्डुभ्यश्च के आधार पर है। 'नग' का तात्पर्य है 'वृक्ष' और 'पर्वत'। 'नगर' उस जगह को कहेंगे जहाँ बहुत से पेड़ हों और बहुत से पहाड़ हों। इससे किसी ऐसी जन-संकुल जगह का तात्पर्य कैसे निकलता है जहाँ अट्टालिकाओं और राजमार्गों की भरमार हो, यह बताना आसान नहीं है। 'नगर' और 'ग्राम' कभी-कभार पर्यायवाची भी समझे गये हैं- (कुमारसम्भव के सातवें सर्ग के पचासवें श्लोक में) कालिदास लिखते हैं कि बरात ले कर शिव जी हिमवान् के 'नगर' गये, टीकाकार विवरण में अगले ही श्लोक का अर्थ समझाते हुए लिखते हैं कि वे हिमवान् के 'ग्राम' गये। 'ग्राम' की व्युत्पत्ति 'भोजन करना' का अर्थ देने वाली 'ग्रसु' धातु से करते हैं और इस प्रकार 'ग्राम' वह जगह ठहरती है जहाँ खाने-रहने को मिल जाय। बहरहाल, यह सत्य है कि 'नगर' से वैदग्ध्य और कला-नैपुण्य जुड़े हुए हैं तथा 'नागरिक' का प्रतिपक्ष 'ग्रामीण' भी रहा है।

मैं फिर लियोतार की ओर मुड़ता हूँ और उनके एक निबन्ध Lessons in Paganism[4] की ओर आपका ध्यान दिलाता हूँ। 'पेगन' शब्द को पश्चिमी चिन्तक 'pagus' से बना मानते हैं जो 'polis' अर्थात् 'शहर' की शहर-पनाह के बाहर की जगह थी जहाँ ये 'ग़ैर-शहरी' पेगन रहते थे। इसके लिए संस्कृत शब्द 'उपकण्ठ' है किन्तु कुमारसम्भव (सप्तम सर्ग, श्लोक ५१) देखने से सिर्फ़ इतना पता लगता है कि यह बस्ती से बाहर की जगह थी जहाँ निकल कर नगर-वासी आगन्तुक का स्वागत करते थे- इसके निवासी 'ग़ैर-शहरी' होते थे, ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता। शहर-पनाह इनकी घुसपैठ से बचाने के लिए नहीं थी।

इस सिलसिले में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि संसार के अन्य लोगों की तरह ही हमारे भी नगर राजशक्ति और अर्थशक्ति के केन्द्र रहे हैं किन्तु इनकी काम्यता हमारे यहाँ सीमित रही है। मनुष्य-जीवन का तीन-चौथाई ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, और संन्यास- हमारी परिकल्पना में नगर-वास से असम्बद्ध रहा है और बचे हुए एक-चौथाई, अर्थात् गार्हस्थ्य, से न केवल जीविका अपितु सम्मान का

४ The Lyotard Reader (edited by Andrew Benjamin) Blackwell Pubishers, 1989 में संकलित

भी अधिकारी रहा है। इस गार्हस्थ्य में भी, उच्चतम सम्मान के अधिकारी-ब्राह्मण- के पास जीविका का मुख्य साधन भिक्षाटन निर्धारित था। कहने के लिए राहिबों (= monks) और दरवेशों के उदाहरण कोई दे सकता है किन्तु सच यही है कि इनका महत्व उसी हद तक रहा है जिस हद तक ये राजसत्ता के अनुषंग के रूप में एक संघटित शक्ति की हैसियत से अपनी भूमिका निभाते रहे हैं। यहाँ ऐसे संघटन नहीं रहे हैं, यहाँ तक कि उत्तर-मध्य काल में साधुओं की जो सेनाएँ बनीं, वे भी केवल किराये पर उपलब्ध टुकड़ियों के रूप में ही बन पायीं।

हर हाल में, 'प्रान्तीय (= provencal)' के प्रति जो तिरस्कार पश्चिम में रहा है, वह भारत में अनुपस्थित था। राजशेखर ने जिस कवि-सभा का उल्लेख किया है उसमें देशभाषा के कवि भी उपस्थित होते थे।

लियोतार के जिस निबन्ध का मैंने अभी उल्लेख किया उसमें दिये गये पेगनों के कई अभिलक्षण हमारे अभिलक्षणों के सिलसिले में विचारणीय हैं। हम देखते हैं कि उन पेगनों की देवमाला देवों के ताक़तवर होने से परिभाषित है। यहाँ जिन देवों से धन और रक्षा की याचनाएँ की जाती रही हैं, उनकी ताक़त के बारे में किसे सन्देह हो सकता है किन्तु हम पाते हैं कि इन्द्र हमेशा इस चिन्ता में रहते हैं कि कोई प्रतापी मानव सौ अश्वमेध न कर डाले और उनका इन्द्र-पद न छीन ले। हम देवों को धमकियाँ भी देते रहते हैं। रेणु जी के एक उपन्यास- जहाँ तक याद है, परिती परिकथा- में एक व्यक्ति देवी को एक 'पचरा' गाकर तुष्ट कर रहा है जिसके अन्त में वह कह रहा है कि अगर देवी ने उसकी बात नहीं मानी तो फिर उनकी कोई पूजा नहीं करेगा। मैंने कई जगह बृहदारण्यकोपनिषद् से वह अंश उद्धृत किया है जिसमें यह कहा गया है कि मनुष्य देवों के पशु हैं- यदि देवार्चन के फलस्वरूप मनुष्य को सुख प्राप्त होता है तो देव भी अपने पोषण के लिए मनुष्यों की अर्चना पर आधारित हैं। चारे के बदले में दूध का यह विनिमय एक व्यावसायिक विनिमय है जिसकी चाक्रिकता से छुटकारा ही अद्वैत है। आपको लग सकता है कि मैं लोक-मानस की बात कम और शास्त्र-चिन्तन की बात अधिक कर रहा हूँ किन्तु भारत में शास्त्र और लोक में आवाजाही किसी अधिकार-पत्र की मुहताज नहीं रही है। उदाहरण के लिए रामचरितमानस हिन्दी समाओचना के सारे प्रयासों के बावुजूद अभी लोक-मानस से विस्थापित नहीं हुआ और उसमें गोस्वामी जी सहज भाव से लिखते हैं कि देव स्वार्थी होते हैं। यह प्रसंग तब का है जब रावण-वध के बद देवगण भगवान् राम की स्तुति करने आये हैं और गोस्वामी जी हमें याद दिलाते हैं कि ये वही देव हैं जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए भगवान् के

राज्याभिषेक में विघ्न डालते हुए उन्हें वन में भटकने और विविध कष्ट सहने के लिए बाध्य किया। बिना उपनिषद् पढ़े लोग कैसे इन देवों को स्वार्थी मान लेते हैं?

हमारी मिथकीय संकल्पना देवों और दैत्यों को भी मनुष्य की तरह योनियों के रूप में स्वीकार करती है जिनके बीच रिश्तेदारियाँ मुमकिन हैं: देवराज इन्द्र की पत्नी पौलोमी पुलोमा नामक दैत्य की बहिन हैं और उनकी पुत्री जयन्ती शुक्राचार्य नामक ऋषि की पत्नी है जिसकी सन्तान देवयानी का विवाह ययाति नामक मनुष्य राजा से हुआ है तथा जिसकी सौत शर्मिष्ठा नाम की दैत्य-पुत्री है। देव अन्ततः सृष्टि के ही अंग हैं अतः उसी आख्या (= narration) की उपज हैं जिसकी उपज मनुष्य हैं- जिस प्रकार मनुष्यों के लिए मोक्ष काम्य है उसी प्रकार देवों के लिए भी।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि चूँकि वेद अ-पौरुषेय हैं अतः जिस आख्या की बात मैंने अभी की है, उसको मनुष्य-कृत नहीं मान सकते। किन्तु हम इस पर तो ध्यान दे ही सकते हैं कि सृष्टि को 'अद्वैत = अजात-वाद' के अनुसार चित्त ही रचता है और चित्त-नाश ही सृष्टि का विलोप है। अन्ततः आख्या ही सर्जना है।

'आख्या' एक काव्य-चेतना है जिसके साथ 'छल' अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। 'छल' भी लियोतार के इस निबन्ध में चर्चित है। हमारे यहाँ छल एकतरफ़ा नहीं है, न केवल देव मनुष्यों को छलते हैं और इन्द्र गौतम ऋषि का वेष धारण करके गौतम-पत्नी अहल्या का शीलभग्न करते हैं अपितु मनुष्य भी अश्वमेध यज्ञ की मन्त्रसम्पदा में से गणानां त्वा ... निकाल कर उससे गणपति की पूजा कर सकते हैं। कौशाम्बी-राज उदयन का पुत्र नरवाहन दत्त विद्याधरों का राजा बन सकता है और इन्द्र समेत छह देवता कुन्ती-पुत्र बन सकते हैं। अवतार की अवधारणा न केवल विष्णु को पशु और मनुष्य के शरीर धारण करने पर बाध्य करती है अपितु दादू जी को सनक ऋषि का अवतार भी बताती है- आवागमन का लोकस्वीकृत स्वरूप इस अवधारणा को साधारण मनुष्यों तक बढ़ाता है।

देह-परिवर्तन का वस्त्र-परिवर्तन से यह साम्य वस्तुतः देह की अवधारणा को ही एक छल के रूप में प्रस्तुत करता है और हम सबको वेष परिवर्तन करते हुए अभिनेता बताता है। इस 'नट-कल्पना' को जो शास्त्रीय आधार प्राप्त हैं- उदाहरण के लिए शिवसूत्र का प्रथम सूत्र ''नर्तक आत्मा (= आत्मा एक अभिनेता है)''- उनको मैंने अनेकत्र अपने लेखों में दिया है किन्तु हम इतना तो बहुत आसानी से देख सकते हैं कि जो लोग शिव को 'नट-राज' और कृष्ण को 'नट-वर' कहते हैं, वे सृष्टि को एक नाटक के रूप में समझते हैं और इस प्रकार एक काव्य-चैतन्य से चेतन हैं।

आपके इस प्रश्न का उत्तर अब बहुत लम्बा खिंच रहा है और इसमें संवाद की जगह एकालाप की गन्ध आने लगी है। मैं यहाँ अब विराम लेना चाहता हूँ किन्तु उसके पहले एक बात कहना चाहूँगा। मैंने ऊपर 'आख्या (= narration)' समीकरण दिया है। इसे आप एक अंगरेज़ी शब्द का अनुवाद करने की

लालसा मान सकते हैं। किन्तु हमारे यहाँ एक शब्द है 'ख्याति' जिसका अनुवाद अंगरेज़ी में इसका शास्त्रीय तात्पर्य समझाते हुए error किया जाता है किन्तु जिसे मैं narration के बर-अक़्स उसके एक अ-पर्यायवाची के रूप में रखना चाहता हूँ। हम सत्य को एक 'ख्याति' के माध्यम से ही देख पाते हैं जिसकी कई सैद्धान्तिक प्रस्तुतियों में से मैं केवल 'अनिर्वचनीय ख्याति' का नाम यहाँ लूँगा। 'ख्याति' अनिर्वचनीय है क्योंकि यह न तो 'है' और न ही 'नहीं है'। 'ख्याति', 'आख्या', 'आख्यान' , 'संख्या', ये सभी एक ही मूल धातु से व्युत्पन्न शब्द हैं। हम 'पेगन' हैं तो इसी 'ख्याति' को स्वीकार करने के नाते। यह हमारा कौशल भी है और हमारी सीमा भी। इसी 'ख्याति-चेतना' को मैंने ऊपर 'काव्य-चेतना' कहा है। हमारी दुनिया एक ख्याति है।

उदयन : मैं सोचता हूँ कि जिसे हम 'पेगन सभ्यता' कहते हैं उसमें ऐसा कुछ होता ही नहीं जिसे दैवीय न स्वीकार किया जाय या जो सत्य न हो। लेकिन वह दैवीय या सत्य, अविद्या से आवृत रहता है। कलाएँ और साहित्य कुछ क्षणों के लिए अविद्या के इस आवरण को अनावृत करते हैं और क्षण भर या कुछ अधिक के लिए पाठक मायिक वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में अनुभव कर लेता है। मानो क्षण भर के लिए माया के ऊपर पड़ा परदा हट गया हो। इस तरह की पेगन दृष्टि रेनेसाँ के बाद की यूरोपीय कला में भी, कम-से-कम चाहना के स्तर पर, पायी जा सकती है। हमारे समय में पेगन चेतना किन रूपों में उद्घाटित होती आपको नज़र आती है? एक का ज़िक्र आपने किया है- मिर्ज़ा बेदिल की कविता। एक और का ज़िक्र आप लियोतार के हवाले से कर रहे हैं- उत्तर-आधुनिक कलाएँ और चिन्तन।

वागीश जी : मैं आपके प्रश्न की चिन्ता और उसकी पूर्व-पीठिका से पूर्ण सहमत होते हुए भी उसकी शब्दावली पर कुछ स्पष्टीकरण के साथ ही प्रारम्भ करना उचित मानता हूँ।

हम 'दैवीय' शब्द से प्रारम्भ कर सकते हैं। इसका तात्पर्य ईश्वर का स्वातन्त्र्य और जीव का पारतन्त्र्य लिया जाता है, अर्थात् यह कि मनुष्य स्वयं कुछ नहीं करता, अपितु उससे सबकुछ ईश्वर ही करवाता है। मैं इस तात्पर्य को ग़लत नहीं कहता और इसके समर्थन में बहुत से शास्त्रीय प्रमाण भी दे सकता हूँ। लेकिन इसे जस-का-तस स्वीकार करते ही वह सवाल उठता है जिसे पश्चिम में Problem of the Evil कहा जाता है- यानी यह कि अगर ईश्वर सर्वसमर्थ है तो फिर दुनिया में बुराई है ही क्यों? क्यों ऐसा है कि मनुष्य को उसके पुण्य-पाप के लिए दण्ड मिलता है, अगर वह खुद कुछ करने में समर्थ ही नहीं है?

अतः हम सोचने पर विवश हे कि यह स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य किस अर्थ में है? मान लीजिए हम यहाँ से शुरू करते हैं कि ईश्वर ने यह सृष्टि की। यदि इसका अर्थ यह है कि उसने जगत् का आरम्भ किया, अर्थात् उसके द्वारा सृष्टि के पहिले सृष्टि थी ही नहीं तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि तब उसने मनुष्य को इस लायक़ बनाया ही क्यों कि वह कोई पाप करे और फिर दण्ड भुगते?

भारतीय चिन्तन में इस समस्या को यों प्रस्तुत किया गया है कि यदि सृष्टि-रचना में पूर्णतः ईश्वर-स्वातन्त्र्य को स्वीकार करते हैं तो उस पर 'वैषम्य' और 'नैर्घृण्य' के आरोप लगते हैं, अर्थात् यह सामने आता है कि ईश्वर कुछ जीवों के प्रति उदार होकर उनसे पुण्य करवाता है तथा फलतः उनकी सुख-प्राप्ति का विधान करता है और कुछ अन्य जीवों के प्रति अनुदार होकर उनसे पाप करवा कर उनके दुःखभोग का विधान करता है। यह उसका 'वैषम्य = पक्षपात' हुआ और इससे उसका 'नैर्घृण्य = निर्दयता' भी प्रमाणित है। इसका समाधान यह निकाला गया कि ईश्वर स्वतन्त्र नहीं है।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय का समापन करते हुए इस बारे में जो कुछ कहा गया है उसे मैं भगवत्पाद के भाष्य के अनुसार प्रस्तुत करने का प्रयास करता हूँ। सृष्टि अनादि है, अर्थात् जब भी ईश्वर सृष्टि करता है, उसके पहले हो चुकी सृष्टि संस्कार-रूप में वर्तमान होती है- भले ही उसका प्रलय हो चुका है, वह ऐसा ही है जैसे नमक पानी में घुल कर भी अपनी सत्ता नहीं खोता। इस प्रकार सृष्टि और उसमें के जीव अपने कर्मों के साथ ईश्वर की प्रत्येक सृष्टि के पहले से मौजूद होते हैं, ईश्वर केवल इस अव्यक्त सृष्टि को व्यक्त करता है तथा जीवों को उनके कर्मानुसार फलभोग के लिए प्रकट करता है।

इन सब बातों को समेटने वाला दार्शनिक नाम 'ब्रह्मकारणवाद' है, अर्थात् यह सिद्धान्त कि सृष्टि-स्थिति-संहार का कारण ब्रह्म है, न कि उससे अलग कोई सत्ता जिसे हम 'माया' जैसा कोई नाम दे सकें और इसके अन्तर्गत यह मान्यता शामिल है कि यह सब 'लीलाकैवल्य' है, केवल एक खेल जिसका कोई प्रयोजन नहीं है, अतः यह 'कर्म' नहीं है जिसका कोई फल होता है। इस लीलाकैवल्य को 'आनन्द' भी कहा गया है। इसे आप आलमी मज़हबों द्वारा स्वीकृत सृष्टि-प्रक्रिया के बर-अक्स रख सकते हैं जो एक स-प्रयोजन मनुष्य-केन्द्रित प्रक्रिया है।

आप इस बात को सरलता-पूर्वक समझ सकते हैं यदि आप ऊपर आये एक शब्द 'काव्य-चेतना' की ओर ध्यान दें। जैसा कि आप जानते हैं, वाल्मीकि 'आदि-कवि' हैं तथा रामायण 'आदि-काव्य'। किन्तु हम पाते हैं कि उन्हें वही 'राम-कथा' काव्य-बद्ध करने को मिली है जो उन्हें नारद ने सुनायी है। तो वाल्मीकि क्या करते हैं? वे उस कथा को कहते हैं और इस कहने में ही वह कथा 'सीता-चरित' में बदल जाती है- सीतायाश्चरितम्महत्। सृष्टि केवल यही है, अनादि का काव्य-निबन्धन, न कि कोई 'आरम्भ'। इस अर्थ में ही ईश्वर कवि है और सृष्टि उसकी कविता- देवस्य पश्य काव्यम् न ममार न जीर्यति (अथर्ववेद, १०-८-३२)- देव की इस कविता को देखो जो न मरती है न पुरानी पड़ती है।

इस काव्य-चेतना के तहत ईश्वर-स्वातन्त्र्य का निरास है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह जीव-स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा है। यह एक 'समतल-पीठ (= level playing field)' की रचना कही जा सकती है जिसे अद्वैत का एक सम्प्रदाय इस प्रकार कहता है कि ईश्वर भी जीव है किन्तु बहुत बारीक़ी में न जाकर आप विद्यारण्य स्वामी से उस उद्धरण का स्मरण कीजिए जो ऊपर बातचीत में आ चुका है और जिसमें

उन्होंने कहा है कि ईश्वर और जीव दोनों ही माया-रूपी कामधेनु के दो बछड़े हैं। इन दोनों बछड़ों की कुलेलों का मैदान यही काव्य-चेतना है।

तो जैसे ईश्वर एक कवि है, वैसे ही हम भी हैं। ईश्वर अपने खेल की एक आचार-संहिता बनाता है जिसे 'नियति' कहते हैं और जैसा कि मम्मट ने कहा है, कवि की निर्मिति इस नियति के बनाये नियमों के अधीन नहीं होती। 'कवि की स्वतन्त्रता' यही है जिसे आजकल इस तरह पेश किया जाता है कि कवि यह चुनने के लिए स्वतन्त्र होना चाहिए कि वह किस राजनीतिक दल को सत्तारूढ कराने के लिए अपनी कविता लिखे।

इस 'काव्य-चेतना' को आप चाहें तो उस narration की बग़ल में रख सकते हैं जिसे पेगनों की एक प्रमुख शक्ति के रूप में लियोतार समेत कई पाश्चात्य चिन्तकों ने पहचाना है। किन्तु यह न भूलें कि ये 'पेगन' आलमी मज़हबों के अभ्याख्यानों से कुचले जा चुके जीवाश्मों के रेखावशेषों से अधिक कुछ नहीं हैं।

मैं यहाँ आपको यह याद कराना चाहता हूँ कि अनेक सभ्यताओं में मृत्युदण्ड देने की विधियों में से कुछ ऐसी थीं जो उच्चकुलीनों के लिए सुरक्षित थीं। उदाहरण के लिए मध्यकालीन यूरोप में एक ही वार में सिर का धड़ से अलग करना केवल उच्चकुलीनों के लिए सुरक्षित था- ब्रिटिश सम्राट चार्ल्स प्रथम का सिर इसी तर्क पर एक वार में सिर से अलग किया गया और फ्रांसीसी क्रान्ति ने अपने 'समता-सिद्धान्त' के तहत यह अधिकार सभी तक बढ़ाने के लिए ही गिलोटिन का स्वीकार किया था। तुर्कों और मंगोलों में उच्चकुलीनों का खून नहीं बहाया जाता था- तुर्क सरदारों की जान उनका गला उन्हीं की कमान की डोरी से घोंट कर ली जाती थी तो मंगोल सरदारों की देह को कालीन में लपेट कर उस पर घोड़े दौड़ा देते थे।

आलमी मज़हब पेगनों को धर्मापराधी मानने के नाते उनका नाश करने को प्रतिबद्ध होते हैं और इस प्रक्रिया के लिए उनके द्वारा अपनाये गये उपाय मृत्युदण्ड देने की विधियों के ही रूपान्तर हैं। उन सभ्यताओं की चर्चा न करें जिन्हें 'कुलीन' नहीं माना गया- जैसे अफ़्रीकन, या अमेरिन्डियन - तो यह साफ़ दीखता है कि ग्रेको-रोमन सभ्यताओं को क़ालीन में लपेट कर उन पर घोड़े दौड़ाये गये हैं और भारतीय सभ्यता की साँसें उसी की कमान की डोरी से उसका गला कस कर रोकी गयी हैं। आज हमारे ग्रन्थों के सुसम्पादित संस्करण पश्चिमी पाठशोधन की प्रक्रियाओं से तैयार हुए हैं और उनके अध्ययन के लिए पाश्चात्य अध्ययन-विधियों का ही सम्मान है, प्राचीन टीकाकार अविश्वसनीय माने जाते हैं।

मैंने अभी जो कहा है- अर्थात् ग़ैर-पेगन सभ्यताओं द्वारा पेगन सभ्यताओं को मृत्युदण्ड देना- उसके सिलसिले में आपका ध्यान उस चर्चा की ओर भी जाना चाहिए जो दरीदा के सेमिनारों के मरणोत्तर प्रकाशनों के क्रम में आये मृत्युदण्ड पर दो खण्डों में प्रकाशित उनके चिन्तन ने उकसायी है। इस चर्चा के दौरान नीत्शे की यह बात भी उभर कर सामने आयी कि दण्ड-नीति वस्तुतः एक अर्थनीतिक माडल पर ढाली गयी नीति है- राज्यसत्ता जैसे एक साहूकार के दिये गये क़र्ज़ की अदायगी करवाने में साहूकार की ओर से अपनी

शक्ति का विनियोजन करती है, वैसे ही वह एक पीड़ित की ओर से उस क़र्ज़ की अदायगी करवाती है जो पीड़ा के रूप में पीड़क पर चढ़ा हुआ है।

तो यह क़र्ज़-अदायगी पीड़ा पहुँचाने से ही हो सकती है और इस क्रम में प्रतिशोध को नैतिक और वैधानिक आधार देना ही दण्ड-नीति है जिसका निबन्धन समाज और राज्य का काम बन जाता है। दण्ड-नीति की यह प्रतिशोध-मूलकता पेगन और ग़ैर-पेगन की ख़ेमाबन्दी के पहले की है किन्तु इस ख़ेमाबन्दी के बाद हुआ यह कि ग़ैर-पेगन ख़ेमे अपने ख़ेमे के लिए सारी ज़मीनें तलब करने लगे और किसी भी ऐसी आबादी को जो उनके तहत नहीं आती थी, मात्र इसलिए अवैध घोषित करने लगे कि उसकी जीवन-पद्धति भिनन है। इस अवैधता के नाते पेगन आबादियों पर मृत्युदण्ड लाज़िम माना गया और उसकी वे सभी विधियाँ अपनायी गयीं जिनकी ओर मैंने अभी संकेत किया है।

इस सिलसिले में यह दिलचस्प है कि पीड़ा-हरण का एक सरल उपाय - मुआवज़ा - इस सन्दर्भ में भी अपनाया गया। जैसा कि आपको मालूम है, अतीत और वर्तमान की कई सभ्यताओं में प्राण-हरण समेत बहुत से अपराधों का प्रतिशोधन धन देकर किया जा सकता था। चर्चाधीन सन्दर्भ में यह कि विधर्मी को विधर्मी बने रहने की छूट है बशर्ते कि वह इसके लिए महसूल दे सके। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण 'जिज़या' है किन्तु यदि आप ध्यान से देखें तो धार्मिक गतिविधियों से सारी सरकारी वसूलियाँ वस्तुतः सेक्युलरिज़्म को अदा किये जाने वाले वे महसूल हैं जो ग़ैर-सेक्युलर बने रहने की छूट के लिए तावान के तौर पर जमा करवाये जाते हैं।

हम 'काव्य-चेतना' पर लौटें। नियति के नियमों से रहित यह कवि-निर्मिति निश्चय ही 'देव-हीन- है जिसे आप चाहें तो लियोतार के godlessness की बग़ल में रख सकते हैं जो पेगनों के एक अभिलक्षण के रूप में उन्होंने पहचाना है, किन्तु कुल मिलाकर यह अभ्याख्यान का अस्वीकार ही है। जिसे सामान्य समझ में 'दैव' कहा जाता है उसके लिए हमारे यहाँ का शब्द 'प्रारब्ध' है, हम अपने सुख-दुःख को अपना 'प्रारब्ध' कहते हैं। यह 'प्रारब्ध' क्या चीज़ है? कर्म-सिद्धान्त के अनुसार हमारे कर्म तीन प्रकार के हैं: 'क्रियमाण' वह कर्म है जो किया जा रहा है, 'संचित' वह जो किया जा चुका किन्तु जिसका फल-भोग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ, और 'प्रारब्ध' वह जिसका फल-भोग प्रारम्भ हो चुका है। ईश्वर सृष्टि में जीवों को इसी प्रारब्ध के साथ प्रकट करता है और यही 'प्रारब्ध' दैव है। थोड़े विस्तार के साथ आप यह सब योगवासिष्ठ के मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण की शुरुआत में पढ़ सकते हैं जहाँ 'दैव' और 'पौरुष' की परस्पर टकराहट का वर्णन है।

तो आपका यह कहना सही है कि पेगनों के लिए सबकुछ दैवी होता है किन्तु इसका तात्पर्य भारतीय पेगनों के लिए वही नहीं है जो ग्रेको-रोमन पेगनों के लिए है। भारतीय पेगनों के लिए सृष्टि कोई आरम्भ नहीं है, पुनः-प्रकटन है अतः वे 'दैव' को 'प्रारब्ध' के रूप में पहचानते हैं और यह जानते हैं कि यद्यपि वे

प्रारब्ध को कथमपि परास्त नहीं कर सकते, यदि वे ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित कर सकने में समर्थ हुए तो उनके संचित और क्रियमाण कर्म भस्म हो जायेंगे और जिस प्रकार भुने हुए दाने बीज नहीं बन सकते, उसी प्रकार ये दग्ध कर्म भी फल-भोग को उपस्थित नहीं कर सकते। मोक्ष इसीलिए एक 'पुरुषार्थ' कहलाता है कि पुरुष अपने प्रयास से इस ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित कर सकने में समर्थ है। इसके विपरीत, ग्रेको-रोमन समझ में सृष्टि एक प्रारम्भ है, फलतः उसमें दैव का स्वातन्त्र्य अपने वैषम्य और नैर्घृण्य के सहित वर्तमान है और उस काव्य-चेतना को जन्म देता है जिससे ग्रीक ट्रैजिडी बनती है।

इस ग्रेको-रोमन काव्य-चेतना के बर-अक्स, आलमी मज़हबों का ईश्वर चूँकि क्षमादान की शक्ति भी रखता है, उनमें तौबा करके गुनाहों को माफ़ करवाया जा सकता है, और इस प्रकार एक तरफ़ तो भारतीय पेगन की संकल्पना का ईश्वर उस मुन्सिफ़ से अलग है जो क़ियामत के दिन दोज़ख़ और जन्नत बाँटता है और दुसरी ओर नीत्शे के अर्थ-नीतिक माडल का एक और अध्याय- क़र्ज़-माफ़ी और उसका शर्तनामा- भी खुलता है। यह अ-प्रासंगिक नहीं कि मृत्यु-दण्ड पर सेमिनार के पहले दरीदा का सेमिनार क्षमादान पर था और मैं चाहता हूँ कि इन विषयों पर चल रहे समकालीन पश्चिमी चिन्तन का कुछ ज़िक्र हमारे यहाँ भी हो ताकि 'ग्लोबल सत्ता-विमर्श' के नाम पर जो ख़ाली चुल्लू का उथलापन हिन्दी में लगातार मथा जा रहा है, उसमें कुछ गाम्भीर्य आ सके। किन्तु सम्भवतः यह एक दुराशा मात्र है।

काव्य-चेतना पर लौटें और काव्य-रचना की बात करें। पश्चिम में इस पर विचार हुआ है कि ग्रीक ट्रैजिडी और उत्तर-कालीन ट्रैजिडी में क्या अन्तर है और उसकी बारीकी में घुसने से बचते हुए मैं एक उद्धरण में- जो सम्भवतः डब्ल्यू एच आडेन से है- उसे समेटता हूँ : ग्रीक ट्रैजिडी 'ऐसा ही क्यों है' की ट्रैजिडी है जबकि उत्तरकालीन ट्रैजिडी 'ऐसा ही क्यों है जबकि वैसा भी हो सकता था' की ट्रैजिडी है। इस सन्दर्भ में आप एक जायज़ सवाल उठा सकते हैं : क्या भारत में 'ट्रैजिडी' लिखी गयी है या उसके लिखने की गुंजाइश है?

ज़ाहिर है कि यह सवाल सीधे-सीधे 'दैव' की समझ पर आधारित है और ग्रीक तथा पेगनोत्तर पश्चिमी साहित्य के बारे में इससे निकाला गया नतीजा आडेन से उद्धरण में मैं अभी समेट चुका हूँ। भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में फिर हमारा उत्तर स्पष्ट ही है : जिस हद तक प्रारब्ध है उस हद तक हमारे यहाँ ग्रीक ट्रैजिडी सम्भव है, जहाँ प्रारब्धेतर है, वहाँ हमारे लिए कोई ट्रैजिडी लिखना सम्भव नहीं है।

मैं एक उदाहरण से इसे स्पष्ट करता हूँ जिसे मैंने बहुत पहले अभिज्ञान-शाकुन्तल पर लिखे गये एक लेख में भी दिया था यद्यपि वह लेख मुख्यतः इस नाटक पर लिखी गयी एक ग़लत-बयानियों से भरी किताब की प्रतिक्रिया में लिखा गया था। मैंने उसमें कहा था कि इस नाटक में ऊपर से देखने पर शाप भले ही शकुन्तला को दिया गया है, वस्तुतः यह शाप दुष्यन्त को दिया गया है क्योंकि उसी का स्मृतिभ्रंश होता है और इस शाप का कारण उसकी वह गर्वोक्ति है जिसमें उसने शकुन्तला से कहा है कि इसके पहले कि

शकुन्तला उसकी दी हुई अँगूठी पर खुदे उसके नाम के अक्षरों को प्रतिदिन एक के हिसाब से गिन सके, उसके दूत शकुन्तला को राजमहल ले जाने के लिए आश्रम में पहुँच जायेंगे। यह ठीक वही चीज़ है जिसे hubris कहा जाता है और जो ग्रीक ट्रैजिडी में प्रमुख कारक है। दुष्यन्त का स्मृतिभ्रंश, अँगूठी का खो जाना, फिर उसका मिलना और दुष्यन्त का पश्चाताप और शकुन्तला का विरहिणी-जीवन, यहाँ तक प्रारब्ध है- जैसा कि शकुन्तला ने सातवें अंक में कहा है, पूर्व-जन्म के कर्मों का फल-भोग। इसी प्रारब्ध को रघुवंश में सीता ने भी पहचाना है जब उन्हें राम के आदेश से वन में लक्ष्मण अकेला छोड़ रहे हैं।

'प्रारब्ध' के रूप में दैव को पहचानने का तात्पर्य यह है कि आप न केवल पीड़ित हैं अपितु पीड़क भी आप ही हैं, आप अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं और अपने कष्टों के लिए अपने से इतर देवों को दोष नहीं दे सकते, उनको कोसने या उनके आगे गिड़गिड़ाने की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हैं। जब ईश्वर में न ही वैषम्य है और न ही नैर्घृण्य, तब 'हा दैव' कह कर रोना भी निष्फल है और 'अबकी राखि लेहु भगवान्' की पुकार भी। यदि एक ही कृत्य से गज की प्राणरक्षा भी होती है और ग्राह का शाप-मोचन भी, तो गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्र उनके प्रारब्ध की पटकथा के क्षणविशेष के उन्मीलन का माध्यम मात्र है, वह सूत्रधारीय निर्देश जो ऐन मौक़े पर खलनायक का अभिनय कर रहे अभिनेता को नायक का अभिनय कर रहे अभिनेता से पिटवाता है।

मेरी समझ में दर्द की शिद्दत के लिहाज़ से विपत्ति-भोग के मूल में पराये दैव की बनिस्बत अपने प्रारब्ध को पहचानना अधिक त्रासद है- आप अपने से भाग कर कहाँ जा सकते हैं और वह कौन-सा न्याय-विधान हो सकता है जो आपको अपने से राहत दिला सके? जिन दो कथाओं का मैंने अभी उल्लेख किया उनमें ओत-प्रोत त्रास जन-मानस में उतर चुका है- दुष्यन्त का वह नाम कोई नहीं जानता जिससे उसके चक्रवर्तित्व की मुनादी होती होगी क्योंकि शब्दकोष हमें बताते हैं कि 'दुष्यन्त' नाम तो इस नाते है कि उसने शकुन्तला पर अनुचित दोषारोपण किया, और हमारे अवधी-भोजपुरी क्षेत्र में विवाह-गीत गाते समय भले ही राम जैसा दुलहा काम्य हो, अभी एक पीढ़ी पहले तक कोई अपनी बेटी की शादी अगहन में करने को तैयार नहीं होता था क्योंकि सीता जी का विवाह अगहन में हुआ था। किन ट्रैजिडियों का शोक इतनी गहराई तक पैठा है?

हमारे साहित्य-शास्त्र में काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर मानते हुए रसास्वाद को सर्वथा 'आनन्द-मय' माना गया और इसी को लपकते हुए पश्चिमी तथा उनसे दहशतज़दा आधुनिक भारतीय साहित्य-चिन्तक यह घोषित करते हैं कि भारतीय साहित्य में ट्रैजिडी नहीं है। मैं ऊपर कह आया हूँ कि इस 'आनन्द' को हमें 'लीलाकैवल्य' समझना चाहिए। थोड़ा सा ध्यान 'शोक' पर भी देना होगा क्योंकि एक तरफ़ तो हमारा आदिकाव्य कहता है कि शोक का श्लोक में बदलना ही कविता है- शोकः श्लोकत्वमागतः- और दूसरी तरफ़ हमारा साहित्य-शास्त्र कहता है कि आनन्द ही कविता का प्रयोजन है- काव्यम् ... परनिर्वृतये (मम्मट)।

बृहदारण्यकोपनिषद् (४-३-२२) का भाष्य लिखते समय भगवत्पाद ने कहा है कि शोक, अ-रति, और काम, ये पर्याय-वाची हैं। इस पर ग़ौर करने से हमें काम-दहन की कथा पर सोचने के लिए भी एक राह मिलती है और इसे समझने की भी कि काम की पत्नी का नाम 'रति' क्यों है किन्तु मैं इन मोड़ों को नज़रन्दाज़ करते हुए यहाँ सिर्फ़ साहित्य-शास्त्र की बात करता हूँ। सबसे पहले यह कि आपने सुना ही होगा कि हमारे प्रायः सभी काव्य-शास्त्री श्रृंगार को रसराज मानते हैं और यह भी कि हमारे आधुनिक साहित्य-चिन्तक यह बताते हैं कि देखिए एक 'दूसरी धारा' भी है जिसे आप भवभूति में पा सकते हैं जिन्होंने कहा कि करुण ही मूल रस है। अब मैं आपसे पूछता हूँ कि यदि काम और शोक पर्याय हैं तो श्रृंगार को मूल रस मानने में और करुण को मूल रस मानने में क्या अन्तर है? और यदि अ-रति भी काम का पर्याय है तो अभिनवगुप्त के इस कथन में ही कौन-सा नयापन आ जायेगा कि सभी रसों का पर्यवसान शान्त रस में होता है? क्या ये सभी शब्दपरिवर्तन के साथ श्रृंगार को ही रसराज नहीं कह रहे हैं?

'काम', 'शोक', 'अ-रति', ये किस प्रकार पर्याय हैं? भगवत्पाद कहते हैं कि इष्ट से वियोग ही शोक कहलाता है अतः काम का ही रूपान्तर शोक हुआ (क्योंकि 'कामित' और 'इष्ट' एक ही तो हैं), यदि काम न हो तो शोक क्यों होगा? इसी प्रकार अ-रति भी काम का ही रूपान्तर है। भगवत्पाद यहाँ साहित्य-शास्त्र पर बात नहीं कर रहे हैं किन्तु क्या वे यह नहीं कह रहे हैं कि करुण और शान्त वस्तुतः श्रृंगार के ही बदले हुए नामरूप हैं? इसके आगे भी, आप ध्यान से देखें तो क्रोध के मूल में भी काम ही है, जब कामना की पूर्ति में बाधा पड़ती है तभी क्रोध का उदय होता है और यों हम रौद्र रस को भी श्रृंगार का ही वेष-परिवर्तन कह सकते हैं। इस विवेचन को और रसों तक भी बढ़ाया जा सकता है और मैं समझता हूँ कि रस-सिद्धान्त में श्रृंगार के प्राधान्य की स्वीकृति का कारण यही है चाहे इसे साफ़-साफ़ इस तरह न कहा गया हो। क्या यह अकारण है कि हमारे दो सर्वोपजीव्य काव्य रामायण और महाभारत, क्रमशः करुण और शान्त रस के काव्य माने जाते हैं?

इस परिप्रेक्ष्य में ट्रैजिडी को देखिए। ट्रैजिडी विधाता से आँख मिलाने का नाम है और सवाल यह है कि किसी आँख पहले झपकती है-who blinks first- अगर विधाता की पहले झपकी तो ग्रीक ट्रैजिडी है, अगर आपकी तो पेगनोत्तर पश्चिमी ट्रैजिडी। लेकिन अगर आपने दैव को प्रारब्ध के रूप में पहचाना है तो आप पाते हैं कि जिसे आप विधाता समझ रहे हैं, वह तो आप खुद ही हैं। आप अगर खुद से ही आँख मिला रहे हैं तो किसकी आँख पहले झपकेगी? जैसा कि मिर्ज़ा बेदिल ने कहा है:

हुस्न बे-परवा स्त इँजा, क़ासिदी दरकार नेस्त
ना०+ए+अहवाल+ए+मजनूँ तुर्र०+ए+लैला बस स्त

[हुस्न (= माशूक़) को कोई परवाह नहीं है (कि आशिक़ की क्या दशा है)। यहाँ किसी संदेसिये की ज़रूरत नहीं, मजनूँ का हाल बताने को तो लैला का जूड़ा ही यथेष्ट है (जो अपनी पेचीदगी में मजनूँ की सारी तड़प समेटे हुए है)]

इसलिए ट्रैजिडी का लिखना भी यहाँ अलग है और अगर हमारे यहाँ 'एन्टिगनी' या 'हैमलेट' नहीं लिखा गया तो इसका यह मतलब नहीं कि हमने दैव से सामना नहीं किया, हमने उसे प्रारब्ध के रूप में पहचाना है और भरपूर मुक़ाबिला किया है।

जैसा कि भगवत्पाद ने इसी प्रसंग में कहा है, काम ही कर्म का मूल है। क्या हमने कभी इस पर ग़ौर किया है कि हमारे सारे अवतार क्यों किसी-न-किसी कर्म के परिणाम होते हैं? योगवासिष्ठ हमें बताता है कि नृसिंहावतार में हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद भी विष्णु का क्रोध शान्त नहीं हुआ और उन्होंने एक ब्राह्मणी का वध कर डाला जिसके नाते उन्हें रामावतार में सीता-वियोग सहना पड़ा, स्वयं योगवासिष्ठ की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि एक अन्य कर्म के परिणाम में विष्णु अपनी सर्वज्ञता कुछ समय के लिए खो बैठते हैं और इस अल्पज्ञता के निवारणार्थ ही वसिष्ठ ने राम को वह उपदेश दिया है जो सागवासिष्ठ में संकलित है। प्रारब्ध-भोग की इस अनिवार्यता को ही मैंने ऊपर 'भरपूर मुक़ाबिला' कहा है। इस मुक़ाबिले में उम्मीद और नाउम्मीदी की जगह नहीं क्योंकि लड़ाइयाँ भले ही जीती या हारी जा सकें, युद्ध अनादि है जिसका अन्त तभी होगा जब पक्ष-प्रतिपक्ष, तक़दीर-तदबीर, दैव-पौरुष का द्वैत समाप्त होगा।

लेकिन जब तक द्वैत है, तब तक मुक़ाबिला भी है। यही मुक़ाबिला ग्रीक ट्रैजिडी में दैव से मुक़ाबिला बनकर दैव को शर्मसार होने पर मजबूर कर देता है। ग्रीक पेगन को उसका दैव सिर्फ़ ताक़त के बल पर दबाता है, किसी औचित्य-विधान के तहत नहीं। यहाँ मैं ग्रीक ट्रैजिडी के सिलसिले में एक और बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ।

'ट्रैजिडी' की अनेक व्युत्पत्तियों में से एक पर ग़ौर कीजिए : यह 'बकरे का गीत' है, उस बकरे का जिसकी बलि दी जाने वाली है। ग्रीक पेगनों ने दैव और मनुष्य का सम्बन्ध वही निर्धारित किया जो क़साई और बकरे का है। इस दैवी चरित्र को सटीक तौर पर इस भारतीय व्यंग्योक्ति से समझ सकते हैं :

सिंहान्नैव गजान्नैव व्याघ्रान्नैव च नैव च
अजापुत्रं बलिं दद्याद्देवो दुर्बलघाटकः।।

[सिंहों की बलि नहीं, हाथियों की नहीं, और बाघों की तो बिलकुल नहीं। बकरी के बच्चे की बलि देनी चाहिए! देवता भी कमज़ोर को ही मारते हैं।]

तो यह कमज़ोर की आह है, और बे-असर। एन्टीगनी को आधुनिक पुनर्वाचनों और पुनर्लेखनों में प्रायः क्रेआन की निरंकुश सत्ता का विरोध करती हुई वीरांगना के रूप में समझा गया है किन्तु अगर आप मूल नाटक को देखेंगे तो यह सार्वभौम वंचना की कथा है जिसमें एन्टीगनी और क्रेआन दोनों ही यह नहीं समझ पाते कि देव उनके नाश पर क्यों तुले हुए हैं और मारे जाते हैं- जैसे बकरा नहीं समझ पाता कि वह क्यों मारा जाता है।

बकरे की बलि का विधान भारतीय याज्ञिक प्रक्रियाओं में भी है- उसकी बलि प्रजापति के लिए होती थी और जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् (४-५) में कहा गया है, माया एक बकरी है। मायाजन्य प्रजाएँ मायाजन्य प्रजापति की ही आहुति हैं। आप पूछ सकते हैं कि बकरे को ग्रीक पेगनों के छुरे से न मार कर भारतीय पेगनों के छुरे से मारने पर बकरे को क्या फ़र्क़ पड़ेगा किन्तु यहाँ मुद्दा बकरे के पशु-अधिकारों का नहीं है जैसे एन्टीगनी का मुद्दा मानव अधिकारों का नहीं था भले ही आज उस नाटक का मंचन इस सन्दर्भ में किया जाता है।

यह अधिकार का नहीं, पीड़ा का प्रश्न है। भगवान् बुद्ध ने जब कहा कि दुःख है, तो उनका यह उपदेश नहीं था कि दुःख को सहने से इनकार करना मनुष्य का अधिकार है, उनका उपदेश यह था कि दुःख का कारण है और उससे छूटने का उपाय भी है। 'अधिकार' और 'कर्त्तव्य' एक राजनीतिक निविदा के अंग हैं और दैव की कोई पेगन अवधारणा उसे एक राजनीतिक निविदा के तहत नहीं परिकल्पित करती।

'दैव' पर मैं शायद काफ़ी कुछ कह चुका हूँ। आपके प्रश्न में आयी एक और शब्दावली पर कुछ सफ़ाई देना मेरे लिए ज़रूरी होगा। अविद्या या माया के पास वह आवरण-शक्ति तो रहती ही है जिसका आपने ज़िक्र किया किन्तु एक विक्षेप-शक्ति भी होती है, अर्थात् मन्दान्धकार न केवल रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर परदा डालता है अपितु उसे एक सर्वथा भिन्न वस्तु- साँप के रूप में प्रकट भी करता है। ठीक इसी प्रकार शब्द की वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ बताने वाली शक्ति, जिसके लक्षणा, व्यंजना आदि भेद हम काव्य-शास्त्र में पढ़ते है, वाच्यार्थ पर आवरण डालती हैं और विक्षेप के माध्यम से अन्य अर्थ प्रकट करती है। साहित्य और कला का काम ऐसी ही आवरण और विक्षेप की शक्तियों के विनियोजन से चलता है और इस प्रकार वे भी माया-सदृश से ही कुछ सिरजते हैं। कला-सर्जना को इस आधार पर भी मैं एक समान्तर मायालोक का बनाने वाला मानता हूँ।

आपने यह बिलकुल ठीक कहा कि यूरोपीय रेनेसाँ के समय में ऐसी पेगन चाहना पायी जाती है और इस बात को यूरोपीय रेनेसाँ के अध्येताओं ने बराबर लक्षित किया है कि इस रेनेसाँ के पीछे की प्रेरणा ग्रेको-रोमन पेगन कला की चेतना तक पहुँचने की आकांक्षा है।

जहाँ तक आपके प्रश्न के अन्त में पूछी गयी यह बात है कि बेदिल की कविता या उत्तर-आधुनिक कला-चेतना के अतिरिक्त मैं पेगन सर्जना को कहाँ देखता हूँ, मैं यह स्पष्ट करना आवश्यक मानता हूँ कि कविता का चरित्र ही प्रदत्त अभ्याख्यान को प्रश्नांकित करना है चाहे वह किसी भी समय क्यों न लिखी गयी हो। मिल्टन का 'पैराडाइज़ लास्ट' और गोएटे का 'फ़ाउस्ट' इसलिए नहीं बड़ी रचनाएँ हैं कि वे ईसाई सदसद्विवेक का यथातथ अनुकरण करती हैं, अपितु इसलिए हैं कि वे उस सदसद्विवेक को प्रश्नांकित करती हैं, उसकी सपाटबयानी में रोड़े अटकाती हैं। दुर्भाग्यवश हिन्दी साहित्य में 'पुनर्जागरण' का अर्थ हुआ विक्टोरियन मूल्यों का स्वीकार और 'व्यवस्था-विद्रोह' का तात्पर्य हुआ कुछ पार्टियों के मैनिफ़ेस्टो से

अनुकूलन। इस प्रकार हमारे साहित्य का अधिकांश एक अभ्याख्यान से संचालित होता है न कि किसी अभ्याख्यान के विरुद्ध, और फलतः पेगन सर्जनात्मकता का प्रतिपक्ष बन कर उभरता है।

उदयन : आपने पिछले सवाल के जवाब में शाकुन्तल का ज़िक्र किया, उससे मुझे याद आया कि आप अभिज्ञानशाकुन्तलम् की टीका लिख रहे थे। मैंने उसके कुछ पन्ने पढ़े भी थे। इस टीका को लिखने के पीछे क्या प्रेरणा थी ? आपको पता ही है कि शाकुन्तल की कुछ टीकाएँ पहले ही प्रकाशित हो चुकी हैं। अगर उसके बाद भी आप ऐसे टीका लिखने की ओर प्रवृत्त हुए तो उसका कोई विशेष प्रयोजन अवश्य होना चाहिए।

वागीश जी : आपका कहना ठीक है कि शाकुन्तल की कई टीकाएँ पहले प्रकाशित हो चुकी हैं। मैंने वे सभी देखी हैं। आपके इस प्रश्न का उत्तर भी इसी में निहित है कि मैं एक नयी टीका लिखने की ओर क्यों प्रवृत्त हुआ। इन सब टीकाओं को देखने के बाद जो मुझे लगा उसे मैं इसे क़तए के माध्यम से व्यक्त कर सकता हूँ जो जहाँ तक मुझे मालूम है 'साइल' देहलवी का है:

दर+ए+मयख़ान० चौपट है, तहज्जुद को हुई चोरी
निरे टूटे हुए शीशे, फ़क़त जूठे पियाले हैं
गुमाँ किस पर करे मयकश, इधर वाइज़ उधर सूफ़ी
ख़ुदा रक्खे, मुहल्ले में सभी अल्लाह वाले हैं ।।

[दर+ए+मयख़ान० = शराबख़ाने का दरवाज़ा; शीशा = मदिरा रखने का बर्तन; तहज्जुद = आधी रात को पढ़ी जाने वाली उस अतिरिक्त नमाज़ का समय जिसे विशेष धर्मप्रवण मुसलमान पढ़ते हैं और जो उन पाँच नमाज़ों से अतिरिक्त है जो सभी मुसलमानों को पढ़नी होती हैं; गुमाँ = गुमान = सन्देह; मयकश = शराब पीने वाला जिसके पास शराब पीने की तमीज़ है; वाइज़ = धर्मोपदेशक जो शराब से दूर रहने का उपदेश देते है; सूफ़ी = सांसारिक सुख की ओर से निःस्पृह अध्यात्म-रत त्यागी पुरुष]

टीका लिखने का क्या उद्देश्य होता है? मूल के आशय को स्पष्ट करना, जो उसमें छिपा है, उसको सामने ले आना ता कि पाठक को कुछ सोचने का अवसर मिले। प्राचीन टीकाकार इसी उद्देश्य से लिखते थे, एक नयी टीका लिखने का अर्थ था कि पुरानी उपलब्ध टीका में कुछ कहने से बाक़ी रह गया है जिसे जोड़ना चाहिए, या कहीं कुछ ग़लतफ़हमी है जिसे दूर करना चाहिए। ये टीकाएँ प्रौढ काव्यरसिकों के लिए होती थीं जिनमें टीकाकार अपनी स्थापना के समर्थन में कोश, व्याकरण, और काव्यशास्त्र आदि से प्रमाण देता था किन्तु उसका अपना कोई आग्रह नहीं होता था। शाकुन्तल की नयी टीकाएँ तब लिखी गयीं जब वह कलकत्ता विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में पाठ्यपुस्तक के रूप में निर्धारित हुआ।

इन नयी टीकाओं के आग्रह कुछ और भी थे। मैं एक उदाहरण से इसे स्पष्ट करने की शुरुआत करता हूँ। यह तो शायद आपको मालूम ही होगा कि शाकुन्तल की अनेक वाचनाएँ प्रचलित हैं जिन्हें बंगाली,

मैथिली, देवनागरी, दाक्षिणात्य, काश्मीरी, नेपाली, आदि कहा जाता है और इन वाचनाओं के भीतर भी कई-कई रंगलेख हैं। तो चूँकि कलकत्ता में इसकी आधुनिक पढ़ाई शुरू हुई, इसलिए पहले बंगाली वाचना ही सामने आयी। इसके तृतीय अंक में दुष्यन्त और शकुन्तला के बीच कुछ प्रेमालाप है जिसे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अश्लील माना और वे किसी ऐसी पाण्डुलिपि की खोज में लगे जिसमें अश्लीलता न हो। बताया जाता है कि भारतेन्दु जी ने उन्हें एक पाण्डुलिपि भेजी जो बंगीय पाठ से भिन्न थी। उसने यह अंश संक्षिप्त था। किन्तु विद्यासागर जी की कसौटी पर फिर भी यह खरा न उतरा क्योंकि इसमें इंगुदी शब्द मौजूद था जो बांगला-भाषी कानों में एक अश्लील संकेत भेजता था अतः उन्होंने इसे बदल दिया।

यह एक आधुनिक सम्पादक का साहसिक काम है। किन्तु अन्य सम्पादकों की भी मूल समस्या 'वास्तविक पाठ' तक पहुँचने की रही है और इसकी दो ही तकनीकें सबके पास रही हैं: पहली यह मान्यता कि जो पाण्डुलिपि जितनी पुरानी होगी उतनी ही वह मूल के निकट होगी और दूसरी यह समझ कि कालिदास जैसा महाकवि कैसा लिखता होगा। ज़ाहिर है कि दूसरी तकनीक में 'समसामयिकता' की बड़ी भूमिका रही है और पहली मान्यता में यह भुला दिया गया है कि जो पाण्डुलिपि सोलहवीं शताब्दी की है वह हो सकता है कि किसी आठवीं शताब्दी की पाण्डुलिपि की उत्तराधिकारिणी हो और इस प्रकार किसी चौदहवीं शताब्दी की पाण्डुलिपि से प्राचीनतर पाठ को बताती हो।

मेरी समझ में इन तकनीकों का अच्छा उपयोग प्रो शारदारंजन राय, प्रो गजेन्द्र गडकर, और प्रो रमेन्द्र वसु के संस्करणों में हुआ है तथा सबसे अधिक परिश्रम के साथ पहले न इस्तेमाल की गयी पाण्डुलिपियों के आधार पर पुनर्ग्रथित (= reconstructed) संस्करण प्रो दिलीप कुमार कान्जिलाल ने १९८० में निकाला था यद्यपि कलकत्ता संस्कृत कालेज की निष्क्रियता के चलते यह संस्करण उचित सम्मान के साथ छापा नहीं गया। उनका आग्रह था कि बंगाली वाचना प्राचीनतम है। ये सभी सम्पादन अंगरेज़ी माध्यम में हैं और अब प्रायः सभी दुर्लभ हो चले हैं।

इधर प्रो वसन्त कुमार भट्ट ने कुछ और पाण्डुलिपियों के आधार पर कई संस्करण निकाले हैं तथा पाँच प्रमुख वाचनाओं- काश्मीरी, मैथिली, बंगाली, देवनागरि, और दाक्षिणात्य- के साथ अपना एक पुनर्ग्रथन भी एक ही जिल्द में अीाी २०२० में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान से निकाला है। उनका यह आग्रह है कि काश्मीरी वाचना प्राचीनतम है। संस्कृत के दो-चार रसिक शायद उनकी पीठ ठोंक दें किन्तु भारत का वर्चस्वशाली वर्ग इतना संस्कृत-द्वेषी है कि मुझे नहीं लगता कि उनकी इस साधना को उल्लेख-योग्य भी माना जायेगा।

कई विद्वानों ने राघव भट्ट की प्राचीन टीका के साथ अपने टिप्पन जोड़कर छापा है, इनमें सबसे समादृत संस्करण प्रो काले का है। पुराने अन्दाज़ में लिखी गयी टीकाओं में जीवानन्द विद्यासागर और न्यायपंचानन की टीकाएँ तथा कुछ बाद में लिखी गयी एक बहुत अच्छी टीका किशोरकेलि नाम से हैं। मेरे

अपने छात्र-जीवन में जो संस्करण मैंने पढ़ा था वह हिन्दी माध्यम में था और सम्भवतः वह किशोरकेलि ही थी जिसमें प्रो तैलंग के बहुत अच्छे टिप्पन थे। प्राचीन टीकाओं में मुझे श्रीनिवासाचार्य की टीका बहुत अच्छी लगती है यद्यपि उसका बहुत प्रचार नहीं हुआ।

मैंने जब टीका लिखने की सोची तो सभी 'तकनीकों' को छोड़ दिया और यह मान कर चला कि कालिदास के हस्त-लेख को खोज निकालने की ललक व्यर्थ है। तब यही रास्ता बचता था कि सभी पाठों को समान आदर दिया जाय और एक समावेशी पाठ स्वीकार किया जाय जिसमें जो कुछ कालिदास का लिखा माना गया है, वह सब एकत्र हो और अगर किसी पद्य के एक से अधिक पाठ उपलब्ध हैं तो उनमें से एक को अपनी समझ के अनुसार स्वीकार करके अन्य पाठान्तरों पर भी विचार हो। मैं सभी वाचनाओं और रंगलेखों को एक अप्राप्य रंगलेख पर टीकाएँ ही मान कर चला, जिसमें पुनर्वाचना की पुनर्वाचना की पेगन तड़प थी, न कि सभी पुनर्वाचनाओं को विनष्ट करके किसी मूल को खोज निकालने का गरबीला उत्साह- जैसे हज़ारों साल तक सम्पूर्ण भारत की सर्जनात्मक मेधा ने इस नाटक से लगातार अनुप्राणित होते हुए एक गौरव-वास्तु की साज-सँभाल की हो। तब मुझे इस नाटक का एक पुनर्ग्रथन करते हुए अपने पूर्वजों के इस रचनात्मक दुलार को समझना था, न कि कोई उत्खनन। यह एक simulation की तमन्ना थी, a collage from copies of a non-existing original ।

यह 'ग्रहणशील पुनर्ग्रथन (= eclectic reconstruction)' की पद्धति कोई नयी नहीं है किन्तु मेरा दृष्टिकोण बहुत विनम्र था और उसमें भारतीय रचनात्मकता की परख की लालसा थी, न कि पाठोद्धार या पाठ-सुधार की। आप कह सकते हैं कि मेरे लिए कालिदास सम्पूर्ण भारत की कला-साधना की रूपाकृति थे, न कि कोई एक नाटककार। मेरे सोचे गये बहुत से कामों की तरह यह भी अधूरा ही रहा और उन सभी अधूरे कामों की तरह ही इसमें भी मुझे पढ़ने-सोचने का खूब मौक़ा मिला किन्तु उस टीका की भूमिका के रूप में लिखा गया एक कोई सौ पृष्ठों का अंगरेज़ी में लिखा गया अप्रकाशित निबन्ध मौजूद हे जिसमें कुछ बातें आ गयी हैं।

उस निबन्ध में मैंने एक स्थापना सामने रखी थी जिसका उल्लेख यहाँ कर देता हूँ। वह यह थी कि अभिज्ञानशाकुन्तल प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की नींव में है और इसके शीर्षक को 'अभिज्ञान = शकुन्तला' पढ़ना चाहिए जहाँ कि 'अभिज्ञान' का अर्थ ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का सम्मिलित रूप है जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है। इस सोच के साथ मेरी जानकारी में इस नाटक पर काम नहीं हुआ है यद्यपि भारतीय परम्परा में कालिदास क्रमदर्शन के एक दुर्बोध ग्रन्थ चिग्दगनचन्द्रिका के लेखक माने जाते हैं और उनके देवीस्तोत्र भी समादृत हैं।

लेकिन मैं आपसे पलट कर एक सवाल पूछता हूँ। आपने पूछा है कि 'इतनी टीकाओं के रहते हुए' मैंने एक टीका लिखने की क्यों सोची। यह सवाल कभी शेक्सपियर के बारे में किया गया है जिसके नाटकों

के अध्ययन की एक इण्डस्ट्री ही है? कभी किसी ने पूछा है कि 'एन्टीगनी' के पचासों पुनर्वाचन और पुनर्लेखन क्यों होते चले आ रहे हैं? हिन्दी के आलोचक अपनी मित्रमण्डली के साहित्य से फ़ुरसत पाते हैं तो मुक्तिबोध को हिन्दी का आदि कवि बताते हैं। हमारे साहित्यचिन्तन की ऐसी सीमा क्यों है?

उदयन : आप यह ठीक कह रहे हैं कि हिन्दी आलोचना का दायरा निरन्तर सीमित होता जा रहा है। वहाँ कब कौन-सा कवि आदिकवि हो जाये, इसका ठिकाना नहीं। पर हम उस ओर जाने की जगह कुछ और देर कालिदास पर ही ठहरे रहें। आपके उपन्यास में भी कालिदास का अनुपस्थित ग्रन्थ केन्द्र में है। संयोग से वह उपन्यास भी लिखा जा रहा है। क्या अब उस ग्रन्थ और उपन्यास के विषय में कुछ कहेंगे?

वागीश जी : आपने उपन्यास की चर्चा करके एक दुखती रग को छेड़ा क्योंकि मेरी अधूरी लेखन-योजनाओं में से शायद यह एक है जिसे मैं पूरा होता देखना चाहूँगा।

सबसे पहले कालिदास का 'अनुपस्थित ग्रन्थ'। वह मशहूर कहानी आपको मालूम ही है जिसके अनुसार विद्योत्तमा नामक राजकुमारी का यह प्रण था कि वह ऐसे विद्वान से विवाह करेगी जो उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर सके और ऐसा कर पाने में असमर्थ पण्डितों ने छल से उसका विवाह कालिदास से करा दिया जो एक अनपढ़ चरवाहे थे और इस हद तक नासमझ थे कि जिस डाल पर बैठे थे उसी को काट रहे थे। सुहागरात को विद्योत्तमा को कालिदास के मूर्ख होने का पता चला तो उसने कालिदास को शयनकक्ष के बाहर ढकेल दिया जिसके बाद कालिदास ने काली-आराधन से कवित्व-शक्ति प्राप्त की जिसके नाते उनका नाम 'कालिदास' पड़ा। इसके बाद वे जब घर लौटे तो विद्योत्तमा ने दरवाज़ा खोलने पर इनसे पूछाः ''अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः? (= क्या कोई ख़ास बात है?)'' और फिर कालिदास ने इसी वाक्य से शब्द लेकर अपने तीन काव्य रचे- कुमार-सम्भव का प्रथम शब्द 'अस्ति' है, मेघदूत का 'कश्चिद्', और रघुवंश का 'वाग्'।

अब कालिदास का एक ग्रन्थ ऋतुसंहार है जिसका प्रथम शब्द 'प्रचण्ड-सूर्य' है किन्तु मुझे एक पाठान्तर में यह 'विशेष-सूर्य' मिला। इसने मेरा दिमाग़ इस तरफ़ मोड़ा कि सम्भवतः कुछ काव्य-रसिक इस कहानी में यह बढ़ाना चाहते हैं कि कालिदास ने विद्योत्तमा के वाक्य के चौथे शब्द 'विशेष' से प्रारम्भ होने वाले एक और काव्य-ग्रन्थ की रचना भी की है। मैंने इस 'अनुपस्थित ग्रन्थ' को केन्द्र में रखकर उपन्यास सोचना शुरू किया।

कालिदास के काव्य-ग्रन्थों में कुछ 'अनुपस्थित' है, यह बात दबे-छिपे ढंग से चली आ रही है। कुमार-सम्भव को 'पूरा करते हुए' उसमें नौ सर्ग जोड़ कर सत्रह सर्गों का एक कुमार-सम्भव बहुत पहले से मौजूद है। रघुवंश में भी उसके प्राप्त उन्नीस सर्गों से कुछ अधिक सर्ग होने की बात की जाती रही है। इन बातों ने मेरा ध्यान इस ओर दिलाया कि मेघदूत एक विरही की ओर से है और कालिदास का लिखा माना गया घटकर्पर एक विरहिणी की ओर से जो मेघदूत का 'पूरक' माना जा सकता है।

इन 'अनुपस्थितियों' और 'पूरकों' के अलावा कालिदास की कई 'उपस्थितियाँ' भी चली आ रही हैं। वे प्राकृत के एक बड़े कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं, काश्मीर-शैव दर्शन के अन्तर्गत क्रम-दर्शन का एक गूढ ग्रन्थ चिद्गगनचन्द्रिका उनका लिखा हुआ माना जाता है, ज्योतिष और छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ उनके नाम पर हैं। विक्रमादित्य और भोज जैसे लोकमानस में बसे हुए राजाओं से उनका जुड़ाव लोकस्वीकृत है। इन सारी उपस्थितियों और अनुपस्थितियों के घालमेल में मुझे एक औपन्यासिक सम्भावना दिखी।

इस सम्भावना की नींव में मैंने एक विदूषकीय जिज्ञासा रखी। रघुवंश में आता है कि वरतन्तु के शिष्य कौत्स ने अपनी शिक्षा के समापन के बाद गुरुदक्षिणा के आदेश हेतु गुरु से आग्रह किया। गुरु ने कहा कि दक्षिणा की कोई ज़रूरत नहीं है किन्तु कौत्स हठ करने लगे जिससे चिढ़ कर गुरु ने उनसे प्राप्य गुरुदक्षिणा को चौदह करोड़ स्वर्णमुद्राओं पर निर्धारित किया। कौत्स महाराज रघु के पास यह चौदह करोड़ माँगने पहुँचे किन्तु देखा कि वे एक यज्ञ में सर्वस्व-दान कर के बैठे हुए हैं। वे लौटने लगे किन्तु रघु ने उनसे प्रयोजन पूछा और जान लेने पर कहा कि आप ख़ाली हाथ लौट कर मेरी बदनामी मत करवाइये, दो एक दिन रुकिए। चूँकि प्रजा कर दे चुकी थी, उस पर अतिरिक्त कर-भार तो लादा नहीं जा सकता था, अतः रघु के सामने धन-उगाही का केवल एक ही मार्ग बचा था, किसी अविजित राज्य पर आक्रमण करके उससे वसूली करना, और पृथिवी पर कोई अविजित राज्य बचा न था अतः उन्होंने स्वर्ग पर आक्रमण करने की सोची और यह प्रयोजन जान कर इन्द्र के कोषाध्यक्ष कुबेर ने उनका ख़ाली ख़ज़ाना रातोंरात सोने से भर दिया।

कालिदास लिखते हैं कि यह सोना चौदह करोड़ से अधिक था। राजा ने याचक को सब देना चाहा किन्तु उसे केवल चौदह करोड़ ही चाहिए थे सो उसने उससे अधिक लेने से मना कर दिया। जिस 'विदूषकीय जिज्ञासा' की बात मैंने की है वह यह थी कि आख़िर फिर वह सोना गया कहाँ? रघु उसे रख नहीं सकते थे क्योंकि उसे मँगवाने का प्रयोजन केवल कौत्स की याचना को पूरा करना था। इन्द्र को लौटाया नहीं जा सकता था क्योंकि चाहे लड़ाई हुई न हो, था तो यह लड़ाई में हारा हुआ धन ही और तब इन्द्र ही इसे किस मुँह से वापस ले लेते और रघु उन्हें क्यों देते? और थोड़ा सोचिए तो निःस्पृह नहर्षि वरतन्तु को ही उस चौदह करोड़ का क्या करना था जिसकी माँग उन्होंने चाहत के नाते नहीं सिर्फ़ चिढ़ के नाते की थी? तो किसी को भी लुभाने में नाकाम कुबेर से आये इस सोने को कहाँ होना चाहिए?

मैंने इस जिज्ञासा को 'विदूषकीय' इसलिए कहा कि आधुनिक विद्वत्ता इसी प्रकार के Treasure Hunt का एक प्रकार है- वह यह मानने को तभी तैयार होगी कि कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था जब कोई कुरुक्षेत्र के मैदान में उस रथ के पहियों के निशान दिखा दे जिस पर वे दोनों सवार थे। इस विद्वत्ता का स्वाँग (= simulation) भरते हुए उसके स्व-कल्पीत श्रेष्ठय (= supremacy) पर प्रश्नात्मक होना भी इसकी औपन्यासिकता में अनुस्यूत है।

जिसे मैंने अभी 'ख़ज़ाने की खोज' कहा, वह वस्तुतः एक ऐसे रास्ते पर चलने से तुलनीय है जिसके अन्त में एक मन्ज़िल है और आपके पौरुष की सफलता इसमें है कि आप उस मन्ज़िल तक पहुँच जाँय। यह एक तिलिस्मी इमारत में छिपाये ख़ज़ाने की खोज ही है और मैंने अपने उपन्यास को एक तिलिस्मी उपन्यास की ही शक्ल दी है। लेकिन अगर आप ज़रा-सा भी ग़ौर करें तो यही हमारी आधुनिक सोच भी है, उदाहरण के लिए हमारे राजनीतिक वास्तु के मूल में कुछ सिद्धान्त हैं और जब हम 'धार्मिक स्वतन्त्रता' कहते हैं तो हमारा आशय यह होता है कि हम कुछ तात्विक (= essential) पहचानों के प्रदर्शन हेतु स्वतन्त्र हैं। इसे 'धार्मिक' कहना ठीक नहीं, यह 'मज़हबी' है, आप यह बताने को स्वतन्त्र हैं कि आपने कौन-सा 'मज़हब = पन्थ' अपने लिए चुना है।

इसके विपरीत भारतीय चिन्तन में यद्यपि 'तत्व-ज्ञान' शब्द स्वीकृत है, जो 'तत्व' है वह 'नेति, नेति = यह नहीं, यह नहीं' से परिभाषित है- रास्ते हैं लेकिन कोई मन्ज़िल नहीं है। अतः कोई सनातन-धर्मी यदि रामानन्दी तिलक लगाता है तो वह यह दावा नहीं करता कि बिना रामानन्दी तिलक लगाये कोई सनातन-धर्मी नहीं हो सकता। भारतीय तत्व-चिन्तन उस पुराण-वर्णित शिव-लिंग की तरह है जिसके मूल का पता लगाने निकले देव थक-हार कर असफल लौटे क्योंकि वे जो खोज रहे थे वह था ही नहीं। तत्व-चिन्तन को इस प्रति-मूलात्मक (= anti-foundational) विचार-सरणि में परिकल्पित कर पाना भारत की अपनी विशेषता है।

आप सोचिए कि जब हमारे चिन्तकों ने सृष्टि को मिथ्या कहा है तो वे क्या कह रहे हैं? वे सर्जना की पारमार्थिकता से इनकार करते हैं और उसकी सत्ता को स्वाप्निक बताते हैं। इसका मतलब यह है कि सृष्टिकर्ता भी स्वाप्निक है। जितना भी इन्द्रियाधारित ज्ञान है, वह ज्ञाता और ज्ञेय समेत अ-वास्तविक है। यही कला और कलाकर्मी के लिए सच है। तो 'यथार्थ' की ज़न्जीर से मुक्त यह कला-जगत् स्वतः स्वायत्त है, यह न कुछ उद्घाटित करता है न सूचित, न परदा डालता है न हटाता है- जो है वही है और आप उसे चाहे हस्ती कहें चाहे हस्ती का फ़रेब, उसकी सत्ता के बारे में कोई नयी जानकारी नहीं पा सकते। जैसा कि पहले इस बातचीत में आ चुका है, मन्त्रों के बाहर देवताओं की कोई सत्ता नहीं है। ठीक इसी प्रकार, कला के बाहर कोई यथार्थ नहीं है। अगर है, तो वह कला का विषय नहीं है। साहित्य न दर्पण है, न मशाल।

मैंने अभी जिसे 'यथार्थ की ज़न्जीर' कहा है उसको थोड़ा और समझाता हूँ। जब हम 'यथार्थ' कहते हैं तो हमारा आशय यह होता है कि कोई सत्ता कहीं है जो हमारी भाषा से स्वतन्त्र है और जिसका बयान हम अपनी भाषा में कर रहे है। यह शब्द और अर्थ की सत्ताओं को बिलगाना है, अर्थात् यह कहना कि अर्थ कोई वस्तु है जिसके लिए शब्द एक सूचक का काम करता है। तब शब्द और अर्थ का वह 'साहित्य = सहित होना' सम्भव नहीं रहेगा जिसकी हमें चाहत है। इसलिए हमें शब्द और अर्थ की एक ही सत्ता स्वीकार करनी होगी जिसमें उनका भेद कल्पित है और केवल अपनी समझ की सुविधा के लिए है, जैसे कि 'क' अक्षर की आकृति में वर्णमाला के 'क' की सत्ता का स्वीकार।

तो ज़ाहिर है कि मेरे उपन्यास में रघु क यह ख़ज़ाना उनके ज़माने से शुरू नहीं हुआ और मैं इसकी स्वाप्निकता को उनके त्रेता-युग से पीछे शकुन्तला के कृत-युग तक ले गया हूँ जहाँ इसके होने को लेकर कुछ अनिर्णीत मुझे कहना है। उपन्यास मैं पूरा लिख नहीं सका हूँ इसलिए उसके रूपाकार के बारे में कुछ तय-शुदा नहीं बता सकता किन्तु मैं उसे इस अर्थ में 'अनैतिहासिक' मानता हूँ कि उसमें इतिहास को कोई शक्ति न मान कर एक ऐसे खोजी के रूप में मैंने देखा है जो एक कन्वेयर बेल्ट पर चली आ रही हर बोतल से इस उम्मीद में शराब ढाल रहा है कि उसमें का जिन्न निकल कर सलाम ठोंकता हुआ पूछेगा, ''आक़ा, क्या हुक्म है?''

जैसा कि आप जानते ही हैं, इस उपन्यास के पाँच सौ से अधिक पृष्ठ लिखे पड़े हैं। मैंने इसे तीन खण्डों में परिकल्पित किया था किन्तु अब मैं कोई सौ पृष्ठ और लिख कर इसका प्रथम खण्ड बना लेना चाहता हूँ चाहे बाक़ी दोनों न भी लिख पाऊँ। देखिए क्या बन पाता है। फ़िलहाल फ़्रान्सीसी क्रान्ति से सम्बन्धित अध्याय में बहुत कुछ लिखने को रह गया है और अन्य कई अध्यायों में भी कहानी के इधर-उधर झूल रहे तार कसने ज़रूरी हैं।

योगवासिष्ठ में वेतालोपाख्यान

वागीश शुक्ल

प्रारम्भिक

हिन्दी-भाषी समाज में बैताल-पचीसी नाम से प्रसिद्ध कथा-समूह सुपरिचित हैं। इसका मूल पैशाची भाषा में लिखी गयी बृहत्कथा में है जो नष्ट हो चुकी है किन्तु जिसकी कथाएँ संस्कृत और प्राकृत के कई ग्रन्थों में अंशतः सुरक्षित हैं। इस आलेख का उद्देश्य इस बैताल-पचीसी की एक अल्प-ज्ञात प्रस्तुति का सानुवाद संस्करण उपलब्ध कराना है जो योगवासिष्ठ के अन्तर्गत दी हुई है।

योगवासिष्ठ की संरचना के अनुसार यह वाल्मीकि द्वारा रचित है, इसमें एक देवदूत द्वारा सुरुचि नाम की अप्सरा को सुनायी गयी एक कहानी है जिसमें राजा अरिष्टनेमि की जिज्ञासा पर महर्षि वाल्मीकि द्वारा वे मोक्षोपाय वर्णित हैं जो मुनि वसिष्ठ द्वारा भगवान् राम को दिये गये ज्ञानोपदेश में बताये गये थे। योगवासिष्ठ इन सब कारणों से ज्ञानवासिष्ठ, महारामायण, वासिष्ठरामायण, मोक्षोपाय आदि नामों से भी जाना जाता है। जैसा कि सर्वविदित है, योगवासिष्ठ केवलाद्वैत (जिसका व्यवस्थित प्रतिपादन भगवत्पाद द्वारा हुआ है और जो इस नाते प्रायः 'शांकर अद्वैत' कहलाता है) का चूडामणि ग्रन्थ है और इसमें बहुत से उपाख्यान भी हैं जिनका उद्देश्य इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को समझाना है। तदनुरूप ही इसमें आया यह वेतालोपाख्यान भी है।

योगवासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण (पूर्वार्ध) में सत्तरवें सर्ग से प्रारम्भ होकर चार सर्गों में यह वेतालोपाख्यान दिया गया है और इस प्रकार हितत्तरवें सर्ग में समाप्त होता है। इसमें बैताल-पचीसी की अन्य प्रस्तुतियों से कई अन्तर हैं। राजा का नाम 'विक्रम' नहीं दिया हुआ है और उसे केवल 'राजा' कहा गया है। वेताल पेड़ की डाल पर लटका हुआ नहीं मिलता और राजा की गर्दन पर सवार नहीं होता। प्रश्नों की संख्या कुल छह है और वे कथाओं के माध्यम से नहीं प्रस्तुत किये गये हैं।

अनुवाद में मैंने योगवासिष्ठ के टीकाकार स्वामी आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती की टीका तात्पर्यप्रकाश का आश्रय लिया है। यह एकमात्र टीका है जो सम्पूर्ण योगवासिष्ठ पर उपलब्ध है और गम्भीर पाण्डित्य तथा पाठ-निष्ठा का आदर्श उदाहरण है।

वेतालोपाख्यान

१ वेतालप्रश्न

वसिष्ठ उवाच

जीवोऽजीवो भवत्याशु याति चित्तमचित्तताम्
विचारादित्यविद्यान्तो मोक्ष इत्यभिधीयते ।।१।।

मुनि वसिष्ठ ने कहा ('हे राम,) विचार-रूपी सूर्य (के प्रकाश) के माध्यम से (अन्धकार-रूपी) अ-विद्या का अन्त होने की अवस्था में शीघ्र ही जीव अ-जीव हो जाता है और चित्त अ-चित्त हो जाता है; इस अवस्था को 'मोक्ष' कहते हैं। ।।१।।

(अद्वैत की शब्दावली में 'विचार' का तात्पर्य ब्रह्मचिन्तन से है। अ-विद्या के दूर होने पर तज्जनित जीव और चित्त आदि का मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है, इसी को 'जीव का अ-जीव होना' तथा 'चित्त का अ-चित्त होना' कहा है

टीकाकार ने बताया है कि यहाँ 'विद्या' से कार्य-विद्या और कारण-विद्या ये दोनों अभिप्रेत हैं। अद्वैत में कार्य-कारण ज्ञान एक मिथ्या ज्ञान माना जाता है और परमार्थतः कार्य-कारण-सम्बन्ध की सत्ता नहीं है। इस प्रकार कार्य-विद्या और कारण-विद्या अ-विद्या ही हैं।)

मृगतृष्णाजलमिव मनोऽहन्तादि दृश्यते
असदेव मनागेव तद्विचारात्प्रलीयते ।।२।।

अहंकार (= 'मैं' की अनुभूति) से मन का जन्म होता है। यह मृगतृष्णा के जल की तरह दिखायी देता है। इसकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है और यह अल्पकालिक होता है। विचार से यह लुप्त हो जाता है। ।।२।।

(पारमार्थिक सत्ता न होने, और केवल मिथ्या व्यावहारिक सत्ता होने के नाते मन को 'अ-सत् (= जिसकी सत्ता नहीं है)' कहा है।)

संसृतिस्वप्नविश्रान्तौ वेतालोदाहृतानिमान्
प्रश्नानाकर्णय शुभान्प्रसंगात्स्मृतिमागतान् ।।३।।

इस संसाररूपी स्वप्न की समाप्ति के निमित्त वेताल द्वारा पूछे गये इन शुभ प्रश्नों को तुम सुनो जो प्रसंगवश मुझे याद आ गये हैं ।।३।।

('प्रश्न' कहने से उनके उत्तर भी समझना चाहिए।)

अस्ति विन्ध्यमहाटव्याम् वेतालो विपुलाकृतिः
स किंचिन्मण्डलम् गर्वादाजगाम जिघांसया ।।४।।

विन्ध्य के विशाल वन में एक बहुत बड़ा वेताल रहता था। वह किसी राज्य में घमण्ड से भरा हुआ हत्या की इच्छा से आया (ताकि किसी को मार कर उसे खा सके) ।।४।।

(वेताल एक नरभक्षी योनि है और यह प्रसिद्ध है कि जिन मनुष्यों की और्ध्वदैहिक क्रियाएँ विधिवत् सम्पूर्ण नहीं होतीं वे पिशाच होते हैं जिनके भीतर ही वेताल भी आते हें। यह भी प्रसिद्ध है कि उसे तान्त्रिक क्रियाओं द्वारा या अन्य किसी प्रकार से सन्तुष्ट करके अपने वश में किया जा सकता है और उससे तमाम काम लिये जा सकते हैं। यहाँ उसे जंगल का निवासी बताया गया है किन्तु उसके निवास की अधिक प्रसिद्धि श्मशान में पेड़ों पर है।)

स वेतालोऽवसत्पूर्वम् कस्मिंश्चित्सज्जनास्पदे
बहुबल्युपहारेण नित्यतृप्ततया सुखी ।।५।।

वह वेताल पहले किसी ऐसी जगह में रहता था जहाँ सज्जनों की बस्ती थी। (और इसलिए वहाँ) उसे बराबर बहुत-सी बलि भेंट में मिला करती थी जिसके नाते वह सदा ही तृप्त रहता था और इस कारण से हमेशा सुखी रहता था ।।५।।

(टीकाकार ने तात्पर्य बताया है कि जिन लोगों को प्राणदण्ड मिलता था उन्हें बेताल के भोजन के लिए उसके सामने प्रस्तुत कर दिया जाता था।)

निर्निमित्तम् निरागस्कम् पुरोऽप्यभ्यागतम् न सः
क्षुधितोऽपि नरं हन्ति सन्तो हि न्यायदर्शकाः ।।६।।

वह वेताल भूखा होने पर भी किसी सामने आ पड़े मनुष्य को बिना किसी कारण के कभी नहीं मारता था यदि वह मनुष्य दोष-रहित होता था (क्योंकि) सत्पुरुष न्याय के अनुसार ही काम करते हैं ।।६।।

(जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, 'दोष-रहित' का तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसने कोई ऐसा अपराध न किया हो जिसके लिए उसे प्राणदण्ड मिलना चाहिए भले ही उसे यह प्राणदण्ड राजा द्वारा न दिया गया हो।)

स कालेनाटवीगेहो जगाम नगरान्तरम्
न्याययुक्तया जनम् भोक्तुम् क्षुधासमभिचोदितः ।।७।।

एक समय वह जंगल में रहने वाला वेताल भूख से बेहाल होकर किसी दूसरे नगर में जा पहुँचा ताकि किसी मनुष्य को न्यायपूर्वक मार कर खा सके ।।७।।

(टीकाकार बताते हैं कि ऐसा इसलिए हुआ कि वेताल के पुराने निवास में कोई मृत्युदण्डप्राप्त पुरुष उसको भेंट में नहीं पहुँचाया जा सका। वे यह भी समझाते हैं कि 'न्याय-युक्ति' से यहाँ यह तात्पर्य है कि वेताल स्वयं ही यह निर्धारित करने में सक्षम था कि कोई मनुष्य प्राणदण्ड के योग्य है कि नहीं और इसके लिए उसे राजाज्ञा की अपेक्षा नहीं थी। इस प्रकार यहाँ दण्ड-विधान (और ज़ाहिर है कि न्याय की सम्पूर्ण प्रविधि) एक ऐसे शास्त्र के रूप में प्रस्तुत है जिसके अनुसार राजकीय शक्ति ही नहीं, पराभौतिक शक्तियाँ भी चल सकती हैं और 'अन्याय' मनुष्य से ही नहीं, मनुष्येतर से भी हो सकता है।)

तत्र प्राप स भूपालम् रात्रिचर्याविनिर्गतम्
तमाह घनघोरेण शब्देनोग्रनिशाचरः ।।८।।

वहाँ उसे (उस देश का) राजा मिल गया जो रात की गश्त पर निकला था। उस रात में घूमने वाले उग्र वेताल ने बहुत ऊँची आवाज़ में कहा ।।८।।

(प्राचीन भारत में राजा स्वयं भी रात को छिपकर घूमते थे ताकि खुद देख सकें कि राज्य की वास्तविक स्थिति क्या है और केवल गुप्तचरों की सूचनाओं पर भरोसा करके न रह जाये।)

वेताल उवाच

राजँल्लब्धोऽसि भीमेन वेतालेन मयाधुना
क्व गच्छसि विनष्टोऽसि भव भोजनमद्य मे ।।९।।

वेताल ने कहा

हे राजन्, अब तुम मुझ भयानक वेताल की पकड़ में आ गये हो। जाते कहाँ हो, अब तुम मरे, अब तुम मेरा भोजन बनो ।।९।।

(यह केवल धमकी है क्योंकि अभी यह तय नहीं हुआ कि राजा न्यायतः वध्य था या नहीं।)

राजोवाच

हे रात्रिचर निर्न्याय्यम् माम् चेदत्सि बलादिह
तत्ते सहस्रधा मूर्धा स्फुटिष्यति न संशयः ।।१०।।

राजा ने कहा

ऐ रात में घूमने वाले वेताल, यदि तुम मुझे अन्यायपूर्वक केवल अपने बल के नाते खा जाते हो, तो निश्चत ही तुम्हारा सिर फट कर हज़ार टुकड़े हो जायेगा ।।१०।।

('अन्यायपूर्वक' से तात्पर्य है बिना न्याय किये, अर्थात् बिना यह निश्चय किये कि मैं ऐसा अपराधी हूँ जिसे मृत्युदण्ड मिलना चाहिए।

'सिर फट जाने' की चेतावनी वैदिक काल से चली आ रही है और प्रायः उन शास्त्र-विवादों में दी जाती थी जो वैदिक विद्वानों की सभा में होते थे। इन शास्त्र-विवादों को 'ब्रह्मोद्य' कहते थे। यह चेतावनी प्रायः ऐसा प्रश्न करने वाले को जो प्रश्नकर्ता के अधिकार-क्षेत्र के बाहर हो, या किसी प्रश्न का उत्तर न दे पाने पर भी पराजय न स्वीकार करने वाले को दी जाती थी। बृहदारण्यकोपनिषद् (तृतीय अध्याय) में ब्रह्मोद्य के दौरान याज्ञ्यवल्क्य द्वारा गार्गी और शाकल्य को दी गयी चेतावनियाँ प्रसिद्ध हैं। Michael Witzel ने

अपने शोधपत्र The case of the Shattering Head में बहुत से उदाहरण वैदिक साहित्य से लेकर पाली साहित्य तक से एकत्र किये हैं; यह शोधपत्र इण्टरनेट पर उपलब्ध है।

यहाँ इस चेतावनी के द्वारा राजा ने वेताल के सामने ब्रह्मोद्य की चुनौती दी है जिसे वेताल ने स्वीकार किया है और आगे इस आख्यान में ब्रह्मचर्चा ही है जिसके माध्यम से अद्वैत वेदान्त की कुछ बातें सामने लायी गयी हैं।)

वेताल उवाच

न त्वामद्यहमन्याय्यम् न्यायोऽयम् हि मयोच्यते
राजासि सकलाशाश्च पूरणीयास्त्वयार्थिनाम् ।।११।।

वेताल ने कहा:

मैं तुम्हें अन्यायपूर्वक नहीं खाऊँगा। मैं यह न्याय बता रहा हूँ; तुम राजा हो, और तुम्हें अपने याचकों की समस्त आशाओं को पूरा करना ही चाहिए ।।११।।

(यहाँ वेताल ने 'न्याय' स्वतः ही घोषित किया है और वह यह है कि राजा को किसी भी याचक की याचना पूरी ही करनी चाहिए अन्यथा वह राजत्व से च्युत और इस प्रकार अन्यायी राजा होगा जिसे वेताल मार कर खा सकता है। ऐसे 'न्याय' के उदाहरण भारतीय साहित्य में बिखरे पड़े हैं। रघु द्वारा निर्धन होने पर भी कौत्स को चौदह करोडत्र स्वर्णमुद्रा देना, शिबि द्वारा कबूतर की जान बचाने के लिए अपना मांस काटकर देना, हरिश्चन्द्र द्वारा विश्वामित्र की दक्षिणा पूरी करने के लिए श्मशान में नौकरी करना, ये सब ऐसे ही न्याय के उदाहरण हैं।

यहाँ वेताल की आशा यह है कि उसके प्रश्नों का सही उत्तर मिलेगा और राजा होने के नाते इस राजा को यह याचना पूरी ही करनी चाहिए अन्यथा वह राजा होने के योग्य न रहेगा और तब अयोग्य होने पर भी राजा बनने के नाते वेताल द्वारा वध्य होगा।

प्रतीत होता है कि टीकाकार के सामने जो पाठ था उसमें 'किल' शब्द था जिसकी व्याख्या में उन्होंने यह कहा है कि इसका तात्पर्य है, 'ऐसा धर्मशास्त्र में प्रसिद्ध है'। फिर आगे उन्होंने इस प्रसिद्धि को स्पष्ट करते हुए बताया है कि अज्ञानी भले ही अनेक अपराध करे, ज्ञानी तो अपराध करता ही नहीं, और अगर करे भी तो रक्षणीय है। हमारे अपने समय में फ्रान्स में ज्याँ जेने को दिया गया क्षमादान ऐसे ही न्याय का एक उदाहरण है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण को प्राणदण्ड न देने की हिदायत का भी मूल इसी न्याय में है।)

ममैतामर्थिताम् राजन् सम्भवार्थाम्प्रपूरय
प्रश्नानिमान्मयोक्तांस्त्वम् सम्यगाख्यातुमर्हसि ।।१२।।

मेरी यह याचना पूरी करना सम्भव है, हे राजन् तुम इसे पूरा करो। मेरे द्वारा पूछे गये इन प्रश्नों का तुम्हें ठीक से बयान करना चाहिए, अर्थात् उनका समाधान करना चाहिए ।।१२।।

(वेताल ने यह बताया है कि वह कोई ऐसे सवाल नहीं पूछने जा रहा है जिनका जवाब देना सम्भव ही न हो, अर्थात् वह छलपूर्वक केवल राजा का वध करने के लिए ऐसा नहीं कर रहा है और उसकी याचना न्यायोचित है।)

कस्य सूर्यस्य रश्मीनाम्ब्रह्माण्डान्यणवः कृशाः
कस्मिन्स्फुरन्ति पवने महागगनरेणवः ।।१३।।

(वेताल का प्रथम प्रश्न है) किस सूर्य की किरणों के ये सारे ब्रह्माण्ड छोटे-छोटे सूक्ष्म कण हैं? (वेताल का द्वितीय प्रश्न है) किस वायु में महाकाश के धूलिकण उड़ते हैं? ।।१३।।

(यहाँ 'सूर्य की रश्मि के रेणु (= कण)' से तात्पर्य 'त्रसरेणु' से है जो उन धूलिकणों का नाम है जिन्हें खिड़की से आ रही सूर्य किरणों में देखा जा सकता है। ये प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में तौल के न्यूनतम मान के रूप में स्वीकृत थे। तात्पर्य यह है कि वह सूर्य इतना विशाल है कि एक ब्रह्माण्ड उसकी किरण में एक त्रसरेणु के बराबर है। इसी प्रकार 'महाकाश' वह आकाश है जिसमें सारे आकाश समाते हैं और इस प्रकार वह सम्पूर्ण 'स्पेस' को बताता है। आकाश केवल खालीपन है अतः उसके कण से तात्पर्य 'खालीपन के टुकड़े' हुआ। ये टुकड़े जिस वायु में उड़ रहे हैं वह कौन सी वायु है?)

स्वप्नात्स्वप्नान्तरंगच्छंछतशोऽपि सहस्रशः
त्यजन्न त्यजति स्वच्छम् कः स्वरूपम्प्रभास्वरम् ।।१४।।

(वेताल का तृतीय प्रश्न है) वह कौन है जो एक सपने से दूसरे सपने में सैकड़ों-हज़ारों बार जाता हुआ अपने स्वच्छ प्रकाशमान् स्वरूप को छोड़ता हुआ भी नहीं छोड़ता? ।।१४।।

(इस प्रश्न और आगे आये इसके समाधान को ठीक से समझने के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् (चतुर्थ अध्याय, तृतीय ब्राह्मण) को उसके शांकर भाष्य सहित पढ़ना चाहिए जिसमें स्वप्नावस्था से जागरावस्था में आत्मा के संचरण का वर्णन है। यहाँ जागरावस्था को भी एक दूसरा स्वप्न ही बताया गया है जो केवलाद्वैत के उत्तमाधिकारियों के लिए वास्तविक उपदेश है। भगवत्पाद ने बृहदारण्यकोपनिषद् (४-३-१९) के भाष्य में स्पष्ट कहा हैः जागरितेऽपि यद्दर्शनम् तत् स्वप्नमेव मन्यते श्रुतिः (= जो जागरित अवस्था में देखा जाता है वह भी श्रुति के अनुसार स्वप्न ही है)।)

रम्भास्तम्भो यथा पत्रमात्रमेवम्पुनः पुनः
अन्तरन्तस्तथान्तश्च तथा कोऽणुः स एव हि ।।१५।।

(वेताल का चतुर्थ प्रश्न है) जैसे केले के पेड़ के तने में एक छिलका उतरने के बाद फिर दूसरा छिलका ही मिलता जाता है (और उसके भीतर क्या है यह सूक्ष्मता के नाते अदृश्य ही रह जाता है) वैसे ही (उस केले के तने के भीतर के अदृश्य सूक्ष्म तत्व की तरह) केवल अणु जैसा वह कौन है? ।।१५।।

(तात्पर्य यह है कि जो कुछ इन्द्रियग्राह्य है वह अ-वास्तविक है और शुद्ध ब्रह्म तक तर्क-बुद्धि द्वारा नहीं पहुँचा जा सकता।)

ब्रह्माण्डाकाशभूतौघसूर्यमण्डलमेरवः
अपरित्यजतोऽणुत्वम् कस्याणोः परमाणवः ।।१६।।

(वेताल का पंचम प्रश्न है) वह कौन सा अणु है जिसके परमाणु इन सारे ब्रह्माण्डों के आकाशों में विराजमान समस्त सत्तावान् समूह, सूर्यमण्डल, तथा मेरु पर्वत हैं किन्तु जो अपना अणुत्व नहीं त्यागता? ।।१६।।

(तात्पर्य यह है कि वह तत्व अत्यन्त सूक्ष्म है और अपनी सूक्ष्मता का त्याग भी नहीं करता, फिर भी जिन्हें हम अतिस्थूल समझते हैं, वे उसके सूक्ष्मतर अंश ही हैं।)

कस्यानवयवस्यैव परमाणुमहागिरेः
शिलान्तर्निबिडैकान्तरूपमज्जा जगत्तयी ।।१७।।

(वेताल का षष्ठ प्रश्न है) वह कौन सा परमाणु के आकार का महापर्वत है जिसके कोई अवयव नहीं है और (फिर भी) जिसके बिना किसी छिद्र वाली शिला-ही-शिला आकृति की मज्जा यह त्रैलोक्य है? ।।१७।।

(इस प्रश्न और उसके समाधान को ठीक से समझने के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् (४-५-१३) को ध्यान में रखना ठीक रहेगा जिसमें याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है कि यह आत्मा नमक के ढेले की तरह भीतर से बाहर तक नमक-ही-नमक है।)

इति कथयसि चेन्न मे दुरात्मस्तदिह निगीर्य भवन्तमात्मघातिन्
फलमिव तव मण्डलम् ग्रसेयम्प्रसभमुपेत्य जगद्यथा कृतान्तः ।।१८।।

हे दुरात्मन्, यदि तुम यह मुझे नहीं बताओगे (अर्थात् मेरे इन प्रश्नों का सही उत्तर नहीं दोगे) तो हे आत्महत्यारे, मैं तुझे निगल कर तेरे इस राज्य को भी बलपूर्वक वैसे ही खा जाऊँगा जैसे इस त्रैलोक्य को काल पहुँच कर खा जाता है ।।१८।।

(यहाँ वेताल ने अपने को मृत्यु से समीकृत किया है जो समस्त प्राणियों का वध करती है किन्तु उस पर हत्या का दोष नहीं लगता क्योंकि वह किसी की आयु पूरी होने पर ही उसे मारती है और इस प्रकार न्यायपूर्वक ही काम करती है। राज्य को खा जाने की धमकी के पीछे वेताल का तर्क यह जान पड़ता है कि राजा को यह समझ में आये कि वेताल के प्रश्नों का सही उत्तर न देकर उसकी याचना को न पूरा करने पर

राजा राजपद के अयोग्य होते हुए भी उस पर अनधिकार आसीन होने के नाते अपराधी होगा और इस नाते प्रजापालन के अपने कर्तव्य में भी असमर्थ होगा। इन्हीं सम्भावित अयोग्यताओं के चलते वेताल ने राजा को तिरस्कार-पूर्वक 'दुरात्मा' और 'आत्मघाती' कहा है।)

इस ऋषिप्रणीत वाल्मीकिरचित वासिष्ठ महारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपायों में निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्ध के अन्तर्गत 'वेतालप्रश्न' नामक सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

२ वेतालप्रथमप्रश्नोत्तरवर्णन

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्तवति वेताले वक्तुम्प्रश्नान् विहस्य सः
उवाच वचनम् राजा दन्तांशुधवलाम्बरः ।।१।।

श्री वसिष्ठ ने (भगवान् राम से) कहा

वेताल के ऐसा कहने पर राजा हँसा जिसके नाते उसके कपड़ों तथा आकाश को उज्जवल करती हुई उसके दाँतों की चमक की किरणें बिखर गयीं और तब वेताल के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए राजा ने कहा ।।१।।

(टीकाकार का कहना है कि राजा की इस हँसी का कारण यह है कि वेताल ने प्रथम प्रश्न में केवल प्रसिद्ध ब्रह्माण्डों के ही उस महासूर्य की किरणों में त्रसरेणु होने की बात की है जबकि आगे राजा द्वारा बताये जा रहे करोड़ों गूढ ब्रह्माण्ड भी उसी सूर्य की किरणों में त्रसरेणु हैं। इस प्रकार वेताल की अल्पज्ञता सूचित होती है और इसी पर राजा हँसता है। राजा ने अपने उत्तर में वेताल के प्रश्न को भी सुधार दिया है।

'अम्बर' का अर्थ 'वस्त्र' भी होता है और 'आकाश' भी। यद्यपि मूल में यह शब्द एक ही बार प्रयुक्त हुआ है, टीकाकार ने दोनों अर्थ लिये हैं।)

राजोवाच

आस्ते कदाचिच्चेदम् हि ब्रह्माण्डमजरम् फलम्
उत्तरोत्तरदशगुणभूतत्वक्परिवेष्टितम् ।।२।।

राजा ने (वेताल से) कहा

यह जो कभी पुराना न पड़ने वाला ब्रह्माण्ड है (जिसमें हम और तुम रहते हैं) यह एक फल है जो एक दूसरे से दसगुने आकार के छिलकों में लिपटा हुआ है। ।।२।।

(टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि यहाँ जो 'अजर = कभी पुराना न पड़ने वाला' कहा गया है वह 'अज्ञानी' की दृष्टि से है, अर्थात् जिसे व्यावहारिक सत्ता के मिथ्यात्व की जानकारी नहीं है, वह इस ब्रह्माण्ड को कभी क्षीण न होने वाला समझता है किन्तु ऐसा है नहीं, जैसे ही ब्रह्मज्ञान होता है, ब्रह्म की सत्ता के अतिरिक्त अन्य सत्ताओं का मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। यहाँ शायद याद कर लेना चाहिए कि मीमांसा-शास्त्र जगत् को नित्य मानता है, अर्थात् उसका कभी नाश नहीं होता (उसके भीतर की वस्तुएँ अनित्य हो सकती हैं)।

टीकाकार के अनुसार यहाँ यह बताया गया है कि ब्रह्माण्ड को भूमि, जल आदि के आवरणों ने लपेट रखा है।)

तादृशानां सहस्राणि फलानि यत्र सन्ति हि
अत्युच्चैस्तादृशी शाखा विपुला चलपल्लवा ।।३।।

ऐसे ही हज़ारों-हज़ार फल जिसमें लगे हुए हैं वह एक बहुत बड़ी बेहद ऊँची डाल है जिसके पत्ते डोलते रहते हैं।।३।।

(टीकाकार के अनुसार यहाँ 'पत्ते' से आशय भुवनों से है।

इस अनुष्टुप् में दूसरे चरण 'फलानि यत्र सन्ति हि' में प्रथमाक्षर 'फ' के आगे र-गण (= गुरु, लघु, गुरु) आ जाने के नाते छन्द की दृष्टि से पाठ में थोड़ी न्यूनता है। अतः इसे आर्ष प्रयोग ही मानना चाहिए। इस ओर ध्यान दिलाने के लिए मैं डा बलराम शुक्ल का आभारी हूँ।)

तादृशानां सहस्राणि शाखानाम् यत्र सन्त्यथ
तादृशोऽस्ति महावृक्षो दुर्लक्ष्यो विपुलाकृतिः ।।४।।

ऐसी हज़ारों-हज़ार शाखाएँ जिसमें हैं ऐसा एक बहुत बड़ा वृक्ष है जिसे देखना बहुत कठिन है।।४।।

('देखना बहुत कठिन है' से यह तात्पर्य लेना चाहिए कि उसका विस्तार उनकी नज़रों से ओझल है जो किसी एक ब्रह्माण्ड में बैठे हैं जो उस वृक्ष के एक पत्ते में सीमित होता है।)

तादृशानां सहस्राणि सन्ति यत्र महीरुहाम्
तादृशम् वनमत्युच्चैरनन्ततरुगुल्मकम् ।।५।।

ऐसे हज़ारों-हज़ार वृक्ष जिसमें है ऐसा एक अनन्त वृक्षों वाला वन है।।५।।

(टीकाकार ने यह बताया है कि इन तीन श्लोकों में फल और शाखा आदि से ग्रन्थकार ने चौदह पदार्थों का निर्देश किया है। वे चौदह पदार्थ ये हैं:

१. यह ब्रह्माण्ड जिसमें हम रहते हैं।

२. ऐसे हज़ारों-हज़ार ब्रह्माण्डों के भीतर के पंचीकृत महाभूत।

('भूत' का अर्थ 'सत्तावान्' होता हैः यहाँ 'सत्ता' का तात्पर्य व्यावहारिक सत्ता है जिसके भरोसे हम जीव और जगत् के लिए 'है' का इस्तेमाल करते हैं क्योंकि पारमार्थिक सत्ता तो केवल ब्रह्म की है, शेष सभी सत्ताएँ मिथ्या हैं। इस प्रकार इन पाँच महाभूतों से '(व्यावहारिक) सत्ता' की शुरुआत होती है जिसे हम 'सृष्टि' कहते हैं।

पंच महाभूतों की अवधारणा का मूल औपनिषदिक है। तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथम अनुवाक, प्रथम मन्त्र) के अन्तर्गत आया हैः

...तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अंगः पृथिवी।...

अर्थात्, ''उस आत्मा से आकाश हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई।'' इस अंश पर शांकर भाष्य से आगे की बातें समझने में आसानी होगीः

जो 'शब्द' गुण वाला और समस्त मूर्त पदार्थों को अवकाश देने वाला है उसे 'आकाश' कहते हैं। इस आकाश से अपने गुण 'स्पर्श' और अपने पूर्ववर्ती आकाश के गुण शब्द सहित दो गुणों वाले वायु की उत्पत्ति हुई। इस वायु से अपने गुण 'रूप' और अपने पूर्ववर्ती वायु के दो गुणों (शब्द तथा स्पर्श) सहित तीन गुणों वाले 'अग्नि' की उत्पत्ति हुई। इस अग्नि से अपने गुण 'रस' तथा अपने पूर्ववर्ती अग्नि के तीन गुणों (शब्द, स्पर्श तथा रूप) के सहित चार गुणों वाले जल की उत्पत्ति हुई। इस जल से अपने गुण 'गन्ध' और अपने पूर्ववर्ती जल के चार गुणों (शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस) के सहित पाँच गुणों वाली पृथिवी की उत्पत्ति हुई।

पाठक का ध्यान इस ओर गया होगा कि भारतीय ग्रन्थों में अनेक जगहों पर सृष्टि को 'वाक्' से उत्पन्न बताया गया है। इस कथन के पीछे प्रथम महाभूत आकाश का शब्दगुणात्मक होना ही है। यह भी स्मरणीय है कि ब्रह्मसूत्र के श्रीकण्ठ-भाष्य के आधार पर अप्पय्य दीक्षित द्वारा विकसित शांकर अद्वैत के अविरोधी 'शिवाद्वयवाद' में 'आकाश' को शक्ति से समीकृत किया गया है।

आगे बढ़ने के पहले एक बात की तरफ कुछ इशारा करना उचित जान पड़ता है। कुण्डलिनी-साधना के अन्तर्गत शिवशक्तिसामरस्य के स्थान सहस्रार-चक्र और मनस्तत्त्व के स्थान आज्ञा-चक्र के पहले जिन पाँच चक्रों- मूलाधार, मणिपूर, स्वाधिष्ठान, अनाहत, और विशुद्ध-का उल्लेख आता है, उनमें विपरीत क्रम से ये ही पंचमहाभूत स्थित हैं, अर्थात् मूलाधार-चक्र में पृथिवी, मणिपूर-चक्र में जल, स्वाधिष्ठान-चक्र में अग्नि, अनाहत-चक्र में वायु और विशुद्ध-चक्र में आकाश स्थित हैं किन्तु यह क्रम केवल भगवत्पाद की सौन्दर्यलहरी में मिलता है और इस विषय पर उपलब्ध अन्य सभी ग्रन्थ नीचे से ऊपर जाते हुए मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, विशुद्ध तथा आज्ञा का क्रम बताते हैं। स्पष्ट है कि भगवत्पाद ने अपनी सौन्दर्यलहरी में

तैत्तिरीयोपनिषद् का औपनिषदिक क्रम वर्तमान रखा है और अन्य ग्रन्थ उससे विचलित हुए हैं। इस बात को ध्यान में न रखने के नाते सौन्दर्यलहरी के कई व्याख्याकार भी असमंजस में पड़े हैं।

इस प्रकार पंच महाभूत ये हैंः आकाश, वायु, तेज (जिसे अग्नि भी कहा गया है), जल और पृथिवी। ये 'अ-पंचीकृत, (या शुद्ध) महाभूत हैं और इन्हें 'तन्मात्रा' भी कहा जाता है। 'तन्मात्रा' संज्ञा के प्रयोग के साथ प्रायः उस महाभूत का गुण-विशेष जुड़ा होता है- अर्थात् पृथिवी गन्ध-तन्मात्रा' कहलायेगी, जल को 'रस-तन्मात्रा', अग्नि को 'रूप-तन्मात्रा', वायु को 'स्पर्श-तन्मात्रा', तथा आकाश को 'शब्द-तन्मात्रा' कहेंगे। इन तन्मात्राओं अर्थात् शुद्ध महाभूतों की उपस्थिति मायाशबलित ब्रह्म (जिसे 'कार्यब्रह्म' या 'ईश्वर' अथवा 'सगुण ब्रह्म' भी कहते हैं और जो शुद्धब्रह्म अथवा निर्गुण ब्रह्म में माया के मिश्रण से सृष्टि-स्थिति-संहार आदि कार्यों के लिए व्यवहारतः प्रकट होता है) की इच्छा से होती है। इनमें प्रत्येक में पाँच तत्व होते हैं जिनका विवरण इस प्रकार हैः

(अ) आकाश के पाँच तत्व- काम, क्रोध, शोक, मोह और भय

(ब) वायु के पाँच तत्व- चलन (= हिलना), वलन (= लपेटना), धावन (= तेजी से दौड़ना), प्रसारण (= फैलाना) और आकुंचन (= सिकोड़ना)

(स) तेज के पाँच तत्व- क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा और कान्ति

(द) जल के पाँच तत्व- शुक्र (= वीर्य), शोणित (= खून), लाला (= लार), मूत्र और स्वेद (= पसीना)

(इ) पृथिवी के पाँच तत्व- अस्थि, मांस, नाडी, त्वचा और रोम

इस प्रकार कुल पचीस तत्व होते हैं। सृष्टि के निमित्त इन शुद्ध महाभूतों के स्थूल रूपों की अवतारणा के लिए इनका ईश्वरेच्छा से पंजीकरण होता है। इसका मोटे तौर पर यह तात्पर्य है कि प्रत्येक महाभूत में अन्य महाभूतों का आठवाँ हिस्सा मिला दिया जाता है। इस प्रकार जब हम सृष्टि में प्रयुक्त 'आकाश' कहते हैं तब इसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध आकाश के दो भाग किये गये हैं और उसका केवल एक भाग ही इस स्थूल आकाश में वर्तमान है, शेष आधे में चौथाई-चौथाई वायु, तेज, जल और पृथिवी मौजूद हैं, अर्थात् स्थूल आकाश में आधा शुद्ध आकाश है, आठवाँ भाग वायु है, आठवाँ भाग तेज है, आठवाँ भाग जल है, और आठवाँ भाग पृथिवी है। यह 'पंचीकृत आकाश' है, इसी प्रकार अन्य महाभूतों के बारे में भी समझना चाहिए।

३. इन हज़ारों-हज़ार ब्रह्माण्डों के भीतर की ऐसे पंचीकृत महाभूतों में स्थित गन्ध-तन्मात्रा, अर्थात् अ-पंचीकृत पृथिवी नामक महाभूत।

४. उस गन्ध-तन्मात्रा के भीतर की रस-तन्मात्रा, अर्थात् अ-पंचीकृत जल नामक महाभूत।

५. उस गन्ध-तन्मात्रा के भीतर की रूप-तन्मात्रा, अर्थात् अ-पंचीकृत अग्नि नामक महाभूत।

६. उस गन्ध-तन्मात्रा के भीतर की स्पर्श-तन्मात्रा, अर्थात् अ-पंचीकृत वायु नामक महाभूत।

७. उस गन्ध-तन्मात्रा के भीतर की शब्द-तन्मात्रा, अर्थात् अ-पंचीकृत आकाश नामक महाभूत।

८. उस शब्द-तन्मात्रा के भीतर स्थित हिरण्यगर्भ का मन।

९. उसके भीतर स्थित अनन्त भूत-मात्राएँ जिनका कोई नाम नहीं है।

१०. उनके भीतर के कल्पकाल (= वे समय जिनकी गणना की जा सकती है)।

११. उन कल्पकालों के भीतर ब्रह्मा की आयु बताने वाले दिन।

१२. ब्रह्मा की उन आयुओं के भीतर विष्णु की आयु बताने वाले दिन।

१३. विष्णु की उन आयुओं के भीतर रुद्र की आयु बताने वाले दिन।

१४. ऐसे अनन्त करोड़ ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-त्रय के सत्ता-व्यवहार की स्फूर्ति का प्रवर्तक मायाशबल (= सगुण) ब्रह्म।

पल्लव से मूल तक जाता हुआ यह सृष्टि-क्रम निश्चय ही परम्परा-प्राप्त होगा किन्तु मैं कोई ऐसा सन्दर्भ नहीं खोज पाया जहाँ से टीकाकार ने इसे जस-का-तस लिया हो। फिर भी, गन्ध-तन्मात्रा से हैरण्यगर्भ मन तक के षट्चक्र तो पहचाने ही जा सकते हैं।)

तादृशानाम् सहस्राणि वनानाम् यत्र सन्त्यथ
तादृगस्ति बृहच्छंगमत्युच्चैर्भरिताकृति ।।६।।

ऐसे हज़ारों-हज़ार वन जिस पर स्थित हैं ऐसी एक बहुत ऊँची भरपूर पहाड़ी चोटी है ।।६।।

(टीकाकार का कहना है कि यहाँ 'पहाड़ी चोटी' कहने से पहाड़ ही समझना चाहिए और 'भरपूर' कहने से उस पहाड़ का बड़ा विस्तार बताया गया है।)

तादृशानाम् सहस्राणि शृंगाणाम् यत्र सन्त्यथ
तादृशोऽस्त्यतिविस्तीर्णो देशो विपुलकोटरः ।।७।।

ऐसी हज़ारों-हज़ार चोटियाँ (= पहाड़) जिसमें मौजुद है ऐसा एक बहुत बड़े खोखल वाला देश है ।।७।।

('कोटर' साधारणतया किसी बड़े पेड़ के तने में मौजूद खोखल को कहते हैं: यहाँ 'ढेर सारी जगह' अर्थ लेना ठीक है।)

तादृशानाम् सहस्राणि देशानाम् यत्र सन्त्यथ
तादृगस्ति बृहद्द्वीपम् महाह्रदनदीयुतम् ।।८।।

ऐसे हज़ारों-हज़ार देश जिसमें स्थित हैं ऐसा एक बहुत बड़ा बड़े-बड़े तालाबों और बड़ी-बड़ी नदियों वाला द्वीप है ।।८।।

(टीकाकार ने बताया है कि तालाब और नदी कहने का तात्पर्य आविर्भूत और अनाविर्भूत प्राणवायु से है जिसमें बहाव होता है।)

तादृशानाम् सहस्राणि द्वीपानाम् यत्र सन्त्यथ
तादृगस्ति महीपीठम् विचित्ररचनान्वितम् ।।९।।

ऐसे हज़ारों-हज़ार द्वीप जिसमें स्थित हैं ऐसा एक विचित्र रचनाओं से भरा हुआ पृथिवी-तल है ।।९।।

('विचित्र रचनाओं से भरा' से तात्पर्य है कि उस पृथिवी-तल में जो द्वीप हैं वे अलग-अलग विशेषताओं वाले हैं।)

तादृशानाम् सहस्राणि पृथ्वीनाम् यत्र सन्त्यथ
तादृगस्ति महास्फारम् महाभुवनडम्बरम् ।।१०।।

ऐसे हज़ारों-हज़ार पृथिवीतल जिसमें स्थित हैं ऐसा एक बहुत बड़े फैलाव वाला विशाल भुवन-जाल है ।।१०।।

('भुवनडम्बर = भुवन-जाल' कहने से 'जगत्' समझना चाहिए।)

तादृशानाम् सहस्राणि जगताम् यत्र सन्त्यथ
तादृगस्ति महच्चाण्डम् चण्डमम्बरपीठवत् ।।११।।

ऐसे हज़ारों-हज़ार जगत् (= भुवन-जाल) जिसमें स्थित हैं ऐसी एक बहुत विशाल अण्डाकृति है जो आसमान के फैलाव जैसी लगती है ।।११।।

(मूल में आये 'चण्ड' का अर्थ यहाँ 'विशाल' ही लेना ठीक है।)

तादृशानाम् सहस्राणि यच्चाण्डानि करण्डकाः
तादृशोऽस्ति गतस्पन्दो विपुलाब्धिश्च सागरः ।।१२।।

ऐसी हज़ारों-हज़ार अण्डाकृतियाँ जिसके (आकार के) सामने छोटी पिटारियों की तरह हैं, ऐसा एक बहुत बड़ा जल से भरपूर निःस्पन्द समुद्र है ।।१२।।

('निःस्पन्द' कहने से यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि उसमें ज्वार-भाटा आदि से होने वाली घट-बढ़ नहीं होती।)

तादृशसागरलक्षाणि तरंगो यस्य पेलवः
तादृशः स्वविलासात्मा निर्मलोऽस्ति महार्णवः ।।१३।।

ऐसे लाखों-लाख समुद्र जिसमें एक हलकी-सी लहर हैं ऐसा एक निर्मल महासागर है जिसका सारा विलास उसी के भीतर है ।।१३।।

(तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि उस महासागर का कोई तट नहीं है, वह एक सम्पूर्ण इकाई है।)

तादृगब्धिसहस्राणि यस्योदरजलान्यथ
तादृशोऽस्ति पुमान्कश्चिदत्युच्चैर्भरिताकृतिः ।।१४।।

ऐसे हज़ारों-हज़ार महासागर जिसके पेट में मौजूद हैं ऐसा एक बहुत बड़ा भरपूर देह वाला पुरुष है ।।१४।।

(टीकाकार ने कहा है कि यह पुरुष 'विष्णु' है। साधारणतया विष्णु की प्रसिद्धि एक महासागर के भीतर रहने की है, किन्तु यहाँ महासागर को उनके पेट के भीतर दिखाया है। यह स्मरण कर लेना चाहिए कि विष्णु जगत् की स्थिति के देवता हैं जैसे ब्रह्मा उसकी सृष्टि और रुद्र उसके संहार के देवता हैं।)

तादृशानाम् नृणाम् लक्षैर्यस्य मालोरसि स्थिता
प्रधानः सर्वसत्तानाम् तादृशोऽस्ति परः पुमान् ।।१५।।

ऐसे लाखों-लाख पुरुषों की माला जिसके सीने पर पड़ी हुई है, ऐसा एक परम पुरुष है जो सभी सत्ताओं का प्रधान है ।।१५।।

(टीकाकार ने बताया है कि यह परम पुरुष 'रुद्र' है। शिव के गले में नरमुण्डों की माला लटकी रहती है, यह प्रसिद्धि है ही। ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र का यह वर्धिष्णु तारतम्य काश्मीर शैव दर्शन समेत सभी शैव-शाक्त दर्शनों में स्वीकृत है।

'सभी सत्ताओं का प्रधान' कहने से यह आशय है कि सभी सत्ताएँ उसी से उद्भूत होती हैं। तकनीकी तौर पर यह शैव दर्शनों में स्वीकृत छत्तीस तत्वों में से 'सदाशिव' नामक तत्व है। किन्तु इसका यह अर्थ न लगा लेना चाहिए कि योगवासिष्ठ शैव दर्शनों का यथातथ अनुयायी है। शैव दर्शनों में एक ही सत्ता का विस्तार ब्रह्म है और संकोच जगत् है, अतः जगत् अवास्तविक नहीं है। यहाँ केवलाद्वैत का प्रतिपादन है और इस प्रकार इस जगह 'सत्ता' से तात्पर्य 'व्यावहारिक सत्ता' से है जो केवल प्रतीत होती है, है नहीं।)

तादृशानाम् सहस्राणाम्पुरुषाणाम्महात्मनाम्
स्फुरन्ति मण्डले यस्य स्वतनूरुहजालवत् ।।१६।।

ऐसे हज़ारों-हज़ार परमपुरुष जिसके घेरे में उसकी देह के रोमों की तरह स्फुरणशील हैं- ।।१६।।

(टीकाकार के अनुसार यहाँ 'रोम' कहकर ग्रन्थकार ने मुण्डकोपनिषद् (१-१-७) के इस कथन की ओर इशारा किया हैः यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् (= जिस प्रकार सत्तावान् पुरुष से केश और लोम निकलते हैं उसी प्रकार अक्षर पुरुष से यह विश्व निकलता है)। इस प्रकार यहाँ जिस महासूर्य का वर्णन है वह उपनिषदों में वर्णित 'अक्षर पुरुष' है।)

तादृशोऽस्ति महादित्यः शतमन्यासु दृष्टिषु

या एताः कलनास्सर्वास्ता एतास्तस्य दीप्तयः ।।१७।।

-ऐसा एक महासूर्य है जिसकी दीप्तियाँ ही अन्य दृष्टियों में ये सैकड़ों (= अनन्त) कलनाएँ (= गिनाये गये अर्थात् प्रकट किये गये पदार्थ) हैं जो रुद्र से ब्रह्माण्ड तक सब ऊपर कही गयी हैं ।।१७।।

('कलना' मुख्यतः शैव दर्शनों का शब्द है और सृष्टि से संहार तक की प्रक्रिया का सूचक है जिसे करने के नाते ही परदेवता के 'काली' और 'काल' नाम विख्यात हैं।

टीकाकार ने बताया है कि यहाँ 'अन्य दृष्टि' कहने से यह तात्पर्य है कि प्रत्यग्दृष्टि (= जिनकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती है, अर्थात् जो अपने अन्तःस्थित ब्रह्म पर दृष्टि रखते हैं, वे) ही अपनी 'दूसरी दृष्टि', अर्थात् परागदृष्टि (= बाहरी नज़र, जिससे सभी लोग देखते हैं) से इस सम्पूर्ण सृष्टि-शृंखला को भी देख पाते हैं- तात्पर्य यह है कि ज्ञानियों को ही ऊपर बतायी गयी सृष्टि-प्रक्रिया प्रत्यक्ष होती है। उनके इस कथन को इस बात से हम समर्थित कर सकते हैं कि मुण्डकोपनिषद् (१-१-६) में कहा गया है: यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रम् तदपाणिपादम्। नित्यम् विभुम् सर्वगतम् सुसूक्ष्मम् तदव्ययम् यद्भूतयोनिम् परिपश्यन्ति धीराः (= वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, तथा आँख, कान, हाथ, और पैर से विहीन है, जो नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म है, उस अव्यय को जो सभी अस्तित्ववान् पदार्थों का कारण है, विवेकी पुरुष सब ओर देखते हैं।))

अस्यादित्यस्य दीप्तीनाम्ब्रह्माण्डास्त्रसरेणवः
मया चित्सूर्य इत्युक्तः सर्वमेतत्तपत्यसौ ।।१८।।

इसी आदित्य की रश्मियों के त्रसरेणु ये सारे ब्रह्माण्ड हैं (जिनका अभी तक वर्णन किया गया)। मैंने यह 'चित्सूर्य; का वर्णन किया है, यह सब कुछ को तपाता है (अर्थात् सब कुछ इसी से प्रकाशित है) ।।१८।।

('चित् = चेतनता' ब्रह्म की एक शक्ति है जिसे मोटे तौर पर वह शक्ति समझना चाहिए जो ब्रह्म को सृष्टि की ओर उन्मुख करती है, अर्थात् यह माया का ही एक नाम समझना चाहिए। केवलाद्वैत के ग्रन्थों में इसका प्रथम स्पष्ट उल्लेख मेरी जानकारी के अनुसार सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशारीरक में किया है। कामचलाऊ तौर पर इस चित्सूर्य को मायाशबलित ब्रह्म या सगुण ब्रह्म समझना चाहिए। शिवाद्वैत और शाक्ताद्वैत में यही 'चित्' या 'माया' देवी से समीकृत है।)

विज्ञानात्मैव परमो भास्करो भावितात्मयः
इमे ये भुवनाभोगास्तस्यैव त्रसरेणवः ।।१९।।

यह कामना से प्रेरित सूर्य विज्ञान-स्वरूप ही है, ये सारे ब्रह्माण्ड इसी के त्रसरेणु हैं ।।१९।।

('विज्ञान' के कई अर्थ हो सकते हैं, यहाँ जो अभिप्रेत है वह इक्कीसवें श्लोक की व्याख्या में टीकाकार ने स्पष्ट किया है।

मूल में इस सूर्य को 'भावि‍ताशय' कहा गया है। इस शब्द का अर्थ मैंने 'कामना से प्रेरित' किया है। ऐसा अर्थ लेने के पीछे मेरे मन में भगवत्पाद के कनकधारा स्तोत्र का यह अन्तिम श्लोक है:

स्तुवन्ति ये स्तुतिभिरमूभिरन्वहम् त्रयीमयीम् त्रिभुवनमातरम् रमाम्
गुणाधिका गुरुतरभाग्यभाजिनो भवन्ति ते भुवि बुधभावि‍ताशयाः

अर्थात्, ''इस पृथिवी पर किसी कामना से प्रेरित होकर जो बुद्धिमान् व्यक्ति इस कनकधारा स्तोत्र के श्लोकों द्वारा वेदत्रयी-स्वरूपा, त्रिभुवन की जननी, लक्ष्मी देवी की प्रतिदिन स्तुति करते हैं, वे गुणों में बढ़े-चढ़े और बड़े भाग्य के अधिकारी होते हैं''।

यहाँ 'आशय' का तात्पर्य 'कामना' से है और 'भावित' का अर्थ वह है जो वैद्यक में प्रचलित है, किसी सुगन्ध या अन्य विशेषता को प्राप्त करने के लिए औषधियों को किसी धुँए या रस में 'बसाया' जाता है, यही 'भावित' करना होता है। स्तुति स-काम या अ-काम हो सकती है; कनकधारा स्तोत्र भगवत्पाद द्वारा एक निर्धन ब्राह्मणी को धन-प्राप्ति करा कर उसकी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए रचा गया था जिसके फलस्वरूप उसके घर में देवी ने स्वर्ण-वर्षा की। 'भावि‍ताशय (= स-काम)' व्यक्ति बुध भी हो सकते हैं और 'अ-बुध' भी। यहाँ 'बुध' विशेषण उन भावि‍ताशयों के लिए आया है जो अपनी कामना-पूर्ति के लिए इस स्तोत्र का आश्रय लेते हैं क्योंकि वे अपनी कामना-पूर्ति के लिए सही माध्यम का चुनाव करते हैं।

योगवासिष्ठ के इस श्लोक में आया सूर्य 'स-काम ब्रह्म' है जिसने सृष्टि करने की इच्छा की है। इस स्थिति को तैत्तिरीयोपनिषद् (२-६) में सोऽकामयत बहु स्याम् प्रजायेयेति (= उस ब्रह्म ने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ, प्रजा उत्पन्न करूँ) से समझाया गया है। अतः इस 'स-गुण ब्रह्म' को 'भावि‍ताशय' कहा गया है।

'भावि‍ताशय' के इस तात्पर्य तक पहुँचने के लिए मैं डा. बलराम शुक्ल और स्वामी मिथिलेशनन्दिनीशरण जी का आभारी हूँ।)

विज्ञानपरमार्कस्य भासा भान्ति भवन्ति च
इमा जगदहर्लक्ष्म्यः क्वचिल्लक्ष्म्यो रवेरिव ।।२०।।

इस विज्ञान-रूप सूर्य के ही प्रकाश में ये ब्रह्माण्ड स्पन्दवान् और सत्तावान् होते हैं। जगद्-रूपी दिन के ये ऐश्वर्य (उस) सूर्य के ही ऐश्वर्य हैं ।।२०।।

('त्रसरेणु' सूर्य के प्रकाश में ही गतिशील और अस्तित्व-वान् होते हैं, यदि सूर्य की सत्ता न हो तो त्रसरेणु का भी पता न चले। आशय यह है कि ब्रह्माण्डों से बने इस जगत् की सत्ता और स्पन्द तभी हैं जब चित्सूर्य प्रकाशित हो, जब वह मायाशबलित ब्रह्म अपनी सत्ता खोकर शुद्ध ब्रह्म में समाहित होगा तब यह जगत् भी लुप्त हो जायेगा।)

विज्ञानमात्रकचितात्मनि जन्तुजाते त्रैलोक्यमण्डपमणेरविकासभाजि
चिज्जन्मनोर्भवनसम्भ्रमतावलेखाः सन्तीह रे न मनागपि शान्तमास्स्व ।।२१।।

त्रैलोक्य-मण्डप की मणि-स्वरूप, चित् से जन्म लेने वाले इस सूर्य के अविकसित रहने पर केवल विज्ञान से ही खींचे गये (अर्थात् प्रकट किये गये) अपने को सत्तावान् समझने वाले जन्तुजाल में इस चित्सूर्य के सत्तावान् होने (जिससे उस जन्तुजाल के लिए जन्म, मरण, बन्धन, मोक्ष, जैसी) की भ्रमात्मक रेखाएँ वर्तमान होती हैं; हे वेताल, उनका कोई पारमार्थिक अस्तित्व नहीं है, तुम (अपने प्रथम प्रश्न का उत्तर पा चुके हो अब) चुप बैठो ।।२१।।

(टीकाकार ने कहा है कि 'विज्ञान' का अर्थ है 'शास्त्र द्वारा प्राप्त वह ज्ञान जो उस अखण्डाकार ब्रह्म से ही सर्वेक्य का ज्ञान है; यह ज्ञान उत्तमाधिकारियों को ही हो पाता है और अन्य के लिए यह अस्फुट रहता है और जगत् की पृथक् सत्ता के भान के नाते जन्म (= बन्धन) और मोक्ष की प्रतीति कराता है।

इस प्रकार 'विज्ञान' विवेकी के लिए ब्रह्मज्ञान है और अविवेकी के लिए अविद्या। इस 'अविकसित' विज्ञान के द्वारा अविवेकी ब्रह्म और जगत् की पृथक् सत्ता मानता हुआ, 'मैंने जन्म लिया, मैं बन्धन में हूँ, मेरा मोक्ष होगा' आदि भ्रमात्मक अवधारणाओं के फेर में पड़ा रहता है जबकि इसी विज्ञान के विकसित हो जाने पर विवेकी इन सबके मिथ्यात्व को समझता हुआ अपना और ब्रह्म का ऐक्य मानता है, वह 'नित्यमुक्त (= always already liberated)' है।

मेरे विचार में 'विज्ञान' के विषय में टीकाकार की बात को समझने के लिए यहाँ बृहदारण्यकोपनिषद् (४-५-१३) के शांकर भाष्य को भी ध्यान में रखना चाहिए जिसमें भगवत्पाद ने कहा है कि आत्मा भूत-मात्रा (= तन्मात्रा) के संसर्ग से विशेष विज्ञान को प्राप्त करता है और तब विद्या के द्वारा इस 'विज्ञान' के नष्ट हो जाने पर पुनः अपनी संज्ञा-हीनता को प्राप्त कर लेता है।)

इस ऋषिप्रणीत वाल्मीकिरचित वासिष्ठ महारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपायों में निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्ध के अन्तर्गत 'वेतालप्रश्नोत्तरवर्णन' नामक इकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

३ वेतालप्रश्नभेद

राजोवाच

कालसत्ता नभःसत्ता स्पन्दसत्ता च चिन्मयी
शुद्धचेतनसत्ता च सर्वमित्यादि पावनम् ।।१।।

राजा ने कहा

काल और आकाश की (स्थूल) सत्ताएँ, स्पन्द की सत्ता, चित् से निष्कृष्ट चिदाभास की सत्ता, और शुद्ध चेतन की सत्ता, ये सब पवित्र - ।।१।।

(वेताल का द्वितीय प्रश्न था कि किस महावायु में महागगन के कण बहते हैं। टीकाकार के अनुसार पहले तो यही सोचना चाहिए कि 'महागगन' से क्या तात्पर्य है क्योंकि 'गगन = आकाश' वैसे तो एक ही है किन्तु घड़े के भीतर की जगह 'घटाकाश' कहलाती है और मठ के भीतर की जगह 'मठाकाश'। अतः सोचना चाहिए कि यहाँ ग्रन्थकार क्या कहना चाहते हैं। एक तो यही आकाश है जिसे हम देखते-जानते हैं, फिर चूँकि उसमें 'महा' लगा हुआ है अतः उससे उस 'महाकाश' का भी अभिप्राय हो सकता है जो महाकाल की चिच्छक्ति से संवलित मायाकाश है, फिर सूत्रात्मा का वह आकाश भी अभिप्रेत हो सकता है जो स्पन्दशक्ति-प्रधान है, या फिर उस सूत्रात्माकाश से निकाला हुआ जीवाकाश हो सकता है जो शुद्ध चिदाभास है।

टीकाकार की इन बातों को समझने के लिए विद्यारण्य स्वामी की पंचदशी (चित्रदीप-प्रकरण, श्लोक २-४) को सामने रख लेना सुविधाजनक होगाः

परमात्मा में कल्पित जगत् की प्रक्रिया इस प्रकार हैः

> जैसे चित्र बनाने के लिए कपड़ा पहले धो कर साफ कर लिया जाता है, फिर उस पर माँड़ चढ़ाते हैं, तब उस पर आकृतियाँ खींची जाती हैं और तब उन आकृतियों को रँगते हैं (जिसके बाद वे चित्र कहलाती हैं), इसी प्रकार जगत् भी चार ही अवस्थाओं से गुज़र कर बनता है। परमात्मा जब स्वतः होता है (जैसे धुला हुआ कपड़ा) तो उसे 'चित्' कहते हैं, जब वह माया से युक्त होता है (जैसे माँड़ चढ़ाया कपड़ा) तब उसे 'अन्तर्यामी' कहते हैं, जब वह सूक्ष्म सृष्टि से युक्त होता है (जैसे वह माँड़ दिया कपड़ा जिस पर खाके खिंच गये हों) तब उसे 'सूत्रात्मा' कहते हैं, और जब वह स्थूल सृष्टि (= ब्रह्माण्ड आदि) से युक्त हो जाता है (जैसे खाके रंगे जाने के बाद 'चित्र' कहलाने लगते हैं) तब उसे 'विराट्' कहते हैं।

और इतना और जोड़ लेना चाहिए कि सूत्रात्मा की स्थिति अ-पंचीकृत महाभूतों वाली है और विराट् की स्थिति पंचीकृत महाभूतों वाली- इन दोनों प्रकार के पंचमहाभूतों का ज़िक्र ऊपर आ चुका है। जिन चार आकाशों का उल्लेख टीकाकार ने किया है वे विपरीत् क्रम से परमात्मा की इन्हीं विराट्, सूत्रात्मा, अन्तर्यामी, और चित्, अवस्थाओं के आकाश हैं।

यहाँ 'कालसत्ता' और 'नभः-सत्ता' विराट् की (स्थूल) सत्ता के अन्तर्गत हैं, 'स्पन्दसत्ता' क्रियाशक्ति-प्रधान सूत्रात्मा की (सूक्ष्म) सत्ता है, और शुद्ध चेतन परमात्मा से निष्कृष्ट चिदाभास (= जो चेतन जैसा लगता है किन्तु है नहीं) की सत्ता अन्तर्यामी की सत्ता है जिसके रजःकण ही वे निर्दोष कण हैं जो अनेक कल्पित विकारों के चलते परमात्मा की वायु में स्फुरणशील हैं। चिदाभास को विद्यारण्य स्वामी की ऊपर बतायी गयी चित्र की उपमा में उन चित्रों से समीकृत करना चाहिए जिनके वस्त्राभरण आदि दिखाये जाते हैं जैसे राजा और सैनिक आदि, यद्यपि वे उस चित्रपट में ही होते हैं और वास्तविक नहीं हैं; इसके विपरीत

जडाभास उन चित्रों से समीकृत होगा जिनके वस्त्राभरण आदि नहीं दिखाये जाते, जैसे पर्वत आदि- ये भी चित्रपट में ही हैं और वास्तविक नहीं हैं।)

परमात्मामहावायौ रजः स्फुरति चंचलम्
कुसुमांग इवामोद्स्तदतद्रूपकम् स्वतः ।।२।।

- परमात्मा रूपी वायु में (कल्पित) रजःकणों की तरह स्वतः स्फुरण करने के नाते चंचल हैं; (इन्हें ऐसा समझना चाहिए) जैसे फूल की सुगन्ध फूल से भिन्न भी है और अ-भिन्न भी (वैसे ही ये परमात्मा से भिन्न भी हैं, और अ-भिन्न भी) ।।२।।

(ये दो श्लोक मिल कर एक वाक्य बनाते हैं और वेताल के द्वितीय प्रश्न के उत्तर को पूरा करते हैं।)

जगदाख्ये महास्वप्ने स्वप्नात्स्वप्नान्तरम् व्रजत्
रूपम् त्यजति नो शान्तम्ब्रह्मशान्तत्वबृंहणम् ।।३।।

(वेताल का तीसरा प्रश्न था कि वह कौन है जो स्वप्न से स्वप्न में जाता हुआ अपने रूप को त्यागते हुए भी नहीं त्यागता, उसके उत्तर में कहते हैं कि) यह एक महास्वप्न है जिसे हम 'जगत्' कहते हैं। इसमें एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जाता हुआ (= विविध जन्म-मृत्यु, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, बन्ध-मोक्ष, आदि की काल्पनिक अवस्थाओं से गुज़रता हुआ और इस प्रकार रूप-परिवर्तन की प्रतीति कराता हुआ) यह आत्मा अपने (इस जगत्-स्वप्न से मुक्त अतः) शान्त स्वरूप का परित्याग नहीं करता। वह केवल ज्ञान होने के नाते अपने इस शान्तत्व (= माया-जन्य क्रियाशीलता से रहित होने की अवस्था) की वृद्धि करता रहता है (और इसी नाते 'ब्रह्म' कहलाता है क्योंकि उससे बड़ा कुछ भी नहीं है) ।।३।।

(यहाँ बृहदारण्यकोपनिषद् चतुर्थ अध्याय, तृतीय ब्राह्मण के मन्त्र १७, १८, १९ आदि को शांकर भाष्य सहित देखना हितकर होगा जिसमें आत्मा के स्वप्नावस्था, जागरावस्था, आदि में संचरण का विस्तार से वर्णन किया गया है।)

रम्भास्तम्भो यथा पत्रमात्रमेवान्तरान्तरम्
अन्तरन्तस्तथेदम् हि विश्वम्ब्रह्मविवर्त्यपि ।।४।।

(वेताल का चौथा प्रश्न यह था कि केले के तने की तरह कौन है, इसके उत्तर में कहते हैं कि) जैसे केले के तने के भीतर कितनी भी दूर तक जाया जाय, छिलके के भीतर छिलका ही मिलता है, वैसे ही इस विवर्तनशील ब्रह्म के भीतर विश्व है, अर्थात् बाहर से भीतर यह विश्व एक ही है ।।४।।

(टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि 'अपि = भी' से यह समझना चाहिए कि यद्यपि यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, कुछ गौण कारणों से इसे ब्रह्म का परिणाम भी कह सकते हैं। 'विवर्त' का तात्पर्य ऐसा परिवर्तन है जिसकी भिन्न सत्ता न हो, जैसे समुद्र में तरंग, और 'परिणाम' का तात्पर्य है ऐसा परिवर्तन जिसकी स्वतन्त्र

सत्ता हो, जैसे दूध से दही। केवलाद्वैत का स्वीकृत सिद्धान्त ब्रह्म को विवर्तनशील मानता है किन्तु भगवत्पाद ने ब्रह्मसूत्र (२-३-१४) के भाष्य में उपासनार्थ ब्रह्म को परिणामशील स्वीकार किया है, और यहाँ उसी ओर इशारा है।)

स ब्रह्मात्मादिभिः शब्दैर्यदेताभिर्विगीयते
शून्यमव्यपदेशम् ते न तत्किंचिंन्न किंचन ।।५।।

(इसी चौथे प्रश्न के उत्तर को समझाते हुए कहते हैं कि) वह जो भीतर से बाहर से एक ही है, (यद्यपि) 'ब्रह्म', 'आत्मा' जैसे शब्दों से बताया जाता है, वस्तुतः शून्य है, वह व्यपदेश-हीन है, वे शब्द कुछ नहीं हैं, वह ब्रह्म (शब्दों से बताया जा सकने वाला) 'कुछ' नहीं है ।।५।।

('व्यपदेश' का अर्थ 'भाषिक व्यवहार' होता है; ब्रह्म को 'व्यपदेश-हीन' कहने का अर्थ यह है कि वह किसी शब्द का वाच्य नहीं है।

टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि (चूँकि शब्द श्रोत्र नामक इन्द्रिय से ग्राह्य है इसलिए) 'ब्रह्म' आदि शब्दों से बताये जाने पर उस परम तत्व की जो गोचरता (= इन्द्रियग्राह्यता) प्रतीत होती है वह अ-वास्तविक है क्योंकि वह परम तत्व सभी धर्मों से शून्य है। तात्पर्य यह है कि अग्नि की प्रतीति हमें स्पर्श से इसलिए होती है कि उसमें दाहकता का धर्म है, इसी प्रकार कोई भी प्रतीति किसी-न-किसी धर्म के नाते होती है। ब्रह्म नामक परम तत्व किसी भी धर्म से रहित है अतः हम उसे 'ब्रह्म' कहने भर से उसकी प्रतीति नहीं कर सकते, हम 'अग्नि' को एक नाम इसलिए दे पाते हैं कि उसमें कुछ ऐसे धर्म हैं जो जल या वायु में नहीं हैं और उनकी पहचान की जा सकती है। परम तत्व में कोई धर्म नहीं है अतः उसे 'ब्रह्म' आदि नामों से बता कर उसे भाषिक व्यवहार में बाँधना केवल हमारी व्यावहारिक विवशता है।)

या या विभाव्यते सत्ता सा सानुभवनिर्मितान्
रम्भास्तम्भवदेतावंचिन्मात्रममलम् ततम् ।।६।।

(चौथे प्रश्न के उत्तर को ही स्पष्ट करते हैं कि) जो भी सत्ता प्रतीत होती है वह अनुभव की बनायी होती है (और उन अनुभव-जन्य निर्मितियों का परित्याग करती रहती है)। वस्तुतः ये सारी सत्ताएँ केवल 'चित्' भर हैं, जैसे केले का तना भीतर से बाहर तक छिलका ही छिलका है और इस प्रकार एक ही तत्व के आवरण का विस्तार है ।।६।।

(टीकाकार ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। 'पट (= कपड़ा) की सत्ता क्या है? केवल 'तन्तु (= धागा)' की सत्ता क्योंकि तन्तु ही बुने जाने के बाद पट कहलाने लगता है। फिर तन्तु की सत्ता क्या है? केवल 'कार्पास (= कपास)' की सत्ता, फिर वह भी केवल उसके फल की सत्ता है, फिर वह भी उसके बीज की सत्ता है। इस प्रकार जो भी सत्ता प्रतीत होती है वह केवल अनुभव-जन्य है और एक अनुभव-जन्य

आकार को छोड़ कर दूसरे अनुभव-जन्य आकार में समाती जाती है। यह ठीक वैसा ही है जैसे केले के तने के छिलके उतरते जाते हैं। सभी अनुभूत व्यावहारिक सत्ताओं के उतर जाने के बाद केवल 'चित्' बचा रहता है जो जगत् के रूप में बुना जाकर विस्तृत हुआ।)

सूक्ष्मत्वादप्यलभ्यत्वात् परमात्मा परोऽणुकः
अनन्तत्वादसावेव प्राप्तो मेर्वादिमूलताम् ।।७।।

(आगे इसी को समझाते हैं) सूक्ष्मता के नाते, अलभ्यता के नाते, वह परमात्मा (जिसे 'चित्' कहा गया) अत्यन्त छोटा है फिर भी अनन्त होने के नाते मेरु पर्वत आदि के मूल में है (अर्थात् विशालता की सत्ता उसी की सत्ता है और इस प्रकार उस अणु-रूपी परमात्मा के ही परमाणुओं के रूप में ये ब्रह्माण्ड आदि होते हैं) ।।७।।

(इसी से पाँचवें प्रश्न का भी उत्तर मिल गया जो यह था कि ब्रह्माण्ड आदि किस अणु के परमाणु हैं

इस सूक्ष्मता और अलभ्यता को 'अणु' से बताने का तर्क समझने के लिए छान्दोग्योपनिषद् (६-१३-२) का शांकर भाष्य देखना चाहिए जिसमें भगवत्पाद ने पानी में घुले नमक की सूक्ष्मता और अलभ्यता को नमक की 'अणिमा' कहा है।)

अणोरप्यत्यनन्तस्य पुंसोऽस्य जगदाद्यपि
परमाणुरिवाभाति प्रतीतत्वादरूपवत् ।।८।।

(इसी को समझाते हैं कि) प्रतीतत्व के नाते उस अणु होते हुए भी अनन्त पुरुष को ये जगत् आदि परमाणु जैसे अ-रूप लगते हैं ।।८।।

(टीकाकार बताते हैं कि अणुतर (= और भी छोटे होते जाते) चित्कणों से परिच्छिन्न होने के नाते ये ब्रह्माण्ड आदि स्वप्न-ब्रह्माण्ड जैसे निःस्वरूप लगते हैं जो सूक्ष्म नाडी-छिद्रों से झाँक रहे हों।

टीकाकार की इस बात को समझने के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् (४-३-२०) को ध्यान में रखना चाहिए जिसमें स्वप्न का स्थान 'हिता' नामक नाडियों को बताया गया है। भगवत्पाद ने यहाँ कहा है कि सूक्ष्म शरीर स्फटिक की भाँति स्वच्छ होता है और इन नाडियों के भीतर के रंगीन रस की आभा पड़ने से विभिन्न आकृतियों वाला भासित होता है; यही टीकाकार के शब्दों में 'स्वप्न-ब्रह्माण्डों का नाडीछिद्रों से झाँकना' है।)

परोऽणुरेषोऽलभ्यत्वात्पूरकत्वान्महागिरिः
सर्वावयवरूपोऽपि निरस्तावयवः पुमान् ।।९।।

(अब छठे प्रश्न का उत्तर देते हैं जो परमाणुमहागिरि के बारे में था) यह परमात्मा-पुरुष अलभ्य (= इन्द्रियों से अग्राह्य, जिसे देखना-सुनना-छूना-सूँघना-चखना सम्भव नहीं है) होने के नाते सूक्ष्म है और सभी

स्थूलताओं को भरने के नाते महान् पर्वत की तरह विशाल है। यह सभी अवयवों का रूप है और इसका कोई अवयव नहीं है ।।९।।

(टीकाकार बताते हैं कि इसका सभी अवयवों का रूप होना आरोपित है (जैसे रस्सी में साँप आरोपित होता है) और चूँकि इसका वर्णन 'नेति नेति (= यह नहीं, यह नहीं) के द्वारा किया गया है इसलिए इसके अवयव-रूप होने का भी खण्डन हो गया।)

अस्य वै ज्ञप्तिमात्रस्य मज्जामात्रंजगत्तयी
विज्ञानमात्रमध्यम् हि साधो विद्धि जगत्तयम् ।।१०।।

(इसी को आगे बढ़ाते हैं) यह केवल विज्ञान है और इसकी मज्जा ही यह त्रैलोक्य है। हे सज्जन वेताल, तुम इस त्रिलोकी को केवल विज्ञान के बीच वर्तमान समझो ।।१०।।

(तात्पर्य यह है कि इस त्रैलोक्य की भौतिक सत्ता केवल प्रतीयमान हे, वास्तविक नहीं है।)

विज्ञानमात्रकलनाकलितम् जगन्ति शान्तस्वभावसुकुमारमनन्तरूपम्
वेतालबालक पदम् तदलंघनीयमेवम् स्वयं समनुभावय शान्तमास्स्व ।।११।।

(अब सभी प्रश्नों के समाधान के बाद समापन करते हैं) हे बालक (= अल्पबुद्धि) वेताल, ये सारे जगत् केवल विज्ञान की गिनती से गिने गये हैं (= अविद्या द्वारा प्रादुर्भूत तन्मात्राओं के संसर्ग से प्राप्त विशेष ज्ञान द्वारा प्रकट किये गये हैं), इनका स्व-भाव शान्त और सुकुमार है तथा ये अनन्त रूपों वाले हैं। तुम उस स्थान (= स्व-भाव) को जहाँ पहुँचना असम्भव है (अर्थात् जो उपाय-प्राप्य नहीं है), स्वयं समझो और शान्त हो जाओ ।।११।।

(टीकाकार के अनुसार ग्रन्थकार का आशय यह है कि वेताल जैसे अल्पबुद्धि उस परम तत्व को स्वयं नहीं समझ सकते और राजा का कहना है कि उनके द्वारा दिये गये इस उपदेश से ही वेताल यह समझ सकेगा कि वह वस्तुतः उस परम तत्व से अभिन्न है। वह तत्व वेताल की इस मिथ्या किन्तु व्यावहारिक सत्ता की तरह उग्र और भयंकर नहीं है, शान्त और सुकुमार है और वेताल को उससे एकात्म हो कर अपनी उग्रता छोड़ देनी चाहिए।)

इस ऋषिप्रणीत वाल्मीकिरचित वासिष्ठ महारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपायों में निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्ध के अन्तर्गत 'वेतालप्रश्नभेद' नामक बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

४ वेतालाख्यान

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति राजमुखाच्छुत्वा वेतालः शान्तिमाययौ
भावितात्मतया तत्र विचारोचितया धिया ।।१।।

वसिष्ठ जी ने (हगवान् राम से) कहा-

राजा के मुँह से यह (ज्ञानोपदेश) सुन कर अपने वास्तविक स्वरूप को वेताल ने विचार-बुद्धि से समझ लिया और शान्त हो गया ।।१।।

(यहाँ तात्पर्य यह है कि उपदेश सुन कर उस पर विचार करने से वेताल को अपनी वेताल-सत्ता का मिथ्यात्व ज्ञात हो गया और उसने अपने को ब्रह्म के रूप में जान लिया।

संस्कृत के मूल-वाक्य में 'भावितात्मता' बुद्धि का विशेषण है और शब्दशः अनुवाद होगा 'अपने वास्तविक स्वरूप, अर्थात् परमात्मा, का तत्व-ज्ञान जिसमें व्याप्त किया गया है, ऐसी बुद्धि'।)

उपशान्तमना भूत्वा मत्वैकान्तमनिन्दितम्
बभूवाविचलध्यानी विस्मृत्य विषमाम् क्षुधाम् ।।२।।

वह वेताल शान्त मन वाला हो गया और अपने को ब्रह्म से एकाकार (अतः) अ-निन्दित समझता हुआ अविचल ध्यान में समाधिस्थ हो गया, अपनी कष्टदायक भूख उसे भूल गयी ।।२।।

(यहाँ ऐसा इशारा लगता है कि वेताल अपनी इस अवस्था में अपने वेताल-शरीर की भौतिकता से भी ऊपर उठ चुका है।)

एतद्राम मयोक्तम् ते वेतालप्रश्नजालकम्
एवंकमेण चिदणौ तेनेदं संस्थितम् जगत् ।।३।।

हे राम, मैंने यह तुमसे वेताल के प्रश्नों का जाल बताया। (जैसा उस राजा ने बताया था) उसी क्रम से (यह समझ लो कि) उस अत्यन्त सूक्ष्म 'चित्' में यह संसार स्थित है ।।३।।

(यह स्मरण रखना चाहिए कि इस समय कुछ कारणों से भगवान् राम अज्ञान-ग्रस्त हैं और महर्षि वसिष्ठ उन्हें ज्ञानोपदेश कर रहे हैं।)

चिदणोः कोशगम् विश्वम् विचारेण विलीयते
कायो वेतालकस्येव शिष्यते यत्पदम् तु तत् ।।४।।

हे राम, उस 'चित्' नामक अत्यन्त सूक्ष्म तत्व की मंजूषा में यह सारा विश्व विचार के बाद वैसे ही लुप्त हो जाता है जैसे वेताल का शरीर। फिर इस विश्व-विलोपन के बाद जो बचता है वही वह चित् नामक तत्व परमात्मा या ब्रह्म है ।।४।।

(टीकाकार ने समझाया है कि 'वेताल' कोई वास्तविक जीव नहीं, अल्पबुद्धि बालकों के भय की उपज है और इस भय-जन्य भ्रम के दूर होने पर स्वतः लुप्त हो जाता है- इसी प्रकार विश्व भी अज्ञान-जन्य भ्रम के दूर होने पर अपनी सत्ता की मिथ्या वास्तविकता त्याग देता हे और केवल ब्रह्म की सत्ता रह जाती है।)

संहृत्य सर्वतश्चित्तम् स्तिमितेनान्तरात्मना
स्वभावापतितम् कुर्वन्निरिच्छन् तिष्ठ शान्तधीः ।।५।।

हे राम, सब ओर से चित्त हटा कर, अन्तरात्मा को स्थिर रखो और अपने स्व-भाव में उस चित्त को ढालते हुए कोई भी इच्छा न करते हुए शान्तबुद्धि रहो ।।५।।

('स्व-भाव' से तात्पर्य है 'मैं ब्रह्म हूँ' का अनुभव करना।)

आकाशविशदम् कृत्वा मनसैव मनो मुने
तिष्ठैकशमशान्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।६।।

हे मुनि, मन से ही मन को आकाश जैसा विस्तार दे कर, एक ही वस्तु में सभी मनोवृत्तियों का शमन कर के अपने को शान्त रखो (और इस प्रकार) सभी चीज़ों को एक समान देखो ।।६।।

(तात्पर्य यह है कि सब कुछ ब्रह्म है, इसका अनुभव करो, सुख-दुःख से ऊपर उठो।

यहाँ महर्षि वसिष्ठ ने भगवान् राम को 'मुनि' इसलिए कहा है कि वे उन्हें मनन करने को कह रहे हैं।)

स्थिरबुद्धिरसम्मूढो यथाप्राप्तानुवर्तिनः
राज्ञो भगीरथस्येव दुःसाध्यमपि सिद्धति ।।७।।

हे राम, जिस व्यक्ति की बुद्धि (लालसाओं के वशीभूत होकर चंचल न बनकर) स्थिर होती है, जो मोह में नहीं पड़ता, जो उसे जो कुछ मिलता है उसी के अनुसार रहता है (और लोभवश कुछ ऐसा नहीं चाहता जो उसे न मिल सके) उसके अन्य लोगों द्वारा न सिद्ध हो सकने वाले कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं जैसे महाराज भगीरथ के हुए ।।७।।

(टीकाकार के अनुसार यहाँ यह इशारा है कि स्वर्ग से गंगा को उतार लाने का जो कार्य दिलीप और अंशुमान् जैसे प्रतापी न कर सके, उसे भगीरथ ने कर दिखाया।)

सम्पूर्णशान्तमनसः परितृप्तवृत्तेर्नित्यम् समे सुखमयात्मनि तिष्ठतोऽन्तः
सिद्धन्ति दुर्लभतरा अपि वांछितार्था गंगावतार इव सागरखातवस्तु ।।८।।

हे राम, जिस व्यक्ति का मन सम्पूर्ण रूप से शान्त होता है, जिसकी वृत्तियाँ पूरी तरह तृप्त हैं, जो अपने भीतर के सुखमय सम रूप में वर्तमान रहता है, उसकी चाहत के अतिदुर्लभ कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं जैसे (महाराज भगीरथ के चाहने पर उनके पूर्वज) सगर के पुत्रों द्वारा खोदी हुई खाइयों में माँ गंगा का (स्वर्ग से) उतरना) ।।८।।

(अब इस सर्ग की समाप्ति के आगे भगीरथ की कथा आती है जिसकी प्रसिद्ध प्रस्तुति हम वाल्मीकिकृत रामायण (बालकाण्ड, सर्ग ३८-४४) के आधार पर यहाँ दे रहे हैं; इसे महर्षि विश्वामित्र ने भगवान् राम को सुनाया थाः

अयोध्या के महाराज सगर की दो पत्नियाँ थींः एक विदर्भराज की पुत्री केशिनी और दूसरी अरिष्टनेमि की पुत्री सुमति जो गरुड की बहन थी। (यह स्पष्ट नहीं है कि ये अरिष्टनेमि वही हैं या नहीं जिनका नाम योगवासिष्ठ के प्रारम्भ में आया है। रामायण के टीकाकार इन्हें कश्यप मुनि बताते हैं जिसके आधार पर सुमति की माता का नाम विनता सिद्ध होता है।) सन्तान-प्राप्ति की इच्छा से इन सब ने महर्षि भृगु को सेवा से प्रसन्न किया जिन्होंने वर दिया कि एक पत्नी से एक ही पुत्र होगा जिससे वंश चलेगा और एक पत्नी से साठ हज़ार पुत्र होंगे जो महाप्रतापी होंगे। केशिनी ने एक ही किन्तु वंशधर पुत्र का चुनाव किया और सुमति ने साठ हज़ार पुत्रों का। केशिनी से असमंज नामक पुत्र हुआ जो अत्याचारी था और छोटे बच्चों को सरयू नदी में डुबा कर अपना मनोरंजन करता था। उसे राजा ने निर्वासित कर दिया। असमंज का पुत्र अंशुमान् धर्मात्मा था।

कालान्तर में महाराज सगर ने अश्वमेध यज्ञ करने की ठानी किन्तु इन्द्र ने यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया। (यह प्रसिद्ध है कि जो सौ अश्वमेध कर लेता है वह इन्द्र हो जाता है अतः इन्द्र अश्वमेध में बाधा डालते हैं।) सगर ने अपने साठ हज़ार पुत्रों को घोड़ा खोजकर लाने को कहा जिन्होंने सारी पृथिवी खोद डाली और रसातल तक पहुँच गये जहाँ महर्षि कपिल तपस्या कर रहे थे। उनके पास ही इन लोगों ने घोड़े को चरते देखा जिसे इन्द्र ने वहीं छिपा रखा था। इन सब ने महर्षि कपिल को ही चोर समझा और उन पर हमला किया जिससे रुष्ट होकर महर्षि ने इन सबको भस्म कर दिया। इनके न लौटने पर सगर ने अपने पौत्र अंशुमान् को घोड़े की खोज में भेजा जिसने रसातल तक पहुँचकर अपने पितृव्यों को भस्मीभूत पाया और शोकाकुल हो कर उनका तर्पण करना चाहा किन्तु उसे वहाँ कहीं जल न मिला। तब उसके पितृव्यों के मामा गरुड ने सारी कहानी बतायी और कहा कि इनका उद्धार तभी होगा जब इनकी भस्म गंगाजल में प्रवाहित होगी। लाचार अंशुमान् घोड़े को ले कर लौट आया और सगर का यज्ञ पूरा हुआ।

गंगा हिमालय की पुत्री और पार्वती की बड़ी बहन थीं जिन्हें देवताओं ने धर्मकार्य हेतु स्वर्ग में बुला रखा था। उन्हें स्वर्ग से पृथिवी पर उतार लाने के लिए अंशुमान् और उनके बेटे दिलीप ने बहुत प्रयास किये किन्तु वे सफल न हुए। अन्ततः दिलीप के बेटे भगीरथ की तपस्या के फलस्वरूप गंगा पृथिवी पर शिव की जटाओं से गुज़रती हुई आयीं और भगीरथ के रथ के पीछे-पीछे चलती हुई उनके पूर्वजों की भस्म को बहा ले गयीं जिससे उनको स्वर्गप्राप्ति हुई।

योगवासिष्ठ की प्रस्तुति इससे थोड़ी अलग है और उसमें भगीरथ द्वारा गंगा को उतार लाना उनके ब्रह्मचिन्तन, राज्यत्याग, संयोगतः एक अन्य राज्य की प्राप्ति आदि के अन्त में उनकी तपस्या और तदनन्तर प्राप्त वरदान के परिणाम के रूप में वर्णित है।

पाठकों के लिए यह जानना दिलचस्प होगा कि भारतीय फ़ारसी कविता के शीर्षपुरुष मिर्ज़ा बेदिल ने अपनी मसनवी इर्फ़ान (= ज्ञान) में गंगावतरण की कथा को कुछ साधारण भिन्नताओं के साथ प्रस्तुत किया है जिसमें गंगा में भस्म बहाने से स्वर्ग-प्राप्ति यथावत् है। भारतीय इस्लाम के सन्दर्भ में यह एक महत्वपूर्ण सूचना है, विशेषतः इसलिए भी कि मिर्ज़ा बेदिल ने यह मसनवी औरंगज़ेब के शासनकाल में लिखी थी और वे उसके सामन्त शुकरुल्ला खान के आश्रय में थे।)

इस ऋषिप्रणीत वाल्मीकिरचित वासिष्ठ महारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपायों में निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्ध के अन्तर्गत 'वेतालाख्यान' नामक तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

कोई है? और अन्य कविताएँ

शिरीष ढोबले

कोई है ?

पुरखों की सृष्टि के
नभ से झरती राख
से लथपथ केश, देह।
अबोध शिशु जैसी विमूढ़, निर्जल नयनों से
मूक विलाप करती पृथ्वी।
उसकी सूखी, ढली हुई काया की अनदेखी कर उड़ जाते हैं पक्षी देवता।

एक पृथक तल पर
हरा, हरा नहीं
नीला, नीला नहीं कहलाता।
आँखों से फूटती, पसरती भाप में
उपजते इन्द्रधनुष में
राख और माटी के
अनगिनत वर्ण होते हैं,
कर्कश कोलाहल को
और गाढ़ा करते
अपने अपने रेशों से।

कोई है जो सुने?

रहा जब तक

ईश्वरों का आलिंगन,
मैं एक नद जैसा प्रवाहित हुआ।

स्पर्श था जितना,
उनका अंश था जितना

पनिहारिन के घड़े में ठहरा,
नाभि तक आते जल में सूर्य को
अर्घ्य देते खड़े गृहस्थ की देह से लिथड़ा।

अक्षर जैसा
शब्द जैसा
गर्भ में पला
तट के वृक्षों से
जन्मा
झरा
काठ की देह धर
गीले पैरों से नाच किया घाट पर।

पंचक्रोशी में व्याप्त हुआ।

सुमन को सुगन्ध,
दूब को दूब का
रंग दिया
हर पत्ते को प्रेम की भिक्षा दी।

जब तक रहा ईश्वरों की छवि के आवरण में रहा,
जब नहीं रहा
उठता उमड़ता नीला
कोहरा हो कर
उनके घरों का
पहरा किया।

जब मैं लिखूँ वह

अन्धकार के सबसे गाढ़े क्षण में
जब स्वप्न हो अभागा

अभागी सूर्यशप्त दोपहर का
स्वेद से से लथपथ
नयनहीन पथिक का
उसकी झुलसी हुई देह का।
और जब मैं लिखूँ वह
सूर्य शब्द का ताप
क्षीण होता जाए
पल प्रति पल
अकस्मात छाया हो माथे पर
मोगरे की गन्ध हो पथिक की देह पर।
अन्धकार में लिखे शब्द काला वस्त्र ओढ़ लेते हैं।
सूर्य भी,
प्रेम भी और
उसकी आँच भी।
झरे मोगरे की कुम्हलाई पंखुड़ियों का वलय धरा पर
उसकी महीन गन्ध का वलय
आकाशों पर,
ठहरा रहता है
डाल से बिछुड़ा
काल से बिछुड़ा।
अन्धकार में
न सूझता पथ
पथ से अलग न पहचाना जाता पथिक
यदि हो भी कहीं
तब भी लगता है, नहीं है।

निष्कलुष

ऐसे सजा कर
पारिजात की एक डाल को
नीले परदों वाली खिड़की को

छूती हो जो,
जिसके बाहर ठहरी हो गौरैया की
उड़ान और चहक, सुगन्ध जैसे हो उपजती पारिजात की ही।
पके भात को
ईश्वरों की जूठन
बना कर
हाथों की पत्तल सबसे हरे पत्तों
से गढ़ी
ऐसे खाया कि
मद्य जैसे पिया
छक कर।
अपने पिता का स्मरण करते
साँवला मुख सलौना
वही मन्द स्मित,
स्वप्न में देखा
कारागृह के द्वार पर
बन्दियों से मिलने आयी उनकी विधवा महतारियों वाली क़तार में खड़ी साम्राज्ञी
वह आख्मतोवा,
वही जिसने
कई बार प्रेम किया।
मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि मैंने
धूल का एक कण भी बैठने नहीं दिया
न नीले परदे पर
न पिता की स्मृति पर
और
न कवियित्री पर।

नायिका

अपने किनारों से
जर्जर पृष्ठों वाली

सरहाने रखी
पर पढ़ी जा चुकी
पोथी की विस्मृत कथा के वाक्यों की
कारा में पड़ी
विस्मृत नायिका

निःसन्तान
निःशक्त गात्र

किसी भी जीवन में
या
किसी भी कथा में
फिर उल्लेख हो सके उसका
इसके लिए उसे तज देना होगा
अपना जन्म
या जीवन
या प्राण
या शरीर

श्वेत वस्त्र पहन कर पधारे ईश्वर
क्षुब्ध और क्रोधित थे
मूल कथा में
व्याकरण के दोषों से
याद आता है उन्हे
इस तपस्विनी को
वरदान दिया था
अजर अमर रहने का
अक्षत सौन्दर्य का

प्रेम था कथा में
करतार था

कर्तव्यों पर खरा
भरतार था
कुनबा था भरा पूरा
गाँव में कुआँ था गहरा
बारामासी सरिता
थी सीमा पर
और रसोई में
राख से मंजे
चमचमाते घड़े थे
ताँबे के
गंगाजल से भरे
झाँकने पर
जिनके भीतर
ईश्वरों के बिम्ब
दीख पड़ते थे

एक कथा से
दूसरी कथा में
चले जाते हैं ईश्वर
और उनके बिम्ब

रूपक

किसी और नक्षत्र पर
मैं ही।
विरह के कणों
से सन्तृप्त वायु में
साँस लेता हूँ।

शिराओं में बहता रक्त
धीरे-धीरे गहराता है नीला।

प्रेम के किसी उद्दाम
रूपक से रुष्ट
कविताओं में प्रारब्ध लिखने वाली देवियों की भवें तनती है
वे श्राप देती हैं।

हर कविता अन्तिम साँस और रक्त से लिथड़ी हिचकी से अपनी देह धरती है
हर कविता के अन्तिम छोर से शब्द पलायन करने लगते हैं।

देह नीली पड़ती जाती है
मेरी ही
दोनों नक्षत्रों पर।

रूपक २

"But like love
archers are blind"
Lorca

धू धू जलता अरण्य
गीले काठ से ज्यों झरता तरल अंगारा
वह अश्रु है बहता ऊष्ण।

आँखों के परदे की ओट में खड़ी
रोहिणी हो साक्षात
क्रुद्ध, कुपित।

शावक की झुलसती

ऐंठती त्वचा
देखते देखते
विलाप करती
कलपती हरिणी।

दृष्टिहीन धनुर्धर को कहा किसी ने, बताया कि वह जन्म से दृष्टिहीन है।
बाघ जैसा स्मित ला सके अपनी
भंगिमा में,
वह हँसा,
प्रेम क्यों पसरा है इतना कि दृष्टि का क्षय हो
उसकी गन्ध से?
यह नक्षत्रों की
गढ़न का खोट है।

मैं तितलियाँ
पकड़ता हूँ इन्द्रधनुष गढ़ने,
मेरे द्वार पर निर्भय खेलते हैं मृगशावक
इसी बेला
किसी वसुन्धरा।

वासवदत्ता

स्वप्न का न
आरम्भ न
मध्य न
अन्त।

उच्श्रृंखल वाक्य
और सम्वाद
अंक भी

मंच पर फिरती हो
दासी की वेशभूषा पहने साम्राज्ञी।

स्वप्नों को वरदान मिला होता है
जागृति पर
अपने विस्मृत हो जाने का।

जीवन वैसा ही
पर अपनी
अनगढ़
बुनाई पर,
अपने खोटे
रंगों पर
सदा लज्जित,
छाया की तरह
दिन भर,
जिसकी स्मृति किंचित रह गयी हो भोर तक मन में
उस अभागे स्वप्न की तरह
साथ साथ चलता है
जीवन भर।

मण्डल

शाश्वत निश्चेतना और
निरन्तर स्वप्न की साँझी छाया में पड़ी
कण कण बिखरती
देह का
अन्तिम सुमन,
कण कण गढ़ा

मण्डल।

उसे बीन कर कोई
फेंकता है व्योम की
देहरी पर,
वह देवताओं के सँकरे पथ का अनुसरण करता है
रंग रूप गन्ध गंवाता और
अन्ततः अजन्मा हो कर प्रवेश करता है
अस्खलित महास्वप्न के उस अध्याय में
जहाँ निरुद्देश्य उड़ रहे होते हैं
उध्वस्त मण्डल की रेत के
रंग बिरंगे कण।

नर्तकी

वह चलती है
सदा
डूबी हुई हो जल में
काँधों तक
और
प्रवाह के विपरीत
चलती हो जैसे।

इतना तनाव
देह में भर कर चलती है कि किसी भी क्षण
बिखर सकती है
कण कण
विलीन हो सकती है।

उसका दृष्टिक्षेप
आत्मा को चीर देता है
सर से पैर तक
क्रोध से नहीं
स्वभाव से।

सरल रेखाओं का मान
वह तब तक ही रखती है
जब तक उसकी चपल देह की
पिघली धातु को मुड़ना
न पड़े
एक छोर पर
कटार होने।

एक कठिन मन्त्र
एक तन्त्र
एक रेशमी ध्वजा
एक ऋतु
उसके मंच की पार्श्वभूमि,
उसकी ऊँची यष्टि से
सदा
आठ अंगुल नीचे।

'बाघ नख
बूढ़ा अरण्य
हाँफ़ता है
होंठों के किनारे से रिसता है
फेफड़ों में अटे रहस्यों से उभरता
हरा झाग।

शिराओं में
बहते विष से
झुलसी
वेदना से विकृत देह।

जब भी कोई
अश्वारूढ़ योद्धा
या रथी देवता
अपराजित
पार करता है सीमा
शक्ति क्षीण होती है
बाघ के नख टूटते हैं।

पारिजात
तमाल
सूखते है।

'परमेश्वर'

(येहूदा अमिखाई को समर्पित)

देह पर घाव पड़े थे।
प्रत्येक श्वास का आघात सहते थे।
पीड़ा की लहर मस्तक तक उठती थी।
एक भरता नहीं था।
हर सम्वत्सर पर दूसरा उभरता था।
सूखी त्वचा पर पूरे कुल की आयु गिनी जा सकती थी,
सकल सूर्योदयों की लिखा पढ़त थी।
कथा देवता जानते थे, उनके शस्त्र थे।
पीड़ा पृथ्वी जानती थी, दिठौना भी और हल्दी का लेप भी वह लगाती थी।
मुझे गोद में लिए धैर्य से बैठी रहती थी।

नीली किनार के सूती वस्त्र से छाया करती थी।
वह मालकौंस की भाषा में बोलती रहती और मैं बेसुध पड़ा रहता था। सूर्यास्त होता था।
पंच और साक्ष्यदार आते नहीं थे।
ऊँचे आसन से उठ कर जाते देवताओं के मुख पर मन्द हास होता था।

यह स्वप्न से बाहर

मरुस्थल की नाभि
पर नाचता था सूर्य
उसके पार थे पुरखे
क्लान्त देह
मलिन मुख
जाते किसी दिशा।
यह स्वप्न था
निश्चय नहीं हो पाता था
स्वप्न में किसी का जाना
जीवन में निकट आने जैसा था
या
जीवन से और दूर जाने जैसा
कई दिनों तक
एक सन्तप्त पीड़ा
मन पर कुण्डली धरे
बैठी रही
यह स्वप्न से बाहर था !

परमहंस

पूर्वजन्म की किसी बेला

वचन था
देवता मिलेंगे
इस जन्म तक बह आयी प्रतीक्षा थी
आँखों में उतर आया मोतिया था।
आभास और स्मृति की तरह
सरोवर के जल पर उतरता था हंस।
एक अन्धा पक्षी
आकाश पर तनी डोर टटोलता उड़ता था।
देवता अरण्य मार्ग से आये
अभी अभी उड़ चुके हंस की स्मृति और जल पर ठहरे उसके आभास के लिए
मोती ले कर।

कहो !

फीकी पड़ गई
तुम्हारी नीली चूनर
अधजली
बरसते अँगार से जली।
गहरी गाढ़ी छाया
सहोदर नक्षत्रों की
देवताओं की
तुम्हारे अनावृत कन्धों पर
धुँधलाती निरन्तर
निरन्तर दूर जाता
प्रार्थना का सुर।
गर्भ से बहता
पिघला लावा
उठता धुआँ
अभागी देह पर खिलता
अन्तिम सुमन सेवन्ती
वसन्त का त्यागपत्र

या मेरा कुम्हलाया प्रेमपत्र
अब मैं
मेनका की समाधि पर पसरी धूल में
उँगलियों से अपना
नाम लिखूँ
तुम्हारे लिए शोकगीत
लिखूँ या
तुम्हारी रेत में, राख में
बदलती देह पर
कोई यज्ञ रचाऊँ
कहो
क्या करूँ ?

वाक्य

घना मेघ
निर्जन पथ पर
उनींदी देह पर
मृत्यु झरे
अपनी अन्तिम बूँद तक।
मृगया शब्द
न मृग का है
न बाघ का
वैसे ही जैसे
जीवन नहीं है
मृत्यु का
वैसे ही जैसे
तर्जनी की
हलकी थरथराहट
सृष्टि का स्वप्न देखते
ईश्वर का

वाक्य नहीं है।

आली रे मेरे नैना बाण पड़ी ...!

एक अभिमन्त्रित शर
छूटता है प्रत्यंचा से।

जितना विकल उसका आहत लक्ष्य
जैसा उसका आर्तनाद,
उतना ही
वैसा ही
धनुर्धर का सन्ताप।

प्रेम ऐसे ही रचता है
उभयमुखी संहार,
कण्ठ पर झूलता अमरबेल का
निर्जीव हार।

विरह के निष्कम्प सरोवर में फैलती
रक्त रचित काई पर
फिसलता माणिक।

आलाप के गवाक्ष से
भीतर आता
विलाप।

ख़लील मामून की नज़्में

अनुवाद : रिज़वानुल हक़

बेनाम

मैं इब्राहिम[१] नहीं हूँ कि
हाजिरा[२] को शहर बदर करने
शाम[३] से मक्का के जलते सेहराओं में चला आऊँ
और वो भी
सारा[४] की हुक्मबरदारी[५] में
मैं इब्राहिम नहीं हूँ
कि चला जाऊँ अपने बेटे के हमराह
इक अनदेखे ख़ुदा की फ़रमाबरदारी में
अपने बेटे को क़ुर्बान करने
मैं इस्माईल नहीं हूँ
कि जिसकी एड़ियों की रगड़ से
चाह ज़मज़म फूट पड़ा था।
मैं इस्माईल नहीं हूँ
कि बाप का हुक्म मानते हुए
फ़ौरन क़ुर्बानी के लिए तैयार हो जाऊँ
मैं वो शैतान भी नहीं हूँ
कि जिसने इब्राहिम का रास्ता रोका था
और आज जिसे कंकरियाँ मार कर
तुम ख़ुश होते हो

१. एक पैग़म्बर, जिन्होंने ख़्वाब में ख़ुदा के हुक्म पर अपने बेटे इस्माईल की बलि दी लेकिन ख़ुदा ने बेटे को बचा लिया, २. इब्राहिम की दूसरी पत्नी, ३. सीरिया, ४. इब्राहिम की पहली पत्नी, ५. हुक्म को पूरा करने।

मैं वो ख़ुदा भी नहीं हूँ
कि जिसने ऐन क़ुर्बानी के वक़्त
इब्राहिम के आगे एक दुम्बा[६] डाल दिया था

मैं उस कहानी या हक़ीक़त का
किसी भी तरह हिस्सा नहीं हूँ
मैं कोई क़िस्सा नहीं हूँ
मैं वो मुसलमान भी नहीं हूँ
कि जो दिल के हजे-अकबर को छोड़ कर
काबे का ग़िलाफ़ छूने हर साल
मक्का चला जाऊँ
मैं उनमें से भी नहीं हूँ
कि जो मोटे-मोटे बकरों की तलाश में
निकल पड़ते हैं
और क़ुर्बानी करके
गोश्त अमीर ओ उमरा में तक़सीम करते हैं
अपने नफ़्स[७] को आज़ाद छोड़कर
मैं उन लोगों में भी नहीं हूँ
जो जोक़ दर जोक़[८]
ईदगाहों में चले आते हैं
सफ़ेद कपड़े पहन कर और इत्र लगा कर
छः ज़ायद-तकबीरों[९] से
ख़ुदा को याद करने
मैं तो घर में पड़ा पड़ा
अपनी आक़िबत[१०] की दुआ करता हूँ
और अपने तूल अमल को मुख़्तसर
करने में मगन रहता हूँ
मैं उन इमामों में भी नहीं हूँ

---

६. भेड़, ७. स्वयं, ८. पंक्तियों, ९. अतिरिक्त अल्लाह हुअकबर कहना (ईद की नमाज़ में), १०. मृत्यु के बाद की ज़िन्दगी।

कि जो रात भर ख़ुतबा रट रट कर
सुबह सुबह ईदगाहों और मस्जिदों में
पहुँच जाते हैं
अपनी ग़लत सलत ताबीरों[११] के साथ

क़ौम के लिए उजरत याफ़्ता मुसल्लेह[१२] बनने के लिए
और जिनकी तक़रीरें
सिर्फ़ इबादतगाहों के
अहाते तक महदूद रह जाती हैं
मैं उस भीड़ में भी नहीं हूँ
कि जो ईदगाहों से लौटते हुए
ट्रैफ़िक जाम कर देती है
और अज़्ल[१३] के भूखे नंगे फ़क़ीरों पर
चन्द सिक्के उछाल कर
अपनी सख़ावत[१४] का सुबूत देती है
मैं उन दावतियों में भी नहीं हूँ
कि जो ज़्यादा से ज़्यादा
बिरयानी, क़ोरमा और रोटी
खाने को अपना पैदाइशी हक़ समझते हैं
मैं तो उन सायमीन[१५] में से हूँ
कि जिनको मुरग़न ग़िज़ाओं[१६] से
मतली आती है
मैं उस सड़ते हुए निज़ाम[१७] का
हिस्सा हूँ
कि जो चौदह सौ सालों
से बिखरते बिखरते
महज़ टोपियों
ऊँचे टख़ने के पाजामों और मस्जिदों

---

११. व्याख्याओं, १२. भुगतान पर सुधार कार्य करने वाले, १३. हमेशा, १४. दानवीरता, १५. रोज़ा रखने वालों, १६. मुर्गे वाले खाने, १७. व्यवस्था।

तक महदूद हो गया है
जो रियाकारी में अफ़ज़ल[१८] और ख़ुफ़िया नेकियों में
बदतर है
मैं वो हूँ जो

हिन्दुस्तान में मुसलमान
पाकिस्तान में मुहाजिर
सऊदी अरब में हिन्दी
और अमरीका में दहशतगर्द कहलाता है
मैं वो हूँ जो किसी ज़ुबान को नहीं समझता
और जो आज़ादी से ज़िन्दा नहीं रह सकता
न ही इज़्ज़त के साथ
मर सकता है
मैं वो हूँ
जिसके शेर रद्दी की टोकरी
की नज़्र हो जाते हैं
और जिसके दीवान
घुन लगी अलमारी में अपने नज़रे आतिश
होने का इन्तज़ार कर रहे हैं
मैं जब अपनी ज़ात सिफ़ात[१६] की
क़ुर्बानियाँ दे रहा हूँ
तो ये क़ुर्बानी कैसी
जब तुमने ज़ुबान काट ली है
तो मकालमा[२०] कैसा
मुआनक़ा[२१] कैसा
गुफ़्तगू कैसी
तुम मुझे किसी नाम से न पुकारो
न माज़ी के
न मुस्तक़बिल के

---

१८. बुरे कामों में अच्छा, १६. व्यक्तिगत गुणों, २०. संवाद, २१. गले लगना।

न ही हाल के
मुझे एक नए नाम की तलाश है
मैं उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते
अगर मर जाऊँ

तो तुम मुझे
बेनाम मुरदार[२२] का नाम दे देना
और क़ब्रिस्तान से बाहर
किसी कूड़े करकट के ढेर में मिला देना
और
मेरे वजूद को
इक बुरा ख़्वाब समझ कर
जला देना

अंधेरे घर में तलाश

अज़लम उल अशिया व दारुल हबीब बिला हबीब
(दुनिया में सबसे ज़्यादा अंधेरा महबूब का घर है, जब महबूब मौजूद न हो)

ऐ महबूब
हज़ारों मील का सफ़र तै करके
हम तेरी तलाश में यहाँ क्यों आए
तेरा घर इतना तारीक[२३] क्यों है
इसके बाम-ओ-दर[२४] में इतना अंधेरा क्यों है
तेरे घर की सियाही को देखकर
हमें इतना डर क्यों लग रहा है
तुमने अपनी बरकतें अपने ख़ाली घर में
क्यों नहीं छोड़ीं
तुम हमारी नफ़सानी[२५] आँखों को

२२. मुर्दा, २३. अंधेरा, २४. छज्जे और दरवाज़े, २५. कामुक।

क्यों नहीं दिखाई दे रहे हो
तुम्हारे घर के एतराफ़ तवाफ़[२६] में उठाए गए
हमारे क़दम इतने भारी क्यों हो गये हैं
हमारे संगज़दा[२७] दिल धड़क क्यों नहीं
रहे हैं

हमारी आँखों में आँसू क्यों नहीं आ रहे हैं
हमारे हाथों से दुनिया-व-उक़बा[२८] का दामन
छूट क्यों नहीं रहा है
क्यों हम अपनी इन ज़रूरियात से
चिमटे हुए हैं
यहाँ आने से पहले
हमने तेरे हुज़ूर अपने दिलों के
प्यालों को ख़ाली क्यों नहीं किया
क्यों हमने जान ओ दिल के असासा को
तुम्हारी राह में बर्बाद नहीं किया
हमने इस पत्थर की इमारत में
तुम्हें तलाश क्यों किया
क्यों हमने मजरूह[२९] दिलों में तुम्हारी
आमद[३०] को ख़ुशआमदीद[३१] नहीं कहा
क्यों हमने दुनिया-व-दीन में
मंज़र-व-पस मंज़र में
अपने जिस्म-ओ-जान में
तुम्हारे अक्स के अक्स को
तुम्हारे जलवे की किरनों
को बिखरते नहीं देखा
हम तुम्हें ढूँढ़ते हुए
इस अंधेरे घर तक क्यों आ पहुँचे

---

२६. चारों तरफ़ चक्कर काटना, २७. पथरीले, २८. मरने के बाद, २९. घायल, ३०. आना, ३१. स्वागत।

कश्मीर के लिए एक नज़्म

(सैलाब से पहले)

मेरे दिल को ज़ख़्मी वादी में दफ़्न कर दो
जहाँ चिनारों से उभरते हुए नारंजी शोलों

की दहक उसे नीम बर्फ़ आलूद[३२] और सैलाबज़दा मिट्टी में
जला देगी
डल के यख़ बस्ता[३३] पानी की गहराईयों में
उसे ऐसी नींद आएगी कि
दहशत के काबूस[३४]
और पुलिस की गोलियाँ भी उसे जगा न पाएंगी
बोलवार्ड पर लालची सय्याहों की निगाहें भी
उसे ज़िन्दगी पर उकसा न पाएंगी
लोलाब[३५] की वादियों में खिले हुए ज़ाफ़रान के
उन्नाबी[३६] फूल भी उसकी आत्मा के ह्यूले[३७] को अपनी
जानिब बुला न पाएंगे
हज़रत बल की मुक़द्दस अलमारी में बन्द तबर्रुकात
की तासीर कहाँ चली गयी है
नूरुद्दीन वली के नग़मे कहाँ खो गये हैं
हारवान का बाग़ इतना सुनसान क्यों है
आज ऐवान[३८] में उभरते हुए लफ्फ़ाज़ी के कीचड़ से
मेरे तमाम कपड़े इतने गन्दे कैसे हो गये
आज शंकराचार्य के मंदिर की घंटियों की
सुरीली सदा[३९] क्यों सुनाई नहीं देती
आज सफ़ेदे के पेड़ों में पत्ते क्यों नहीं हैं
आज गुलमर्ग की हरियाली ज़र्द क्यों पड़ गयी
इस बर्फ़बारी में

---

३२. आधे बर्फ़ से ढके, ३३. जमी हुई बर्फ़, ३४. बुरे सपने, ३५. घाटी का नाम, ३६. गहरा लाल, ३७. परछाई, ३८. सत्ता का महल, ३९. आवाज़।

आज फ़र्नों के अंदर जला देने वाली इतनी
सारी आग क्यों आ गयी
आज कांगड़ियाँ बुझ क्यों नहीं रही हैं
मेरी लाश लाल चौक में

बेगौर[४०]-ओ-कफ़न पड़ी हुई है
और उसके गिर्द
भाँत भाँत के कुत्ते भौंक रहे हैं
वो किसी को लाश उठा कर दफ़्न करने नहीं देते
और मुझे कफ़न देने भी नहीं देते
मेरी रूह की आवाज़
न आसमान में जाती है
और न पहाड़ों में
दिल्ली के लाल क़िले से टकराने का तो सवाल ही
पैदा नहीं होता
इन वादियों में
न शिव है
न अल्लाह
न ही गौतम बुद्ध
सरकण्डों के पीछे
हर तरफ़
डाकुओं की टोलियाँ छिपी हुई हैं
एक दूसरे की ताक में
एक तरफ़ से दूसरी तरफ़
मुसलसल गश्त कर रही हैं
मासूम लोगों की तलाश में
गोलियाँ दाग़ने के इन्तज़ार में
कितनी गर्मी है इस बहार में
शायद चश्मए-शाही का पानी ही

---

४०. बिना क़ब्र।

कड़वा हो गया है
झेलम का पानी तो पहले से तअफ़्फ़ुनज़दा[४१] है
फिर भी मेरे मुर्दा दिल को
तुम इस ज़ख़्मी वादी की गोद में दफ़ना दो

ताकि ज़मीन के अन्दर
रिसते हुए ख़ून में गदलाहट मिल कर
ये भी सड़ जाए
और यहाँ से उठती हुई गंध में इज़ाफ़ा
हो जाए
ताकि कुछ तो सही
श्रीनगर और दिल्ली के अम्न फ़रोशों के
ज़हनों में सफ़ाई के कीड़े कुलबुलाएँ
और उन्हें आज न सही कल
जारोब कशी[४२] की सआदत[४३] मिल जाए

बाहर तो बहुत अंधेरा है

अंधेरे
आहिस्ता-आहिस्ता किसी अज़दहे[४४] की तरह
आगे बढ़ रहे हैं
अपने पेट में
शिकार की रौशनी लिए हुए
इसी रौशनी ने
इसी नूर ने
हमें आज तक ज़िन्दा रखा है

---

४१. बदबू भरा, ४२. झाड़ू लगाने, ४३. गौरव, ४४. अजगर।

ज़मीन पर चलते हैं
दरियाओं में तैरते हैं
हवा में उड़ते हैं
सियाही ही से छनछन कर
आने वाली रौशनी ही तो हमारी

ज़िन्दगी की बुनियाद है
यही हमारी फ़रियाद है
इसमें हम घर बनाते हैं
रस्ते सजाते हैं
हम जब भी ख़ुदा की तलाश करते हैं
मुसलसल दीवार से
टकरा कर गिर जाते हैं
उजाले में मर जाते हैं
हमें यहाँ पर रोज़
आना पड़ता है मरने के लिए
हमें जीने का मातम करना पड़ता है
ज़हर भरे तीर को सीने में घोंप कर
जीने का नाटक करना पड़े
ज़मीन से कुछ भी नज़र नहीं आता
आसमान से कुछ नज़र नहीं आता
इस अंधेरी सुरंग में
सिर्फ़ महसूस किया जा सकता है
उस ऊँचाई को जिसे अर्श कहते हैं
उस गहराई को जिसे पाताल कहते हैं
तुम दर्द की चिंगारी लिए
चुपचाप मेरे साथ चलते रहो
बाहर मत देखो
बाहर तो बस अंधेरा है
अल्लाहो-अकबर

बर्फ़ से ढके सनोबरों[४५] की तरह
सीने में पेवस्त ख़ंजरों की तरह
मेरी ज़ुबान बन्द है

मेरे जीने और मरने का हर निशान बन्द है
जब मशरिक़[४६] से सूरज निकलेगा
जब धूप फैलेगी
जब बर्फ़ पिघलेगी
तो मेरे लब खुलेंगे
हरे हरे नुकीले पत्तों की तरह
जब सीने से ख़ंजर बाहर निकाला जाएगा
तो दो चार ख़ून के क़तरे
जिस्म के बाहर आएँगे
ज़मीन में जज़्ब हो जाएँगे
लेकिन तब
जान जा चुकी होगी
जिस्म ठण्ढा पड़ चुका होगा
कोई आवाज़ नहीं आएगी
सुकूत हमेशा की तरह बाक़ी रहेगा
सिर्फ़ लाश को जनाज़े में रखने वालों
की चेम गोइयाँ
और जनाज़ा ढोने वालों
के नार-ए-तकबीर का शोर
फ़िज़ा में गूँजेगा
और शायद यही मेरी आख़िरी नज़्म होगी
सुकूत[४७] को तोड़ने वाला
महज़ एक नारा
अल्लाहो-अकबर

---

४५. चिलग़ोज़े का पेड़, ४६. पूरब, ४७. शाँति।

तुम कैसे फूल हो

तुम कैसे फूल हो
जो धूल नहीं बने

न तुम मिट्टी में गिरे
न ही तुम्हारी पत्तियाँ टूटीं
ख़ुशबू अब तक आ रही है
शायद तुम शाख़ पर नहीं हो
शायद तुम गुलदान में हो
जहाँ हर रोज़ पानी बदल दिया जाता है
तुम कैसे दोस्त हो
जो अब तक मेरे लिए बबूल नहीं बने
न ही दिल दुखाने वाली कोई बात की
न ही छुप छुप कर
मेरे दुश्मनों से मुलाक़ात की
शायद तुम दोस्त नहीं हो
और न कोई बदरूह[४८]
शायद तुम गोश्त पोस्त नहीं हो
मैं तुम्हें फ़रिश्ता भी नहीं कहूँगा
ये मेरे एतक़ाद[४९] के बाहर है
कायनात से भी
ज़ात से भी
मुझे सिर्फ़ आसमान के कबूदी फूलों से
मुहब्बत है
जो बादलों से झाँकते हैं
आकाश में जन्म लेते हैं
ऐसे फूल जो दिखाई देते हैं

---

४८. बुरी आत्मा, ४९. विश्वास।

किसी अन्जान लम्हे में
जब आँख सो रही होती है
ये वक़्त रात का है
या सुबह का पता नहीं
शायद नक़्ले मकानी[५०] के बाद

मेरे घर का कोई पता नहीं
मैं तमाम इमकानात[५१] में
आज़ादी और आवारगी से
भागती हुई बेख़बरी हूँ
मुझे कोई ख़बर न देना
मैं टेलीविज़न से थका हुआ दिमाग़ हूँ
और सोना चाहता हूँ
नीले कबूदी आसमानी फूलों के दरमियान
जो कभी धूल नहीं बनते
चुभते हुए काटों से आरी
ख़ला[५२] में लटकती हुई जड़ों से मेरे
ख़्वाब की इंतिहा के बाद कोई नींद नहीं है
एक बेनाम ख़ुशबू है
जो पूरी कायनात में फैल गयी है

गौहरे-नायाब

वो क्या गौहरे-नायाब[५३] था
जो खो दिया मैंने
वुफूरे-रौशनी[५४] से
रास्ता इक बुक़्क़ए-नूर[५५] था

५०. मकान बदलने, ५१. सम्भावनाओं, ५२. शून्य, ५३. क़ीमती मोती, ५४. रौशनी की अधिकता, ५५. रौशनी का केन्द्र।

कोई रहज़न न था
कोई दुश्मन न था
सभी थे दोस्त
जो हमराह थे
चुराता कौन उसे
न था ये जेब में

और न गलों में
न जिस्म के ऊपर था
शायद दिल में था
फिर कैसे खो गया
क्या ये ग़म था होने का
और ख़ुशी न होने की
या फिर कोई ख़ुफ़िया आरज़ू थी
तमन्ना थी ख़्याबान[५६] की
सुरूद[५७] ओ नग़मा
किसी अंजुमन का
ख़ुशबू गुलो-लाला[५८] के चमन की
वो क्या था
या न था
वो क्या गौहरे-नायाब था
जो खो दिया रस्ते में
या फिर जुस्तजू[५९] की भूख ने
उसको मिटा डाला
ज़िन्दगी के दर्द ने
उसे जला डाला
वो क्या था
सोच के आइना-ए-ज़ंगार[६०] में
इक अक्स भी बाक़ी नहीं उसका

५६. फूलों भरा रास्ता, ५७. गीत, ५८. गुलाब और लाला के फूल, ५९. तलाश, ६०. ज़ंग लगा आइना।

उसकी याद का
इक नक़्शे-पा[६१] भी
रेत पर
बाक़ी नहीं उसका
यहाँ तक आते आते

दिन के उजाले जाते जाते
शाम के गहराते सायों में
अब कुछ भी
याद आता नहीं
बस एक एहसास
मुबहिम[६२] सा है
खोने का
सिवाए जिस्म ख़स्ता व बीमार के
कुछ भी होने का
अब जी चाहता है
दिले आवारा से कह दूँ
किसी जंगल में
आज़ाद कर दे
जिस्म ओ जाँ को भी
किसी सेहरा[६३] में जाए
किसी रेत के तोदे[६४] में
दफ़्न कर दे
ख़ुद को भी

फूल ज़ख़्म है

नविश्त-ए-बहार[६५]

६१. पैर का निशान, ६२. अर्थहीन, ६३. रेगिस्तान, ६४. टीला, ६५. बहार का लिखना।

ज़ख़्मे-ज़र अंगार[६६]
फूल सा मुस्करा रहा है क्यों
गुलाबी पत्तियों पे
किरनें सुबह की
सँवर रहीं हैं यूँ

कि जैसे ये गुल आफ़ताब[६७] हों
सबा[६८] के नर्म नर्म झोंके में
कोई सुनहरी नाव
झील में चल रही है
ज़ेरे आब[६९]
लहरें दर्द की
दूर के किनारे
साहिलों में
जज़्ब हो रही हैं
लहू के क़तरे
सुर्ख़रू उफ़क़[७०] की लाली में
चार चाँद लगा रहे हैं
ये ज़िन्दगी है ख़्वाब की
या ख़्वाब ज़िन्दगी में है
ज़ख़्म फूल और बहार
सभों का रंग एक है
उभर रहा है जो नज़र के सामने
वो महज़ इक सराब[७१] है
कोई नहीं यहाँ पे जो
अनेक है
हर एक फूल की महक
इज़्तिराब[७२] है

---

६६. नासूर बन चुके ज़ख़्म, ६७. गुलाब रूपी सूरज, ६८. सुबह की ठण्डी हवा, ६९. पानी के नीचे, ७०. शाम की लालिमा, ७१. मृग तृष्णा, ७२. बेचैनी।

मेरा लहू बहार में
ख़ुदा की तरह एक है

अज़ल का नग़मए नाबूद[७३]

जब आँख नहीं
जब नींद नहीं
जब ख़्वाब नहीं
जो दिख रहा है
वो क्या है
ऐसे जैसे
बड़े बड़े पर्दे पर
कोई फ़िल्म चल रही है
धूल भरे रास्ते में
कोई जिस्म कटा हुआ पड़ा है
दरख़्तों की ओट में छिपी
कोई रूह रो रही है
अनदेखे समुन्दरों के बीच
बड़े सुकून से
कोई नाव सो रही है
आफ़ाक़[७४] में कहीं
सुबह हो रही है
चार सू
उजाला फैल रहा है
काले-काले मुर्दा सायों से

---

७३. हमेशा रहने वाला नग़मा जो अब नहीं है, ७४. ब्रह्माण्ड।

आँख मिचौली खेल रहा है
ये सब
क्या हो रहा है
कहाँ हो रहा है
जहाँ हो रहा है
वहाँ
क्या कोई अन्देश-ए-वफ़ा है

क्या कोई आमाद-ए-वफ़ा[७५] है
जो दिख रहा है
वो क्या है
जब दिल नहीं है
जब क़दमों की
मंज़िल नहीं है
जब दर्द का कोई
साहिल नहीं है
जब किसी चीज़ का
कोई हासिल नहीं है
जब ख़ुशी ख़त्म हो गयी
दर्द भी ज़ाइल[७६]
ग़म भी ख़त्म हो गया है
अब हमारा
क्या आसरा है
लक़-ओ-दक़ सेहरा में
जो तपती रेत बिछी है
लटकती ज़ुबानों में
जो प्यास लगी है
जो कुछ है
जो कुछ बाक़ी है

---

७५. वफ़ा के लिए तैयार, ७६. ख़त्म होना।

वो सज़ा है
ज़िन्दगी की आहनी[७७] सलाख़ों के पीछे
इक जिस्म जो पा-ब-जोलाँ[७८] लड़खड़ा रहा है
इक रूह जो
तितली की तरह
किसी यख़बस्ता[७९] तहख़ाने में
भटक रही है

आज़ादी के खुले मैदान में
इक दीवार जो गिर गयी है
इक घर जो बैठ गया है
इक रस्ता जो खो गया है
इक दरिया जो सूख गया है
इक सेहरा जो चमक गया है
इक मंज़िल जो लापता है
जो दिख रहा है
वो क्या है
न मेरे चेहरे पर
आँखें है
न सामने मेरे
कोई आईना है
फिर दर्द मेरे दिल में
क्यों सिवा है
मैं दूर ख़ुद से
बढ़ रहा हूँ
हर मोड़ पर
अपने आपसे
लड़ रहा हूँ
फिर भी

---

७७. लोहे की, ७८. पैरों में ज़ंजीर, ७९. बर्फ़ सी जमी।

अन्दर और बाहर
इक ख़ला है
काले काले
घने घने जंगलों
हर तरफ़ से लपकती हुई
बला है
जब आँखें बन्द हैं

तो
जो दिख रहा है
वो क्या है
मंज़र
हर तरह के क़दमों की
धूल से अटा है
मंज़र
मेरी आँखों में सजा है
उसे
आँसू कभी न धो पाएँ
हम जाएँ तो कहाँ जाएँ
ख़्वाबों की ओट में
कोई पनाह नहीं है
वो कौन सी जगह है जहाँ
जीना गुनाह नहीं है
किताबे-असा[८०] और पहाड़ियाँ
हमें क्यों बुला रही हैं
ज़हरीले नागों से लदी झाड़ियाँ
हमें क्यों पुकारती हैं
तकमील[८१] तो कहीं भी हो न पाए
अपनी ज़ात की

---

८०. तौरैत (पवित्र किताब), ८१. पूर्ण।

हमारी इबादतों की
पुर सुकून झील में
तहलील[८२] भी न हो पाए
कहानी कभी
उस रात की
हरगिज़ नहीं बदलेगी
इस कायनात की

कोई भी रोशनी
मेरी आँखें जो देख रही हैं उसे बदल नहीं सकती
कोई भी जेहाद हो
हमारी ज़ात
दुश्मनों के नर्ग़े[८३] से निकल नहीं सकती
आहिस्ता-आहिस्ता चुभते
ग़ुलामी के नीश-अक़रब[८४]
कुचल नहीं सकती
फिर भी
जो दिख रहा है
वो क्या है
क्या ये अन्देश-ए-वफ़ा है
क्या ये कोई बला है
क्या ये हमारे वजूद की सज़ा है
क्या हमारे पास
इसकी कोई दुआ है
या फिर
जिसे पीकर हमेशा हमेशा के लिए सो जाऊँ
ऐसा कोई नश्शा है?
कोई तो बताए
आख़िर को

---

८२. घुल मिल जाना, ८३. घेरे, ८४. हीरे की धार।

जो दिख रहा है
वो क्या है

लालाज़ार में ख़िज़ाँ[८५]

वो लालाज़ार[८६]
वो आबशार[८७]

वो फूलों का बन

वो सरसब्ज़[८८] चमन

देख रहे हैं!

वो जहाँ

ख़्वाब में भी हम

कभी पहुँच न पाएँगे

वो आँसू देख रहे हैं

जो पलकों पर आके

बंजर ज़मीनों पर गिर न सके

अधूरे सफ़र के

अधूरे मुसाफ़िरों की तरह

देख रहे हैं

मुश्क-बू-का हामिल[८९]

वो आहू[९०]

जो भागे तो कभी कहीं रुके नहीं

वो ख़ुशबू देख रहे हैं

जिसका पता फूल भी न बता सके

हिज्र[९१] की नामुराद आँखों में

वस्ल[९२] का नाकाम साया

---

८५. चमन में वीरानी, ८६. लाला फूल की क्यारी, ८७. झरना, ८८. हरा भरा, ८९. हिरन की नाभि की ख़ुश्बू की तरह, ९०. हिरन, ९१. जुदाई, ९२. मिलन।

लहरा रहा है

जी चाहता है

आँखें मूँद लें

हो सकता है

चलने वालों की मजबूरी महज़

रास्ता ख़त्म करने पर मौक़ूफ़ हो

या फिर वासिता ख़त्म करने के लिए

या फिर
जिस्म के हदों से निकल कर
बे-तरतीबी[६३] के ज़र्रों में ढल कर
किसी सब्ज़ आज़ार के ढलवान की तरफ़
मौजूद गिरती हुई खाई में
गिर रहे हैं
इस वाक़िए का
हँसी में न ढलने का अमल
अभी अधूरा है
लेकिन
सोच का दायरा
उदास आँखों में
बाक़ी है
जीने से कुछ नहीं होगा
मरने से कुछ नहीं होगा
कौन सी शै है
जो हमारी
रूहों के आइने से निकल कर
सड़ते हुए ज़ेहनों में घुल कर
इस ऐसी सिम्त चली गयी
जिसका हमें पता नहीं

---

६३. अप्रशिक्षण।

रग-ओ-रेशा[६४] में दर्द अभी
बाक़ी है
जिसमें शायद कोई रंग कभी
पैदा हो सके
यादों की तरह
कोई तुम्हारी बातें सुन सके
इस महमिल[६५] गुफ़्तगू में खो कर

कोई मानी का जाल बुन सके
वो लाला ज़ार देख सके
जहाँ
तुम किसी किताब का सानेहा[६६]
सुन सको
और जहाँ निस्फ़-शब[६७] को
इक शोर बपा हो
नोहागरी[६८] का
शिकस्त ख़ुर्दगी का
और उसे सुनते
भीगी बिल्लियों की तरह
दबे पाँव
खोए हुए लफ़्ज़
वापस आ सकें
हर चीज़ को
इक ऐसा मानी देने के लिए
जो सिर्फ़ सियाही का
आकार
ज़ुबानी इज़हार
और
समाअत[६९] की आखिरी मंज़िल

---

६४. जिस्म की धमनियों, ६५. अर्थहीन, ६६. घटना, ६७. आधी रात, ६८. शोकगीत, ६९. सुनने।

न हो
ख़ूनी कारज़ार से
उखड़ा हुआ मेरा दिल न हो
ज़िन्दगी का कोई हासिल न हो
रंग बिरंगे
फूलों में खुल जाए आँख
मंज़िल के बग़ैर

रस्ता पूरा हो जाए
और जीने
की कोई मंज़िल न हो

रौशनी के ख़्वाब

बन्द आँखों में
नज़र के आगे
बादलों या धुन्द की
एक दबीज़[१००] सफ़ेद चादर फैली हुई है
किसी बे दाग़
सफ़हए-अब्यज[१०१] की तरह
क्या ये मेरी बयाज़[१०२] है
जिसकी बुर्राक़[१०३] सफ़ेदी में
मेरी अनकही नज़्में छपी हुई हैं
मेरे पास अब कोई क़लम नहीं है
वो क़लम जो इस पुर सुकून
ख़ाली जगह को भर सके
शायद अब

---

१००. मोटी, १०१. सफ़ेद पेज, १०२. डायरी (जिस पर शायरी लिखी जाती है), १०३. बहुत सफ़ेद।

उँगलियों ही को क़लम बनाना होगा
ताज़ा-ताज़ा लहू की रौशनाई
सफ़ेदी पर सुर्ख़ अल्फ़ाज़
कितने हसीन
कितने ख़ूबसूरत
दमकते हुए
ज़मीन-ओ-आसमान
उनकी रौशनी से मुनव्वर

आसमान में ख़ुदा
और
ज़मीन पर बन्दे
ख़ुशी से पागल
ये यक लम्हाए-निजात
जिसमें ममात[१०४] नहीं
एक मुज़दा जाँफ़िज़ा[१०५] है
जो वजूद को
मुअत्तर कर रहा है
जिससे सब कुछ
ख़ुशगवार हो गया है
मालूम नहीं
ये ज़मीन है या आसमान
मैं हर चीज़ से दूर नहीं हूँ
लेकिन दिल से मजबूर ज़रूर हूँ
गो माज़ी व हाल में मगन हूँ
मुस्तक़बिल अभी पैदा नहीं हुआ है
इस सफ़ेद चादर की तरह
हसीन और नायाब
गहरी नींद के ख़्वाब की तरह

---

१०४. मौत, १०५. दिल को ख़ुश कर देने वाली ख़बर।

हर तरफ़ छाया हुआ है
ये ख़्वाब जागने पर
याद नहीं रहेगा
नींद चाहे उजाले की हो
या अंधेरे की
कितनी हसीन होती है
ज़िन्दगी से ज़्यादा ख़ूबसूरत
मौत से ज़्यादा दिल फ़रोज़

मैंने फ़ैसला किया है
मैं पहले जैसी बातें नहीं करूँगा
लेकिन
जब चुप्पी टूटे तो
बोलता रहूँगा
पलकों के साए तले
रौशन आँख थक गयी है
थकन से चूर आँखें
खोलता हूँ
तो
दूर दूर तक
फैले हुए रात के अंधेरे
आँखों में चले आते हैं
रौशनी के ख़्वाब टूट जाते हैं

ये रास्ता नहीं है

वहशत[१०६] का रास्ता तुम्हारी तरह नहीं होता
जो घर से निकल कर सीधे मंज़िल पर पहुँच जाता है

१०६. जंगलीपन।

इसमें कोई मोड़ भी नहीं
संगे-मील भी नहीं
ये तो बस अपने घर से निकल कर अपने घर ही तक पहुँचता है
हम पत्थर अपने हाथ में लिए खड़े हैं
जो अपने ही सर को ताक रहा है
इसमें कोई मंज़िल ही नहीं
कोई साहिल भी नहीं
इस पर चलना तो

कहीं जंगल में खो जाने के बराबर है
इस रास्ते का मक़सद
खो जाना है
और किसी को या अपने आपको याद नहीं आना है
मुझे इस रास्ते पर अकेला चलने दो
मैं कहीं नहीं जाऊँगा
और न कहीं आऊँगा
और न कहीं रुकूँगा
मुझे किसी मफ़हूम[१०७]
किसी लफ़्ज़
और हर्फ़[१०८] की दुम पकड़ कर
मुहज़्ज़ब नहीं बनना है
न ही मैं अपनी ज़ात का
इज़हार करना चाहता हूँ
मुझे किसी ज़ुबान की ज़रूरत नहीं
जहाँ मैं रहता हूँ
वहाँ अशिया[१०९] और इन्सानों का वजूद नहीं
न ही ख़्यालों और ख़्वाबों का
मैं बरहनगी[११०] के साए में खड़ा हूँ
और

---

१०७. समझ, १०८. अक्षर, १०९. चीज़ों, ११०. नंगेपन।

कभी का
अपने तमाम कपड़े
अपना पूरा जिस्म
और
अपनी बे मानी रूह को उतार चुका हूँ

बहरूपिया

जब दिन अजनबी हो जाए
और रात भी
और जब अपनी ज़ात[१११] भी अजनबी हो जाए
तो उसे तनहाई नहीं कहते
उसके लिए लुग़त[११२] में कोई लफ़्ज़ नहीं
उसका कोई मानी ही नहीं
अक्सर लोग इस तरह से नहीं गुज़रे
अब मैं नए मफ़ाहीम[११३] क्यों ईजाद करूँ
क्यों किसी को बताऊँ
और इसके लिए क्यों नए अल्फ़ाज़ बनाऊँ
इसका फ़ायदा क्या है
मुझे किसी को अपना हमराज़ नहीं बनाना है
किसी को अपना राज़ नहीं बताना है
किसी को अपने लामौजूद साए से भी नहीं डराना है
मुझे तो लोगों के साथ
इस दुनिया के हमराह
ऐसे रहना है जैसे मैं इन्हीं में से हूँ
ये नहीं बताना है कि मैं कहाँ हूँ
क्योंकि

---

१११. स्वयं, ११२. शब्दकोश, ११३. अर्थ।

जो ख़ुदा इन्सान और शैतान के पास
नहीं होता वो कहीं का नहीं होता
और किसी भी मानी में हसीं नहीं होता
भले ही इसकी कोई वाज़ेह[११४] सूरत न हो
और वो चाहे कितना ही बदसूरत क्यों न हो
लोग तो महज़ आकार देखते हैं
देखते हैं उनके सामने क्या है
मैं मिस्टर एक्स

की तरह हमेशा कपड़े पहने रहूँ तो अच्छा है
इन्सान को किसी न किसी बोली में तो बोलना ही
पड़ता है
चिड़ियों की तरह
या फिर चील कव्वों की तरह पर तोलना ही पड़ता है
जब तक यहाँ रहूँ
ये सब काम तो करने ही पड़ेंगे

मैं उनके लिए नया सहीफ़ा[११५] भी नहीं ला सकता
क्योंकि जो कुछ उनके पास है
उसे ही पढ़ लें तो बड़ी बात है
पुराने को नया बनाना मेरा काम नहीं
मेरा काम सिर्फ़ इतना है कि
जब तक यहाँ रहूँ
उनमें घुल मिल कर जीता रहूँ
और कभी उन पर अपना राज़ आश्कार[११६] न करूँ
कभी अपना असली चेहरा नहीं दिखाऊँ
जब मरूँ तो
क़ब्र में दबाने के लिए उन्हें मेरी रूह भी मिले और जिस्म भी
और मैं क़ब्र से दूर खड़ा हुआ
ये तमाशा देखता रहूँ

११४. स्पष्ट, ११५. ईश्वर द्वारा भेजी गयी किताब, ११६. खोलना।

और फिर इमाम बन कर
ख़ुद अपनी फ़ातिहा पढ़ूँ

रास्ता वाज़ेह है

(अहमद ख़िज़रवी के नाम)

कोई चले न चले
कोई आए न आए
कोई जाए न जाए
कोई माने न माने
रास्ता वाज़ेह है और हक़ ज़ाहिर है
खुला हुआ है धूप में
खुला हुआ है अंधेरे में
खुला हुआ है तूफ़ानों में
खुला हुआ है साफ़ मौसमों में
ज़ाहिर है फूलों में
कलियों में
बाग़ों में
सेहराओं में
पहाड़ों में
दरियाओं में हक़
दिलों में आँखों में
नींदों में ख़्वाबों में
साँसों में
अम्न में जंगों में
ज़ाहिर है हक़
तुम मानो न मानो
तुम जानो न जानो
कोई फ़र्क नहीं पड़ता
न तुमको न हक़ को
रास्ता वाज़ेह है हक़ ज़ाहिर है
तुम अपने शहर में रहो
या किसी दूर दराज़ बस्ती के ख़ूबसूरत गाँव में
तुम घर में रहो कि बाज़ार में
तुम आबादी में रहो कि क़ब्रिस्तान में

मकान में कि लामकान में
इस जहान में कि उस जहान में
ख़ला[११७] में कि ज़मीन पर
तुम कहीं भी रहो
रास्ता वाज़ेह है
धूप की तरह
नूर की तरह
धुँध में अटी पगडंडी की तरह
आओ न आओ
जाओ न जाओ
चलो न चलो
रास्ता वाज़ेह है
रास्ता मिट्टी का भी
पत्थर का भी
सीमेंट का भी
कोलतार का भी
बड़ा भी है छोटा भी
वादियों में भी है पहाड़ों में भी

---

११७. शून्य।

दूर से और नज़दीक से
हमेशा चमकता हुआ नज़र आता है
हमेशा बुलाता रहता है
तमाशाइयों को
जो किनारे पर खड़े देखते रहते
हैं रहगीरों को
आते जाते हुए
मरते जीते हुए
हक़ ज़ाहिर है
तुम्हारे चेहरे में

बन्द पड़ी किताबों में
मुर्दा ख़्यालों में
जागते ख़्वाबों में
दर्द में कराहों में
आँसुओं में
मुस्कराहटों में
सच्ची बातों में
झूठी ख़बरों में
हर कहीं
हक़ ज़ाहिर है
कोई चले न चले कोई माने न माने
रास्ता वाज़ेह है हक़ ज़ाहिर है
जंगलों में जाऊँ
कि सेहराओं में
शहरों में रहूँ
कि बयाबानों[११८] में
कुर्सी पर बैठूँ
कि फ़र्श पर

११८. जंगलों।

हर जगह हर मक़ाम पर
रास्ता वाज़ेह है
मिट्टी है आँखों में ऐसी कि
कुछ भी दिखाई नहीं देता
मैल है कानों में ऐसा
कि कुछ भी सुनाई नहीं देता
जिस्म है बोझ इक ऐसा कि
उठाते नहीं उठता
ज़ब्हों के कीकर में
जकड़ा है रूह का परिंदा ऐसा

कि छुड़ाए नहीं छुटता
ज़मीन पर हर जा
ख़ून के छींटे हैं
दिल किसी ज़मींदोज़ खाई में
गिरा पड़ा हो
लेकिन ऐसे में भी
सुलगते मंज़र के रूबरू
आँखों के सामने ख़ूबरू
रास्ता वाज़ेह है
हक़ ज़ाहिर है
कोई तो हिम्मत दे जाने की
कोई तो कुव्वत[११६] दे उठने की
कोइ तो चाहत दे
ख़्वाह मा ख़्वाह
राह में भटकने की
बिल आख़िर मरने की
कुछ न कुछ करने की
बर्बाद हो कि आबाद

११६. शक्ति।

नाशाद रहो कि शाद[१२०]
मुर्दा हो कि ज़िन्दा
माज़ी हो कि आइन्दा
हर लम्हा हर मक़ाम पर
हर रंग में
हर आईना में
रास्ता वाज़ेह है हक़ ज़ाहिर है
कोई चले न चले
कोई आए न आए
कोई जाने न जाने

कोई माने न माने
रास्ता वाज़ेह है हक़ ज़ाहिर है

शैतान के लिए एक नज़्म

तू काला नहीं है
कि मैं तेरी दास्तान सियाह[१२१] क़लम से लिखूँ
रौशनाई तो अक्सर
नीली होती है
या फिर सियाह
और तहरीरें[१२२]
सिर्फ़ सफ़ेद बुर्राक़[१२३] काग़ज़ ही पर
लिखी जाती हैं
नेकी और बदी पर
एक ही क़लम और एक ही रौशनाई से
किसी को नहीं मालूम
कि सवाब के पर्दे में कितने गुनाह होते हैं

१२०. ख़ुश, १२१. काला, १२२. लिखावटें, १२३. चमकदार।

और फिर
तू तो हर रंग में मौजूद है
फ़रिश्तों की तरह सिर्फ़ सफ़ेद नहीं
न उनकी तरह तेरे दिखाई देने वाले
पंख हैं
तेरा सब कुछ तेरे जिस्म के अन्दर है
जो दिखाई नहीं देता
न ही तेरी रूह ज़ाहिर है
शायद तू ख़ुदा का दायाँ हाथ होते होते
ग़ायब है

वरना तेरी हुक्म अदूली[१२४] की बुनियाद पर
वह दुनिया की बुनियाद क्यों रखता
तुझे दुनिया और उसकी मख़लूक़[१२५] में
सरायत[१२६] करने की इजाज़त क्यों देता
तू दुनिया भी है और इसका जवाज़[१२७] भी
तुझे किया गया है हर तरह से सरफ़राज़[१२८] भी
तू हर तरफ़ ख़्वाहिशों अरमानों
और आरज़ूओं की बेशुमार पोटलियाँ
लिए फिरता है
जिसको चाहा उसे वह दे दिया
जिसको न चाहा उसे महरूम[१२९] कर दिया
मैं ख़ाली बैठे बैठे
दुनियावी कामों से दूर
दीनी और समाजी कामों से अलग
तने-तनहा
ज़ेहन में तेरे डाले हुए ख़्यालात ही को
शाइरी के नाम पर क़लम बन्द कर रहा हूँ
और मेरा कमरा नज़्मों के ढेर से भर गया है

---

१२४. हुक्म न मानने, १२५. जीव, १२६. घुलने, १२७. कारण, १२८. सम्मानित, १२९. किसी चीज़ का न होना।

ऐसी नज़्में
जिन्हें लोग हरगिज़ पढ़ना न चाहेंगे
नक़्क़ाद[१३०] उन पर
ग़ैर मुनासिब, ग़ैर मौज़ूँ, ग़ैर अदबी और
ग़ैर असरी की मोहर लगाएँगे
तू किस किस तरह से ज़ेहनों में सरायत करता है
और ज़िन्दगी में
लोगों के शाना-ब-शाना[१३१] चलता है
हर तरफ़ तेरी हुकूमत फैली हुई है

तू हर जगह मौजूद है
कहीं बच्चों और बीवी की सूरत में
कहीं महबूबा के रूप में
कहीं दोस्तों की तरह
कहीं समाज के रूप में
तो कहीं सरकारी कुर्सियों पर बिराजमान है
सियासी पार्टियों की शक्ल में
तो कहीं
माबदों[१३२] में बैठे हुए
पुजारियों और मुल्लाओं की तरह है
ये सब तेरे ही नुमाइन्दे हैं
ख़ुदा का नाम तो ख़्वाह मा ख़्वाह ख़राब हो रहा है
उसने
तुझमें अजीब ख़लीफ़ा ढूँढ़ा है
अगर सब कुछ तेरी कारस्तानी है
तो हमारे लिए
अज़ाब[१३३] और क़यामत क्यों
जन्नत क्यों
दोज़ख़ क्यों

---

१३०. आलोचक, १३१. कंधे से कंधा मिलाकर, १३२. पूजा स्थल, १३३. प्रताड़ना।

तू मुझे अकेले ही रहने देना नहीं चाहता
मेरी सोच भी तेरी ताबे[१३४] है
इस पर ख़्वाह मा ख़्वाह मज़हब का मुलम्मा[१३५] चढ़ा हुआ है
बाज़ारों में न जाया करो
वहाँ शैतान ने अण्डे दे रखे हैं
तूने तो पयम्बर के उस क़ौल को भी
झुठला दिया है
और मक्का मदीना को बाज़ार बना दिया है
वहाँ

लाखों की तादाद में जाने वाले ज़ायरीन[१३६]

पता नहीं

ख़ुदा के घर जाते हैं

या तेरे अण्डे ख़रीदने

तेरी सल्तनत में ख़ुदा को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते

ख़ुद में समाते समाते

मैं तंग आ चुका हूँ

इस तारीक[१३७] कुएँ में

जिसे मैं ज़ात ही कहता हूँ

मुझे तेरी शक्ल नज़र आती है

कभी फ़रिश्तों के रूप में

तो कभी हसीन अप्सराओं की तरह

और कभी

बुज़ुर्गो के रूप में

जो मुझे ज़िन्दगी की इस फ़सील[१३८] की तरफ़

ले जाते हैं

कि जिसके अन्दर

कुलबुलाते हुए इन्सान ही इन्सान हैं

अफ़ज़ाइशे नस्ल[१३९]

---

१३४. अधिकार में, १३५. पर्त, १३६. श्रद्धालु, १३७. अंधेरे, १३८. सीमा, १३९. बच्चे पैदा करना।

ख़ुराक की फ़राहमी

घरों और मुल्कों की तामीर

फिर जंग और

इन्हदाम[१४०] ही उनके मसलक[१४१] हैं

उनका मज़हब है

और कि जिसके जाने के लिए

नज़दीक या दूर कोई समुन्दर भी नहीं

ऐ शैतान

दुनिया को छोड़ न छोड़

दीन को छोड़ न छोड़
ख़ुदा के लिए न सही
मेरे लिए
मुझे अकेला छोड़ दो
अपने लफ़्ज़ अपने हर्फ़[१४२]
अपने ख़्यालात अपनी ज़ुबान
अपनी तहज़ीब
और उसकी नैरंगी[१४३]
मुझसे ले लो
और अपने वजूद को मेरी ज़ात से
मेरी कायनात से
हर बात से
मेरी रात से
अलग कर दो
ये एक न ख़त्म होने वाला सिलसिला है
जिसकी इन्तेहा[१४४] सिर्फ़ तुझे ही मालूम है
किसी और को नहीं
अब देखो
तुझ पर लिखी गयी ये नज़्म भी

---

१४०. बर्बादी, १४१. पंथ, १४२. अक्षर, १४३. विविधता, १४४. अंतिम छोर।

ख़त्म होने का नाम ही नहीं ले रही है
लफ़्ज़ के बाद लफ़्ज़
ख़्याल के बाद ख़्याल
मिसरे[१४५] के बाद मिसरा
ज़ेहन में यूँ आ रहा है
जैसे अज़ल[१४६] से छूटा हुआ
कोई ऐसा अज़ीम रेला है कि जिसका
काम महज़ बहना ही बहना है
एक बे मंज़िल सफ़र

कि जिसे रोकने के लिए
आस पास न कोई पहाड़ियाँ हैं
न चटानें
तेरी बनाई हुई
तारीख़ और जुग़राफ़िया[१४७] के
उस हिस्से से काट कर
मुझे दूर किसी ऐसी वादी में
फेंक दे
जहाँ तेरा गुज़र न हो
कि जहाँ सांसों की आमद-ओ-रफ़्त[१४८]
मुझे किसी मआनी और मफ़हूम[१४९] की तरफ़
न ले जाती हो
न मुझे कोई रौशनी दिखाई दे
न अन्धेरा
जहाँ सिर्फ़ और सिर्फ़ हो
मेरी ज़ात का सवेरा
मैं खो गया हूँ
कहीं से ढूँढ़ के लाओ
मेरा बसेरा

---

१४५. शेर की एक पंक्ति, १४६. उत्पत्ति का दिन, १४७. इतिहास और भूगोल, १४८. आना जाना, १४९. समझ।

कुमार शहानी की कविताएँ

सबा

आती है
सुबह
मेरे गालो को छूने
फिर फेर लेती है आँखें
बिना पूछे उस को
जिसे हम भूल बैठे हैं

मुद्दत

मुद्दत हुई है, यार,
लेकिन घर भी तो न था-
न दहलीज़, न दरवाज़ा
न देश, न विदेश

इक दूजे को कहाँ पायें

नक्शे भी तो बदल गये...

गोमती की महागाथा

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी

पहला अध्याय

मियाँ साहबज़ादे, ऐ मियाँ उमर शेख़ मिर्ज़ा, ये सर झुकाए अपनी जूतियों पर नज़र गड़ाए कहाँ जा रहे हो? क्या मच्छी भवन के हज़ारों कमरों, कोठरियों में कहीं अपनी माशूक़ा-ए-दिल आराम को तो नहीं खो बैठे? मगर मच्छी भवन अब कहाँ, उसकी एक बावली सूखी उजड़ी पुजड़ी ख़ामोश होंटों वाली बच्ची थी अब वह भी नज़र नहीं आती। फिर भी कुछ तो है जिसकी तलाश में हो? क्या शेख़ अब्दुर्रहीम बिजनौरी का मज़ार ढूँढ़ रहे हो? तो क्या तुम्हें ख़बर नहीं कि ये शहरे लखनऊ है, जिसे बसाता है उसे मार रखता है और उसकी क़ब्र के गढ़े का भी निशान नहीं रखता कि आने जाने वाला इनके सरहाने रुक कर पानी की दो बूँदें ही गिरा ले। मियाँ मोहम्मद तक़ी को भूल गये क्या कह गये हैं।

मत तुरबते[1] मीर को मिटाओ
रहने दो ग़रीब का निशाँ तो

मुझे कैसे मालमू कि तुम किसी की तलाश में हो? अजी मियाँ साहब, मुझे तो तुम्हारा नाम, पता सब मालूम है। तुम्हीं तो थे जिसने मेरी और मेरी बड़ी बहन बल्कि बड़ी अम्माँ की कितनी ही औलादों को उन शहरों गलियों में जाकर देखा जहाँ वह रहे थे, जहाँ उन्होंने मुहब्बतें की थीं, जहाँ उन्होंने दिल हारे थे और दिल जीते और फिर जानें निछावर की थीं। आस्मान के नीचे उतर कर बादलों की बूँदें और बाग़ों की कलियाँ बन कर ग़ायब हो जाने वालों ने इन्सानों जैसी और शाइरों जैसी और माशूक़ों जैसी, और दोस्तों, क़ातिलों और पनाह देने वालों जैसी ज़िन्दगियाँ किस तरह जी थीं, यह काग़ज़ पर तो कहीं मिलता नहीं। और ज़ुबानी बताने वाले मिट्टी की परत के नीचे दब गये हैं। लेकिन क्या तुम समझते थे कि अपना अस्ल नाम छुपा कर तुम हम जैसों की तेज़ निगाहों से बच निकलोगे। हम लोग तो अफ़साने सुनने वालों, देखने वालों, सुनाने वालों, फैलाने वालों में सरे-फ़ेहरिस्त हैं। हम ही तो हैं जो दम ब दम गुज़रते रहते हैं और जाते कहीं नहीं हैं। हम ही तो हैं जो अजनबी जगहों में

---

१ क़ब्र

भी अपने ही नाम से जाने जाते हैं। जो हमारा नग़मा सुन ले वह कहानीकार हो जाते हैं। और जो मेरा पानी पी ले वह शाइर हो जाता है या शाइर न सही उसकी तबियत छन्दमय तो हो ही जाती है।

आओ कुछ देर यहाँ नदी के किनारे मेरे साथ बैठो, यहाँ हरियाली है, यहाँ साया है। और इस वक़्त तुम्हारी ख़ुश नसीबी से कुछ तनहाई भी है। पानी ज़रूर पहले से कम है। वह दिन कहाँ से लाऊँ जब मैं

किनारे को छेड़ती हुई गुज़रती थी। लगता था मैं दोनो किनारों पर हर चीज़, हर दृश्य, हर गुज़रने वाले, हर ठहरने वाले को ख़ूब देख कर अपनी गहराइयों में सुरक्षित़ कर लूँगी। अब तो रोज़ ही देखती हूँ कि मेरे पानी को क़दम क़दम पर रोक कर गन्दा किया जा रहा है, मुझे बहने नहीं दिया जा रहा है। नए पानी मुझ तक पहुँचने के पहले ही उतार लिए जाते हैं। कितनी ही बार मैं मछलियों और कछुओं और पानी के साँपों और अनगिनत ख़ुदा के ग़ैर नुक़सानदेह जीवों को अपने पेट में पैदा होते, पलते और फिर अपने पेट ही में मरते देख चुकी हूँ। तुम्हें मालमू है, मेरे किनारों पर नन्हें मुन्ने कछुओं की एक प्रजाति रहती थी? बहुत नाज़ुक सिलेटी-हरा रंग, आवरण पर हल्की-हल्की धारियाँ, जैसे मेरी लहरों को किसी ने उन पर उतार लिया हो। अपनी मुट्ठी में तीन नहीं तो दो ज़रूर ही भर लो। तमाम कछुओं की तरह शरमीले भगोड़े। लेकिन मेरा पानी और किनारा एक ही तो होते थे, उन्हें सर छुपाने के लिए जगह की कमी न थी। मज़े-मज़े से साहिल पर घूमते, चरते, चुगते और जब किसी चील कव्वे या हज़रते इंसान की झलक नज़र आती तो एक ही छलाँग में पानी के अन्दर। अब तुम्हें क्या बताऊँ उनके जाने का मुझे किस क़द्र रंज है। मेरा पानी गंदा, प्रदूषित, सतह इसकी किनारे से बहुत नीची, अब मेरे कछुए जाते तो कहाँ जाते। दो ही चार बरस में विलुप्त हो गए। बुज़ुर्गों का वरदान था कि जो कोई एकादशी को मेरे पानियों में नहा ले, नहाए न सही, सिर्फ़ डुबकी ही मार ले तो उसके सारे पाप धुल जाते हैं। मगर क्या पता अब ऐसा न हो। अब तो मैं सतह से लेकर गहराई तक अस्तबल का फर्श हूँ जहाँ मुद्दतों से घोड़े, गधे, ख़च्चर और सुअर भी बँधे हुए हैं... तुम्हें मालूम है? अस्तबल को साफ़ करना और साफ़ रखना भी एक कला है। पहले ज़माने में लोग नदी का रुख़ मोड़ कर गंदे अस्तबल साफ़ करते थे लेकिन अब तो पानी ही ऐसा है कि उसे छू लो तो खुद नापाक हो जाओ। नहाने वाले बेचारे ढूँढकर साफ़ जगह जाते हैं और एक दो पल की डुबकी मार कर समझते हैं कि मुक्त हो गये।

अब यही देखो कि कुछ दिन हुए अचानक मेरे पानी की मौजें सीतापुर को जाने वाली राह शहर से कुछ आगे जो बस्तियाँ हैं, वहाँ तक घुस आयीं।

तुम कभी नैमिषारण्य गये हो? तुम इस वक्त़ जहाँ हो, शहरे लखनऊ में, वहाँ से कोई पच्चीस कोस उत्तर में छोटी सी बस्ती है। मैं उसके बिलकुल पास से गुज़रती हूँ। बहुत पहले यहाँ नैमिष नाम का घना जंगल था। कहते हैं नारद मुनि को एक बार ऐसी जगह की तलाश हुई जहाँ इंसान और प्रकृति बिलकुल एक सुर में हों, जहाँ पत्ती-पत्ती कण-कण से दिल का सुकून बरसता हो। जहाँ इंसान अपनी पूर्णता के लिए आज़ाद हो। उस पर संस्कृति के बन्धन न हों। तमाम तरफ़ की, यहाँ तक कि कैलाश और काशी की भी ख़ाक छान कर वह नैमिष जंगल पहुँचे तो उन्होंने पहचान लिया कि यही जगह है जिसकी मुझे तलाश थी। यहाँ तो कलयुग कभी आएगा ही नहीं। कुछ तो यह भी कहते हैं कि नारद मुनि सीधे मेरे पानी में आ रहे थे। उन्होंने जंगल का दृश्य ठीक से देखा भी नहीं। वाल्मीकि जी की रामायण पहली बार यहाँ पढ़ कर सुनाई

गयी। गोसाईं तुलसीदास ने अपनी रामायण यहाँ लिखी। शंकराचार्य यहाँ आकर रहे। कहा जाता है सूरदास भी यहाँ रह कर कृष्ण भक्ति के इतने बड़े शाइर बन गये। यह सब मेरा पानी पी पीकर फले-फूले और नैमिषारण की भी इज़्ज़त और गरिमा इसी मेरे पानी की वजह से है। कहते हैं कि गंगा मैय्या के पानी में डुबकी लगायें तो सब गुनाह धुल जाते हैं और नैमिषारण का चमत्कार ये है कि यहाँ आने की कोशिश से क़दम घर से बाहर निकालो तो तुम मुक्त हो गये।

इधर आ जाओ, यहाँ पानी ज़रा गहरा है। यहाँ लहरों की ज़ंजीर का दृश्य देखो, मैं पहले से बहुत कम हो गयी हूँ। कहते हैं पीरी की सफ़ेदी आती है तो इंसान का साया भी छोटा हो जाता है, हाथ पाँव सिकुड़ जाते हैं, वज़न कम हो जाता है। मेरे लिए सुबह की सफ़ेदी अभी फूटी नहीं है लेकिन मेरे बच्चों ने मुझे छोटा कर दिया है। अब मैं पहले जैसी गहरी नहीं और पहले जैसी पुर शोर व पुर ज़ोर भी नहीं।

वह भी क्या दिन थे चीनी और फ़िरंगी सुन्दरियों से भी ख़ूबसूरत और नाज़ुकतर पर्दानशीन मच्छी भवन की पाँचवी मंज़िल में परली तरफ़ के छज्जे पर क़नात और रेवटियाँ खड़ी करतीं और बरसातों में मेरी सरकशी का मंज़र देखतीं। शेख़ अब्दुर्रहीम बिजनौरी, महाबली हज़रत जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर के ख़ासुल-ख़ास बन्दे थे, कितनी ही मुहिमों में महाबली की रकाब थामे पैदल चले जाते। अवध का सूबा क़ायम हुआ तो आला हज़रत ने शेख़ साहब को यहाँ का सूबेदार मुक़र्रर किया। मच्छी भवन और बाद में अकबरी दरवाज़ा उसी ज़माने की यादगारें हैं। मुझे इन आँखों से वह घड़ी भी देखनी थी जब शेख़ साहब और उनकी औलाद के बजाए साहिबाने फ़िरंगी इसी बुलन्दी से वही मंज़र मुलाहिज़ा करते थे। फिर लखनऊ को हिन्दुस्तानियों के हाथ से छीनने का वक़्त आया तो उन्होंने मच्छी भवन को सबसे पहले शहीद किया कि उनको ख़ौफ़ था अगर हिन्दुस्तानी बाग़ियों ने चमचमाती हवेली को अपना रक्षात्मक मोर्चा बनाया तो कोई ताक़त उन्हें वहाँ से हिला न सकेगी।

यही सब बातें थीं जिनसे मैं दुबली पतली और कमज़ोर होती गयी। मगर ऐसी नहीं जैसी अब हूँ। मगर यहाँ देखो, यहाँ मैं गहरी हूँ और ज़रा ज़्यादा सुस्त रफ़्तार भी। जहाँ पानी गहरा होता है और मौज की रफ़्तार सुस्त होती है वहाँ पानी की सतह पर हल्की-हल्की लहरें दिखने लग जाती हैं। इन लहरों को जँज़ीर कहते हैं। लो मुझे मियाँ मोहम्मद तक़ी फिर याद आ गए।

वह ज़ुल्फ़ नहीं मुन'क्किस[२] दीद-ए-तर[३] मीर
इस बहर में तहदारी से ज़ंजीर पड़ी है

तहदारी समझे? समझते ही होंगे, नहीं तो मीर साहब की इतनी बात क्यों करते।

इतना तो समझ ही गये होगे कि मैं गोमती हूँ। लेकिन इससे ज़्यादा तुम क्या जानते होंगे? क्या तुम्हें मालूम है कि मैं वशिष्ट जोगी की बेटी हूँ? और मैं गोमती इसलिए कहलाती हूँ कि जिस जगह पर मैं ज़मीन

से बाहर आयी हूँ वह एक ताल है, उसे गोमत ताल कहते हैं। इसका एक नाम फूल हार झील भी था। नाम ही से तुम जान जाओगे कि मैं हार, फूल, गजरों, कलियों के दरम्यान पैदा हुयी। यह झील शहरे पीलीभीत से कोई एक सवा कोस उत्तर में है। उधर एक ज़माने में ज़मीन कुछ ऊँची थी लेकिन अब लगभग सपाट हो गयी है। मेरी फूल हार झील, या गोमत ताल ज़रा ऊँचाई पर है। तुम्हारे हिसाब से यही कोई सात सौ फीट। यही वजह है कि मैं वहाँ से निकल कर उत्तर दक्षिण की ओर बहती हुयी कोई तीन सौ कोस चल कर बनारस के पास सैय्यद पुर कैथी की जगह पर गंगा माँ से जा मिली। सुनते हो यह नाम भी कितना दिलचस्प है, सैय्यद पुर यानी सैय्यदों का गाँव और फिर कैथी यानी कायथों या कायस्थों का इलाक़ा। और जहाँ से मैं चली हूँ उस जगह का नाम तुम सुन ही चुके हो पीलीभीत है। लेकिन यह पीलीभीत है क्या कभी ग़ौर किया?

और तुमने कभी यह भी ग़ौर किया कि मैं तुम्हें इतना मुँह क्यों लगा रही हूँ? वही मियाँ मोहम्मद तक़ी वाला मामला है। तुम उनके चाहने वाले तो मैं तुम्हारी तारीफ़ करने वाली। मीर तक़ी के यहाँ ढूँढ़ो तो सभी कुछ मिल जाएगा। देखो इस एक शेर में दोनों को निपटा दिया।

शफ़क़[४] से हैं दर ओ दीवार[५] ज़र्द शाम ओ सेहर

हुआ है लखनऊ इस राह गुज़र में पीलीभीत

भीत के मानी हैं दीवार, पुरानी पीलीभीत नाम का एक गाँव अभी भी है। वहाँ के लोग बाहरी

दीवारों को पीली मिट्टी से रंगते थे इसलिए इस गाँव का और फिर शहर का नाम ही पीलीभीत हो गया।

हाफ़िजुल मुल्क हाफ़िज रहमत ख़ान शहीद ने वहाँ जामा मस्जिद बनवायी और शहर का नाम हाफ़िज़ाबाद रखा, लेकिन यह नाम चला नहीं। मस्जिद अब भी बाक़ी है।

नाम मंज़ूर हो तो फ़ैज़[६] के असबाब[७] बना

पुल बना चाह बना मस्जिद ओ तालाब बना

---

२ छाया बनना

३ भीगी आँख

४ लालिमा

५ दरवाज़ा और दीवार

६ सेवा

७ वस्तुएँ

वाह रे मियाँ ज़ौक़, बात-बात में पते की बात कह जाते थे। अफ़सोस वह कभी इधर न आए वरना उनका कलाम और भी शीरीं हो जाता। आने को तो तुम्हारे प्यारे मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ान भी यहाँ आए थे। लेकिन वह किसी मतलब से आए थे। सैर सपाटे का उन्हें शौक़ न था।

लखनऊ आने का बाइस[८] नहीं खुलता यानी
हवस ए सैर ओ तमाशा सो वह कम है हमको
लिए जाती है कहीं एक तवक़्क़ो ग़ालिब
जाद-ए-रह[९] कशिशे काफे-करम है हमको

मीरज़ा साहब अपनी देहली में तो किनारे जमुना की सैर को कभी जाते भी थे। उन्होंने देहली की रौनक़ में जिन पाँच बातों का शुमार किया है उनमें शाम को जमुना के किनारे की सैर भी है। लेकिन यहाँ तो वह इस मतलब से आए थे कि बादशाह की तारीफ़ में जो लिखा है उसके सिले में उन्हें सम्मान और इनाम मिले। वह तो पूरा हुआ नहीं। बात ये है साहबज़ादे कि हम लखनऊ वाले ग़रज़ से आने वालों को कुछ नहीं देते। बेग़रज़ आओ फिर देखो एक क्या लाख पाओ। जौनपुर की बात और है। वहाँ बेमाँगे क्या, बेचाहे भी मिल जाता है।

तुम्हें मालमू है, मैं जौनपुर शहर के बिलकुल बीचो-बीच बहती हूँ, शहर ठीक दो हिस्सों में बँट जाता है। अकबर बादशाह ने मुझ पर जो पुल बनवाया तो क्यों बनवाया, जानते हो? फ़ौजी या मुल्की ज़रूरत से नहीं, एक दुखियारी की ख़ातिर जो पार न उतर सकी थी और अपने दूध पीते बच्चे की ख़ातिर आँसू बहा रही थी जिसे वह उस पार छोड़ आयी थी। अँधेरा तो उधर बहुत जल्द उतर ही आता है, और मल्लाह, केवट सब सरे शाम घर चले जाते थे कि उन्हें मेरे गहरे पानी में घड़ियाल और मगरमच्छ का ख़ौफ़ था। दुख भरी माँ को घास के गट्ठे बेचते देर हो गयी थी और रात सारे शहर पर छाने लगी। मल्लाह, कश्ती बान सब सर छुपा कर बैठ रहे थे। ग़रीब करे तो क्या करे, किसे अपनी व्यथा सुनाए? अज़ानों की सदाएँ हर तरफ़ गूँजने लगीं, दुकानें बन्द होने लगीं। ये कोई दिल्ली शहर तो था नहीं कि बेफ़िकरे, सैलानी जीवड़े, कानों में इत्र की फुरेरी दिये, मुँह में तंबोल की गिलौरी, आँखों में काजल, एक-दूसरे के हाथ में हाथ दिए बाज़ार की सैर करते फिर रहे हैं।

इतने में 'तरकुवा! तरकुवा! हट के चलो साहबो!' की आवाज़ें आने लगीं। चमकीले सवारों की चमक-दमक, घोड़ों की दुलकी चाल के साथ शाही ऊँटों के झाँजन धीमे बजते हुए। राहें जो पहले से सुस्त चाल थीं अब उन पर बन्दिश लग गयी। दो रुखी मकान और दुकाने साँस रोके आने वाले मंज़र की रंगीनियों में खो गयीं। एक रेला आहिस्ता क़दम गुज़रा, मुबारकबाद और खुशआमदीद का झड़ाका बरसा, और उसके बीच आला हज़रत शाह शाहाने महाबली जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर बादशाह ग़ाज़ी की सवारी यूँ नज़र आयी जैसे सुबह की ठण्डी हवा लहराए और पहाड़ की चोटी से धुँध छट

८ कारण

९ सफर का सामान

जाए और आसमान पर रोशनी का झमाका चमक जाए, या बिलकुल सफ़ेद सम्मान की पगड़ी बाँधे हुए, पहाड़ के क़िले के पीछे से चमकीले चाँद के सूरज का गरिमापूर्ण, गर्म और मेहरबान चेहरा सामने आया। महाबली और शाही सितारे का चेहरा क़िले की तरफ़ था। अचानक आप की निगाह, चमकदार तलवार की तरह तेज़ और कोहेतूर पर गिरने वाली बिजली की तरह रौशन, उस दुखियारी पर पड़ी और उसकी क़िस्मत, और साथ ही सारे शहर जौनपुर की तक़दीर का सितारा उस अँधियारी शाम में जगमगा उठा। हुक्म फ़रमाया, इस ग़रीब पर क्या दुख पड़ा है, यह यहाँ तन्हा क्यों आँसू बहा रही है। जब सारा शहर अपने-अपने घरों की तरफ़ जा रहा है। पलक झपकते ही उस ग़म में डूबी औरत का हाल पूँछा, और उसके दुख का हल फ़ौरन हुआ।

परदेसी घसयारन ने जब ख़ुदा के आला बन्दे के मुलाज़िमों का ध्यान अपनी तरफ़ पाया तो घबरा कर उठी। आगे आने की हिम्मत अपने अन्दर उसने न देखी और वहीं से फ़रयाद करने लगी।

''अन्न दाता, मल्लाहों ने दरिया को बन्द कर दिया। मैं पार नहीं जा सकती। मेरा बच्चा भूख से बिलखता होगा।''

भाव जैसे ही कानों में पड़े इन्साफ़ करने वाले बादशाह का फ़रमान जनहित में जारी हुआ कि परदेसी औरत को शाही प्रबन्ध में दरिया पार कराएँ। और मुनइम ख़ाने ख़ानान को हुक्म हुआ कि यहाँ, इसी जगह पुल तामीर किया जाए। और उस पुल पर आने-जाने की किसी को रुकावट न हो, कोई कर न लिया जाए, कोई पाबन्दी वक़्त की या मज़हब, या सम्प्रदाय की न हो। मुनइम ख़ान ने ज्योतिषों को बुलवा कर कहा कि अभी इसी रात यहाँ काम शुरू हो। लेकिन मुख्य ज्योतिष ने कहा, ख़ता माफ़ हो, ख़ाने ख़ाना का फ़रमान अपनी जगह से टल नहीं सकता, लेकिन यहाँ पुल बन नहीं सकता। इस जगह दरिया की गहराई बहुत और पाट ज़्यादा है। जगह-जगह कुण्ड भी हैं जिनमें नाग और कछुए बारह मास मुक़ीम रहते हैं। सैलाब के ज़माने में नदी बहुत बढ़ जाती है, अगर पुल बन भी गया तो उस वक़्त बहुत ख़तरे से भरा हो जाएगा। एक डेढ़ सौ गज़ ऊपर या नीचे, हुक्म हो तो पुल के निर्माण का काम शुरू किया जाए।

ख़ाने - ख़ानाँ सोच की तह और इन्तेहाई मातम और हैरत में ग़ोते लगाने लगे। मुद्दत बाद उन्होंने सर उठाया और कहा, हुज़ूर के ग़ुलामों का फ़रमान है कि पुल यहाँ और इसी जगह बने। महाबली की हुक्म की नाफ़रमानी का मुक़दमा तो अलग रहा, यह बात मेरे लिए बड़ी हेटी की होगी। ये ज़िल्लत मैं क्योंकर बर्दाश्त कर सकूँ हूँ। कुछ भी हो, अब पुल तो यहीं बनेगा। ख़र्चा ज़्यादा हो तो हो, लेकिन काम हुक्म के मुताबिक़ ही होगा। मरता क्या न करता, ज्योतिषी से बहुत सोच विचार कर प्रस्ताव किया कि पुल की बुनियाद यूँ की जाए कि पहले सूखी ज़मीन पर पाँच या सात दरवाज़ों का पुल खड़ा करें, फिर

आहिस्ता-आहिस्ता दरिया को काट कर उस तरफ़ ले जाएँ। जब इतना पानी ठहर जाए तब और दरवाज़ों का निर्माण भी यूँ ही हो। इस तरह इस प्रस्ताव के मुताबिक़ नक्शे बने, दरवाज़े क़ायम किए गए। दरिया को इस सावधानी के साथ काटा गया कि पानी कटकर बाढ़ न बन जाए और शहर को बरबाद न कर दे। सब हुआ, लेकिन मेरे पानियों की धार का उन्हें अन्दाज़ा न था। वह पाँच दरवाज़ों वाला पुल वहाँ चन्द घड़ी भी क़ायम न रह सका।

तुम जानते ही हो, ख़ाने ख़ाना शाइर भी थे, साहिबे दिल भी थे। अल्लाह वालों के क़रीब रहते थे। फिर उन्होंने दो-चार टोपियाँ सिलकर थोड़ी बहुत रक़म ख़ालिस हलाल आय के तौर पर कमाई और उससे शहर के सभी आलिमों, संभ्रांतों और सूफ़ियों की दावत की। खाने के बाद उन सबने दुआ के लिए हाथ ऊपर उठाए।

ख़ुदा के क़रीबी बन्दों, इबादत की बारगाह में ये दुनियादार एक ग़रज़ से हाथ जोड़कर खड़ा है, आप पवित्र हस्तियों को मालूम है कि आला हज़रत ने यहाँ पुल बनने का हुक्म दिया है। इसका फ़ायदा हर ख़ास ओ आम को हासिल होगा। लेकिन यह पुल बज़ाहिर वास्ततिकता से दूर और सिर्फ़ कल्पना में क़ैद है। आप दुआ फ़रमायें कि योजना अच्छे अन्जाम को पहुँचे और जल्द पहुँचे।

शाह शेख़ू मजज़ूब (ख़ुदा में विलीन दीवाना) वहाँ एक अल्लाह वाले थे, रशीदिया सिलसिले की बुनियाद रखने वाले क़ुतुबुल अक़ताब हज़रत शेख़ मोहम्मद रशीद जौनपुरी ताब सराह के दोस्तों में थे। उनके दिन-रात वहीं दरिया के किनारे गुज़रते थे। अवाम में हज़रत मजज़ूब के नाम से मशहूर थे। आपने दुआ के लिए हाथ उठाए तो सबने हाथ उठा दिए। वह कुछ ऐसी क़ुबूलियत की घड़ी थी कि उसके बाद राज मिस्त्रियों ने जो ईंट रखी अपनी जगह से हिल न सकी। सोलह दरवाज़ों का पुल तैयार हुआ। एक दर की मेहराब पर वही अवध की मछलियाँ बनीं जिन्हें बाद में शेख़ अब्दुर्रहीम जौनपुरी ने मच्छी भवन के लिए पसन्द किया। लेकिन यहाँ इस लुत्फ़ के साथ कि एक तरफ़ से देखो तो मछलियाँ एक और तरह की नज़र आती हैं और दूसरी तरफ़ से देखो तो किसी और तरह की।

शाह शेख़ू साहब के लिए एक मस्जिद पुल के ऊपर ठीक बीच ओ बीच में निर्मित हुई और उस पुल का तारीख़ी नाम 'सिरातुल मुस्तक़ीम' क़रार पाया। तुम जानते ही हो ये मुबारक और मुनासिब अल्फ़ाज़ तुम्हारी किताबे-अल्लाह में सूरे फ़ातिहा (क़ुरान की पहली आयत) में हैं। शाह साहब का मज़ार भी इसी मस्जिद में दरवाज़े से बिलकुल मिला हुआ है। लोग कहते हैं जब तक आपकी वह ख़्वाबगाह क़ायम है, पुल भी सलामत रहेगा। क़ुतुबुल अक़ताब हज़रत शेख़ मोहम्मद रशीद जौनपुरी के सिलसिले के मशहूर सूफ़ी और मशहूर शाइर हज़रत आसी सिकन्दरपुरी का शेर तुमने सुना होगा।

पुल भी है फ़ख़्रे जौनपुर आसी
ख़्वाबगाहे जनाबे शेख़ू है

तब से अब तक इस पुल पर चार सौ से ज़्यादा बरसातें और दर्जनों जान लेवा बाढ़ें गुज़र चुकी हैं। न जाने कितनी बार ऐसा हुआ कि मेरे पानियों के रेले पुल पर से दो गज़ ऊँचे बहे और कई-कई दिन तक यूँ गुज़रते रहे गोया पुल न हो मेरी बड़ाई के लिए शाहराहे आम हो और जब मेरे पानियों का ज़ोर घटा तो पुल जहाँ था वहीं था। सन् १७८१ में मेरी लहरों ने बहिया का वह समाँ पैदा किया था कि मेरा धारा पुल के ऊपर बनी हुई कोठरियों की छत पर से बहता था। जब मेरा जोश थमा तो सारी कोठरियाँ वैसी ही थीं।

हज़रते शेखू मजजूब इसी मस्जिद के हुजरे में रहते, कहीं आते न जाते। सख़्त सर्दियों के मौसम में एक फटी हुई दुल्लक़ अपने पुराने महमूदी के कुर्ते पर डाल लेते फिर भी सर्दी से काँपते रहते। जब कोई सलाम को हाज़िर होता तो गुदड़ी उतार कर फ़रमाते, ऐ जाड़े इसी गुदड़ी में चला जा। बस सर्दी उनसे दूर हो जाती और वह फटी दुल्लक़ कँपकपाती रहती। जब वह शख़्स चला जाता तो फिर वही गुदड़ी पहन कर पहले की तरह जिस्म कँपकपाता रहता।

चलो, लखनऊ को वापस चलो। यहाँ के हाकिम का वचन था कि जहाँ बे माँगे मिले वहाँ चोरी क्यों करे। यहाँ के बादशाह देहली के सुल्तानों और मुग़ल शहंशाहों की तरह न सही, लेकिन जब एक छोटे से बादशाह ने सुना कि विलायत में अब लोहे के पुल भी बनने लगे हैं तो बादशाह ने पहले इरादे में ज्योतिषों से मशविरा करके और पूरी नाप जोख के बाद एक लोहे का पुल बहुत बड़ा ख़र्च करके विलायत से मँगवा कर मुझ पर बँधवाया और उसकी जगह वह मुक़र्रर की जहाँ हुसैनाबाद के पास से सीतापुर के लिए राह मुड़ती है, इस ख़्याल से कि वहाँ से आने-जाने वाले मुसाफिर बहुत थे। बात तो ठीक थी, लेकिन अँग्रेज़ का इक़बाल भी बुलन्द था। उसने कई साल बाद लखनऊ के उत्तर में पाँच कोस दूर सीतापुर वाली सड़क पर मड़ियाँव कुरिये में अपनी फ़ौज की छावनी क़ायम की और इसी पुल ने उस छावनी के फ़ौजियों की राह आसान कर दी जब वह यहाँ के आख़िरी ताजदार जाने आलम वाजिद अली शाह पिया को सत्ता से हटाने पर मुस्तैद कम्पनी बहादुर के रेज़िडेन्ट बहादुर आर्ट्रम साहब की ख़िदमत में हाजिर हुए। मियाँ असदुल्लाह ख़ान ग़ालिब, हालाँकि ज़माना परस्त और मौक़े को पहचानने वाले थे, लेकिन अवध के अँग्रेज़ों के हाथ में चले जाने पर उदासी का तुरन्त इज़हार उन्होंने भी किया। उनकी एक चिट्ठी का ये वचन एक वक़्त में लखनऊ शहर में हर आम ओ ख़ास की ज़ुबान पर था। उन्होंने लिखा, ''सल्तनते अवध को हथियाना ऐसा है, हालाँकि मैं उससे बेगाना हूँ, इसने मुझे उदास किया। मैं तो कहता हूँ कि सख़्त ना इन्साफ़ हैं वह अहले हिन्द जो उदास न हुए हों।'' काश कि वह लोहे वाला पुल न होता। फिर जान कम्पनी की फ़ौज इतनी आसानी से शहरे लखनऊ में न घुस आती।

तुमने बाबा निज़ामुद्दीन साहब औलियाओं के सुल्तान की बावली का ज़िक्र सुना है कभी? लोग कहते हैं कि बाबा साहब की उस बावली का पानी सात सोतों का संग्रह है और कई बीमारियों में शिफ़ा बख़्शता है। अब भी इसमें सैकड़ों लड़के और मर्द रोज़ाना कूदते और नहाते हैं और पानी गन्दा नहीं होता। मैं तो

यहाँ हज़ारों बरस से बहती हूँ, मुझे दूर-दूर की ख़बर मिलती रहती है, और ख़्वाजा निज़ामुद्दीन साहब ज़िक्रे अल्लाह बख़ैर के ख़ास चाहने वाले और ख़लीफ़ा मियाँ नसीरुद्दीन फ़ारूक़ी अवधी मेरे ही किनारों से उठकर के हज़रत के क़दम लेने देहली गये थे। तो जिस ज़माने में यह बावली बन रही थी, उसी ज़माने में सुल्तान ग़यासुद्दीन मोहम्मद तुग़लक़ कई कोस दूर अपना क़िला बनवा रहा था। शहर और आस-पास के बेहतरीन कारीगर वहाँ काम पर मुकर्रर थे। बाबा निज़ामुद्दीन साहब को अच्छे कारीगर न मिलते थे, इसलिए उन्होंने तुग़लक़ के कारीगरों को बुलवा कर कहा कि मियाँ, तुम दिन में सुल्तान के यहाँ काम करो, रात को मेरी बावली बनाया करो, काम कुछ दिन बख़ूबी चला। जब सुल्तान को पर्चा लगा कि जनाब, वहाँ तो झकाझक चिराग़ाँ है, रात में दिन का समाँ है, बावली की बुनियादें गहरी होती जा रही हैं, दीवारें उठ रही हैं, पानी फूट चुका है। सुल्तान, कि आप जनाब से पुरानी दुश्मनी रखता था। नाराज़ हुआ कि यह मेरी तौहीन नहीं तो और क्या है? मैं अपना क़िला बनवाऊँ और यह गुदड़ी पहनने वाला मेरे ही कारीगरों से रात को काम ले, गोया मुझसे आँख मिलाएगा? कुछ लोग यह भी कहते हैं, कि एक बार सुल्तान ने कुछ कारीगरों को निर्माण के दौरान देखा कि उन्हें कुछ ऊँघ आ गयी है। शोध के बाद मालूम हुआ कि यह लोग रात के वक़्त सुल्तान जी साहब की बावली पर काम करते हैं। सुल्तान को ख़ौफ़ पैदा हुआ कि रात भर वहाँ जागना, और दिन में यहाँ ऊँघना, इस तरह तो यह कारीगर मेरी ही बुनियाद ख़राब कर देगें। हुक्म हुआ कि कोई भी रौग़न फ़रोश तोला भर भी रौग़न ख़ानक़ाह निज़ामी को न फ़रोख़्त करे। ख़्वाजा नसीरुद्दीन कि ख़्वाजा ज़िक्रुल्लाह बख़ैर की तरफ़ से निगरानी तामीरात पर पदस्थ थे, आपकी ख़िदमत में तशरीफ़ लाए और अपनी मुश्किल बयान की। ख़्वाजा ज़िक्रुल्लाह बख़ैर ने फ़रमाया, कोई बुराई नहीं, अपने चराग़ों में ज़रा सी घास हमारी ख़ानक़ाह के आसपास की लेकर ऊपर से बावली का पानी डालो और बिस्मिल्लाह पढ़ कर फूँक दो। लो साहब, हर तरफ़ चिराग़ ही चिराग़ रौशन हो गये। और तब से नसीरुद्दीन साहब अवधी फ़ारूक़ी को चिराग देहली कहा जाने लगा और अब भी कहा जाता है।

रात और दिन के निमार्ण का एक वाक़्या हम लखनऊ वालों ने भी इतिहास में लिखा है, तुमने सुना होगा? हज़बर जंग मोहम्मद यहिया मीर्ज़ा अमानी ख़ान आसिफ़द्दौला के ज़माने थे। अचानक सन् १७८४ में लखनऊ, हरदोई, सीतापुर, यहाँ तक कि पीलीभीत तक के इलाक़े में बारिशें न होने और ग़ल्ला फ़रोशों की जमाख़ोरी की वजह से सूखा पड़ा और लखनऊ की आबादी, क्या दौलत मन्द और क्या ग़रीब सब भूखों मरने लगी। ग़रीबों को तो देने के हज़ार बहाने थे, मगर सफ़ेद पोशों, पढ़े लिखों और कुलीन वर्ग को? उनमें से अक्सर ने कभी हाथ में तलवार और तीर कमान के सिवा कुछ कुल्हाड़ी, फावड़ा, छेनी, बसुला न उठाया था। और दिन के वक़्त किसी के आगे हाथ फैलाना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते थे, चाहे वह मुल्क के वज़ीर का शीश महल हो या मच्छी भवन के शेख़ज़ादों के सौ दरवाज़ों में से एक दरवाज़ा हो।

लेकिन लोग यूँ ही तो थोड़े ही कहते थे, जिसको न दे मौला उसको दे आसिफ़्दौला। फिर नवाब वज़ीर ने शीश महल के ठीक सामने इमाम बाड़े और मस्जिदे आसिफ़ी की बुनियाद डाली। हुक्म हुआ कि ज़ोर शोर से काम हो, जिसको भी फावड़ा, कुदाली सँभालना आता हो, या न भी आता हो, जो मिट्टी की टोकरी उठा सकता हो, वह आए और काम से लग जाए। ख़बरदार एक घड़ी भी काम न रुकने पाए। दूसरी तरफ़, नवाब वज़ीर के हरकारे ख़ुफ़िया संभ्रांत और सफ़ेद पोशों के दरवाज़ों पर हाज़िर हुए और कहा कि नवाब हज़बर जंग का फ़रमान है कि शाम को अँधेरा ढलने पर शीश महल तशरीफ़ लाएँ। लोग चुपके-चुपके, रुक-रुककर पहुँचे, फ़ाक़ों ने पेट और पीठ को एक कर दिया था। किसी की टूटी जूतियाँ रस्सी से बँधी हुयी थीं कि अच्छी जूतियाँ बेचकर बीवी बच्चों का पेट भरा था। कुछ का हाल दिखने में बेहतर था, लेकिन अन्दर का हाल अल्लाह ही जानता था।

शीश महल के सामने घटा टोप अँधेरा। रोज़ के सामान्य चिराग़ भी न जलते थे। वह फाटक जहाँ रात को वह रोशनी होती थी कि सुई गिरे तो उठा लो, वहाँ अब हाथ को हाथ न सुझाई देता था। चौबदार ने बाहर आकर हुक्म सुनाया।

'वह जो सामने इमारत बन रही है, बन्दगाने आली का हुक्म हुआ है कि ईंट से ईंट उसकी बजा दी जाए। रौशनी हरगिज़ न मिलेगी, टटोल-टटोल कर काम करें या गिर पड़ कर। लेकिन कोई किसी का नाम न पूछे, न पता जानने की कोशिश करे। बस मुँह पर ढाटा हो और आप के हाथ पाँव। मिट्टी ढोने के लिए छोटी-बड़ी डालियाँ, गड्ढे खोदने के लिए फावड़े और कुदालें सब मौजूद हैं। फ़ज्र (सुबह सूरज निकलने से पहले की नमाज़) की अज़ानों के पहले काम बन्द हो जाएगा। बिस्मिल्लाह।'

लेकिन मज़दूरी? और जो हाथ पाँव टूटेंगे उसका मुआवज़ा? हमारी ग़ैर हाज़िरी में हमारे घरों, हमारी ड्योढ़ियों की रखवाली?

'रखवाली बेशक होगी और बराबर हो रही है साहबे मन। मुआवज़ा और मज़दूरी सब आपके दौलतकदे पर रोज़ के रोज़ पहुँच जावेंगी।'

पौ फूटी, दिन निकला, दिहाड़ी के कारीगर काम पर पहुँचे, देखा कल का सारा काम तलपट हुआ है। हुक्म मिला, काम दोबारा शुरू हो और हरगिज़ मुँह से शिकायत के लफ़्ज़ न निकलें। एक रिवायत यह भी है कि ज्योतिष और राजमिस्त्री और मज़दूर तीन दिन काम करते, चौथी रात को कुलीन लोग आकर बना बनाया काम बिगाड़ते, अगली सुबह निर्माण फिर शुरू होता। लेकिन यह बात सही नहीं लगती, कि तीन दिन में तो बहुत सारा मसाला और बहुत सारी जुड़ाई ईंटों की जम के सख़्त हो जाती, फिर उसे उजाड़ना बिचारे ग़ैर प्रशिक्षित और जिसने पहले काम न किया हो ऐसे कुलीन वर्ग के बस में कहाँ था। यही बहुत है कि हर दिन का काम रात को उजाड़ा जाता, अब ज़ाहिर है कि सारा तो बिगड़ न जाता। बस यह दो क़दम आगे और एक क़दम पीछे वाली बात थी।

तुम जानते हो, यह हिन्दुस्तान जन्नत निशान की आख़िरी बड़ी इमारत है जिसमें लोहा बिलकुल नहीं लगा है। इमारतों को लोहे से मज़बूत करने की आधुनिकता अँग्रेज़ बहादुर ने शुरू की थी कि इसे लकड़ी, पत्थर और गच के सहारे इमारत को पाएदार और ख़ूबसूरत बनाने का फ़न मालमू ही न था। और उसके राजमिस्त्री मियाँ किफ़ायतुल्लाह देहली वाले थे। वह ख़ैरुल्लाह ज्योतिष की औलाद थे, वही ख़ैरुल्लाह ज्योतिष जिन्होंने देहली का जंतर मंतर बनाया था और जो ज़ुबान और शेरे फ़ारसी में भी इस क़द्र महारत रखते थे कि शब्दकोश लिखने वाले बेमिसाल हज़रत लाला टेकचन्द बहार उन्हें 'बहारे-अजम' में जगह-जगह 'जनाब ख़ैरुलमुदक़्क़ीन' के उपनाम से उपमा देते हैं। उन निर्माणों के मुकम्मल होते ही मियाँ किफ़ायतुल्लाह की भी ज़िन्दगी की बुनियाद टूट गयी और वह भी इसी इमामबाड़े में दफ़्न हैं।

तो मियाँ, इस तरह ये इमाम बाड़ा बना और यह मस्जिद। मस्जिद जो हिन्दुस्तान में उस्मानी तर्ज़ की बेहतरीन इमारत है, और इमाम बाड़ा, जिसकी छत के नीचे एक खम्भा नहीं, सही मानी में बिना खम्भे की है, कि दुनिया में बे नज़ीर है। यह दुनिया की दूसरी बड़ी छत है जो किसी कड़ी पर क़ायम नहीं, पूरी छत एक अज़ीमुश्शान मेहराब है। आज इसकी बारीकियों को जानने वाले कम हैं, लेकिन इसे देखकर हैरते मज़मूम में ग़र्क होने वाले फिर भी बहुत हैं। और क्यों न हों, इन बनाऊँ को बिगाड़ा और बनाया किन हाथों ने है, कुछ समझे ये हैरते मज़मूम क्या है? मियाँ, ये कोई बुरी चीज़ नहीं, बस ये उस शख़्स की हैरत है जो अल्लाह की क़ुदरत के किसी प्रदर्शन को देखकर हैरत में पड़ जाता है। हालाँकि वह पैदा करना और रचना और इशारों और भेदों को नहीं समझता। अगर इन बातों का समझने वाला किसी चीज़ पर हैरत करते तो उसकी हैरत, हैरते-महमूद होगी। और हम जैसों की हैरत तो बहर हाल मज़मूम ही होगी। लेकिन साहबज़ादे, हैरत का भी दर्जा मामूली दर्जा नहीं। इसे हासिल करने के लिए तेज़ नज़र न सही लेकिन नज़र तो ज़रूर ही दरकार होगी।

अध्याय २

मच्छी भवन को सामने से देखें तो असंख्य झरोखे, खिड़कियाँ, छोटी-छोटी मेहराबों के साए में ताक़ नज़र आते थे। उन ताक़ों और खिड़कियों और झरोखों में शाम ही से शम्मएँ, या चराग़, या मोमबत्तियाँ रौशन कर दी जातीं। आँधी, तूफ़ान, सर्दी, गर्मी, बरसात सब मौसम बराबर थे। रोशनियाँ ज़रूर जलतीं और देर तक इमारत को और इमारत के सामने पूरे इलाक़े को रोशन किए रहतीं। ढूँढ़ने वाले, ताड़ने वाले, बे फ़िकरे किसी न किसी बहाने गुज़रते रहते और उनकी नज़रें जैसे इत्तेफ़ाक से ऊपर उठ जातीं कि शायद उन चिराग़ों से भी ज़्यादा झमाके वाला कोई चेहरा नज़र आ जाए। अब यह महाबली हज़रत जलालुद्दीन अकबर नूर अल्लाह मरक़दा का ज़माना तो था नहीं, कि जब ऊँची नस्ल वालों और सूबेदारों की उन महफ़िलों के दरम्यान सख़्त पर्दा न था। पर्दा था तो सही, लेकिन इस बात से अलग कि कुछ क़रीबी लोगों को ज़नानी हवेली में भी दाख़िला मिल जाता था। बेगमें सौभाग्य से खुलकर शिकार खेलने निकलतीं, सैर

तफ़रीह के लिए मौक़े-मौक़े से बाहर आतीं, नवरोज़, होली, मीना बाज़ार और इस तरह के उत्सवों में बन्दिशें बहुत नर्म हो जातीं और मिलने मिलाने की राहें निकल आतीं।

धीरे-धीरे ज़माना बदला, अगले ज़माने के जन्नत निशान का दौर आते-आते औरतों और मर्दों का भेद ज़्यादा हो गया। लेकिन इज़्ज़तदार और क़रीबी शहज़ादियाँ, ख़ासतौर से पादशाह बेगम बाहरी लोगों से मिलने-जुलने में कोई बुराई नहीं समझती थीं। पादशाह बेगम से यह न समझ लिया जाए कि यह ख़िताब बादशाह की किसी मलका या बीवी को मिलता था। नहीं यह दरअस्ल मुग़लिया सल्तनत की पहली ख़ातून की उपाधि और पदवी थी। मुमताज़ महल के स्वर्गवासी होने के बाद शहज़ादी जहाँ आरा पादशाह बेगम बनीं। अगले ज़माने के बादशाह के क़ैद होने और मोहिउद्दीन आलमगीर के तख़्त नशीन होने के बाद जहाँ आरा की छोटी बहन रौशन आरा बेगम 'पादशाह बेगम' कहलायीं। लेकिन जहाँ आरा की क़द्र दानी और सलाहियत इतनी ज़्यादा थी कि १६६६ में अगले ज़माने के बादशाह के ईश्वर से जा मिलने पर शहज़ादी जहाँ आरा दोबारा पादशाह बेगम की उपाधि और पदवी से सरफ़राज़ हुयीं।

अब तो कम्पनी बहादुर का दौर-ए-दौरा बढ़ चला था। नवाब वज़ीर की वज़ारत और नवाबी बाक़ी थी, लेकिन १७६४ की जंगे बक्सर ने न सिर्फ़ नवाब वज़ीर शुजाउद्दौला बल्कि ख़ुद शाह आलम पनाह शाह आलम बहादुर शाह सानी की ताक़त बहुत घटा दी थी। कम्पनी बहादुर की औरतें पर्दा नहीं करती थीं, लेकिन अल्लाह की जनता से दूर-दूर और अलग-अलग रहती थीं। फ़िरंगिनों का नज़्ज़ारा बहुत मुश्किल हो गया था। तक़रीबन उसी ज़माने में मियाँ मुसहफ़ी ने ख़ुश होकर, और कुछ जले-कटे अन्दाज़ में फ़रमाया।

ऐ मुसहफ़ी लीलाम में कल हम भी गये थे
कर आए हैं इक तरफ़ा फ़िरंगन का नज़्ज़ारा

यही वजह थी आँख मटक्का करने वाले यार और बाँके मच्छी भवन के सामने से गुज़रते तो बेइरादा उनकी नज़र उठ जाती कि शायद ज़माने की हसीना की झलक मिल जाए। लेकिन यह मुश्किल, बहुत मुश्किल था। मच्छी भवन के सामने का मंज़र बस ऊँची दीवारों और खिड़कियों, झरोखों वग़ैरा पर आधारित था। मुख्य दरवाज़ा एक था, बहुत ही ऊँचा और बड़ा, निहायत आलीशान। उसकी मेहराबों पर दोनों तरफ़ मछली की छवियाँ थीं। मछली अवध के इलाक़े में अधिकता, जोश और ज़्यादा औलादों और ख़ुशहाली की प्रतीक थी। नवाब वज़ीर आला हज़रत हज़बर जंग बहादुर ने भी इसी वजह से मछलियों का जोड़ा अपने राज्य का निशान क़रार दिया था।

मच्छी भवन के पीछे भी यही मंज़र था, कि ऊँची-ऊँची दीवारें, सफ़ेद पुती हुयी, चूना और संगमरमर के कण पीसकर मसाला तैयार होता और बाहर की तमाम दीवारें इसी मसाले के ज़रिए ख़ूबसूरत और मज़बूत बनायी जातीं। खिड़की मगर एक न थी, न कोई झरोखा, न दरीचा। हाँ बग़ल का छोटा दरवाज़ा लगभग उसी शान का था जो बाहरी दीवार के फाटक पर था। मच्छी भवन के नीचे पत्थर और गच की

सीढ़ियाँ दूर तक नीचे उतर गयी थीं, कि एक लम्बा और साफ़ सुथरा घाट बन गया था। महल की बेगमें जब नदी के सैर को या पानी के खेलों की तरफ़ दिलचस्पी लेतीं तो सबसे पहले मज़बूत और ऊँची क़नातें लगाकर बग़ल के घाट को दो हिस्सों में विभाजित कर दिया जाता। क़नातों के एक तरफ़ आम जनता और दूसरी तरफ़ बेगमें। लेकिन यहाँ भी कुछ जियाले ताक-झाँक की सूरत कभी-कभी निकाल ही लेते। और उस ज़माने में अपने पानी की तुमसे क्या कहूँ, किस क़द्र रवाँ, पारदर्शी और ज़ोरदार होता था। मियाँ मुसहफ़ी आशिक़ की आँख की बड़ाई में भी मेरी सूरत दिखा गये, अल्लाह बख़्शे वह लोग थे जो मुझसे मुहब्बत करते थे।

पानी से जो लबालब रहती है चश्मे गिरियाँ[१०]
ये नहर मुसहफ़ी क्या मैं गोमती से काटी

बाद के लोगों में मीर मछली घण्टों बल्कि पहरों तैराकी का हुनर यूँ दिखाते कि चुपचाप मँझधार में क़ायम हो जाते। मैं हज़ार ज़ोर मारती लेकिन वह टस से मस न होते। ऐ लो मैं मस के लफ़्ज़ भी क्या लफ़्ज बोल गयी। मेरी लहरें तो उनको हर वक़्त ही मस करती थीं लेकिन वह मीर साहब, आफ़रीं है कि कभी हिल कर न देते। उन्हीं की तरह और भी लोग थे जिस ज़माने की मैं बात कर रही हूँ एक साहबज़ादे मीरज़ा अली मोहलत भी थे, जो मच्छी भवन की एक हसीना के दीदार के लिए कहीं दूर ग़ोता मारते और चुपचाप पानी के नीचे तैरते-तैरते अपने मुक़र्ररा वक़्त पर मच्छी भवन के घाट के सामने आ जाते। ऊपर छज्जे की चिलवन ज़रा सी हटती, लेकिन इस क़द्र ज़रूर कि कोई उनको देख लेता। वह समझ जाते कि दीदार हो चुका, अब वापस चलिए।

---

१० रोती आँखें

समन्दर

अनुवाद - बिन्दु भट्ट

झपकी लग गयी थी। आँख खुली तब टैक्सी पुल पर गुज़र रही थी। पुल के दोनों ओर समन्दर की खाड़ी का पानी था। बीच बीच में ऊपर उठी हुई ज़मीन के टुकड़ों पर अगर (समुद्री नमक) के सफ़ेद दाग़ दिख रहें थे। मैंने टैक्सी के शीशे को उतारा। खारी हवा चेहरे से टकराई। गहरी साँस लेकर हवा छाती में भरी। दादाजी कहते- 'खाड़ी माने समन्दर की उलटी। इसमें क़ागज़ के जहाज़ भी नहीं चल सकते।'

दादाजी। गहरी टीस उठी। गाँव पहुँचूँगा तब उनकी हालत कैसी होगी? बैठे होंगे कि लेटे होंगे? मैं लेटे हुए दादाजी की कल्पना भी नहीं कर सकता। वे हमेशा मुझे खड़े ही दिखे हैं। तस्वीर जैसा दृश्य- तन कर खड़े दादाजी और पीछे समन्दर।

कल देर शाम को मैं अपने नेवल बेस के होम पोर्ट विशाखापट्टनम् में ड्यूटी से लौटा। कमरे का दरवाज़ा खोल ही रहा था कि सेल फ़ोन की घण्टी बजी। पिताजी का फ़ोन था। अचरज हुआ। आम तौर पर माँ-पिताजी के फ़ोन उन लोगों के सोने जाने से पहले आते।

'हाँ, भाभा।' मैं पिताजी को 'भाभा' कहता हूँ।

'हरि...ड्यूटी पर हो?'

'नहीं, बस अभी-अभी कमरे में आया हूँ।'

'सुन....तू जल्द से जल्द कब निकल सकता है?'

उनकी आवाज़ में अजीब-सी हड़बड़ी थी। आवाज़ थोड़ी काँप रही थी। कुछ ठीक नहीं था।

'क्या हुआ है, भाभा? कोई इमरजेंसी है?'

'बाबूजी की तबियत बहुत खराब है। तीन दिन पहले गाँव से वीरजी का फ़ोन था।' वीरजी चाचा पिताजी के चचेरे भाई थे। उनकी हमारे गाँव में पंसारी की छोटी-सी दुकान थी।' उसने कहा कि बाबूजी की तबियत बिगड़ी है। साँस बहुत चढ़ती है, बी.पी ऊपर-नीचे हो रहा है, शुगर भी बढ़ गयी है। डॉक्टर को बुलाया था। उन्होंने तुरन्त अस्पताल में भर्ती करने को कहा है। लेकिन वे मानते नहीं हैं।'

मेरी सारी ताक़त जवाब दे गयी। कुरसी पर बैठ गया। सीने में गट्ठा जैसा फँस गया। पिछले कुछ सालों से दादाजी पर उमर का असर दिख रहा था। दमे की तकलीफ़ पुरानी थी, फिर भी वे इस क़दर बीमार हो सकते हैं, यह माना नहीं जा सकता था। आख़िरी बार मिला था तब उन्होंने कहा था- 'हरि, ज़ल्दी ब्याह कर ले। तेरे बच्चों को समन्दर पर ले जाना है।'

और अब इस तरह एकाएक...

'तुझे छुट्टी मिल सकेगी? कैसे भी कर के ज़ल्दी आ जा। मुझे उनकी हालत ठीक नहीं लग रही है। तुझे बहुत याद कर रहे हैं।' पिताजी ने कहा था।

'आप गाँव पहुँच गये हैं?'

'वीरजी का फ़ोन आया उसी रात ही मैं और तेरी बाई यहाँ आ गये हैं। हमने भी बाबूजी को बहुत समझाया कि अस्पताल में ठीक से इलाज हो सकेगा। साफ़-साफ़ मना कर रहे हैं। तू आ ही जा। शायद तुम्हारी बात मान लें। वैसे भी इस उमर में ...कुछ कह नहीं सकते। तू समझ रहा है न, मैं क्या कह रहा हूँ?'

पिताजी ने समझ बूझकर मुझे आ जाने के लिए कहा होगा। वे जानते हैं नेवी में बिना वजह छुट्टी नहीं मिलती। शायद दादाजी की सेहत सचमुच ज़्यादा खराब थी। चिन्ता के साथ अपराध भाव जागा, मानों हम सबने दादाजी को अकेला छोड़ दिया हो। तबादले के कारण पिताजी बरसों पहले बाहर निकल गये थे। मैं कॉलेज में पढ़ने के लिए दूसरे शहर गया, फिर नेवी में भरती हुआ। दादा-दादी गाँव में ही रहे आये। पिताजी उन्हें अपने साथ रहने का आग्रह करते रहते, पर वे मानते नहीं थे। दो साल पहले दादी की मृत्यु के बाद तो वे एकदम अकेले हो गये थे। फिर भी गाँव छोड़ने को तैयार नहीं थे। वैसे वीरजी चाचा देखभाल करते थे, लेकिन आखिर वे भी कितना कर सकते हैं।

बहुत ज़ोर देकर कहते तो दादाजी एक ही सवाल पूछते- 'वहाँ समन्दर है?' पिताजी हाथ मलते रह जाते।

मैंने लेपटॉप में फ़्लाईट की जानकारी ली। रात को एक बजे विशाखापट्टनम से हैदराबाद होकर जानेवाली फ़्लाईट थी। बड़े तड़के अहमदाबाद पहुँचकर, एयरपोर्ट से टैक्सी ले लूँ तो दोपहर तक गाँव पहुँच जाऊँगा। अपने सीनियर से फ़ोन पर बात की। उन्होंने परिस्थिति भाँप ली। एक हफ़्ते की छुट्टी लेकर मैं निकल पड़ा था।

सुबह हो गयी थी। आकाश में बादल से छाये थे। बादल थे कि धूल छायी हुई थी? जी खराब हो गया। अनिश्चितता ने घेर लिया। मैं पहुँचूँगा तब दादाजी...बड़ी मुश्किल से आँसू रोके। अशुभ विचार करने की ज़रूरत नहीं थी। मैं पहुँचूँगा तब वे ठीक-ठाक ही होंगे। मानेंगे नहीं फिर भी जबरदस्ती अस्पताल में ले जाएँगे। दादाजी को कुछ नहीं होगा, कुछ नहीं हो सकता।

पुल गुज़र गया था। खाड़ी पीछे छूट गयी थी। सड़क के आसपास तितर-बितर बबूल, थूहर, सूखे तने, धूप में जली हुई घास। कुछ दूर पवन-चक्की के लम्बे पंखे धीरे-धीरे घूमते दिखे। काफ़ी लम्बी दूरी तय कर मैं क़रीब आ गया था लेकिन फिर भी दादाजी से बड़ी दूर था।

ड्राईवर ने टैक्सी सड़क के किनारे होटल की ओर मोड़ी। मैं नीचे उतरा। सारी रात जागने के बाद सुस्ती लग रही थी। बाहर की हवा अच्छी लगी। परिचित गन्ध उठी। किसी के क़रीब आ जाने का एहसास

जागा। मैं जब भी गाँव आता हूँ तब हर बार यही महसूस करता हूँ, पर आज अच्छा नहीं लगा। जिस कारण से अचानक मुझे आना पड़ा था, उसका बोझ मन पर था।

मैं भी ड्राईवर के पीछे खुली जगह में गया। चाय मँगवाई। ड्राईवर सिगरेट सुलगा रहा था। वह चार-पाँच बार इस तरफ आ चुका था। हम समय पर घर पहुँच जाएँगे।

समय पर? टीस उठी। पहुँचूँगा तब दादाजी...

चाय पी कर टैक्सी में बैठा। ड्राईवर आया नहीं था।

पिताजी को फ़ोन किया, 'भा जगे?'

'जाग रहे हैं कि सो रहें हैं उसका पता ही नहीं चलता। थोड़ी देर पहले चार-पाँच चम्मच काँजी बड़ी मुश्किल से पिलायी। डॉक्टर देख गये।'

'कुछ बोले?'

'कुछ नहीं। बाबूजी अस्पताल में भर्ती होने को तैयार नहीं हैं। मैंने कहा, शाम तक राह देखते हैं। हरि आकर समझाएगा। डॉक्टर ने कहा कि इसमें बाबूजी की मर्जी का सवाल ही नहीं पैदा होता। जो करना चाहिए वह तो करना ही चाहिए...परन्तु तू आ जा, फिर तय करते हैं।'

मैं समझ नहीं पाया, मेरी राह देखने का क्या मतलब? बहुत देर न हो जाए उसके पहले-

'भाभा, मुझे लगता है कि मेरी राह मत देखिए। उन्हें अस्पताल में एडमिट कर ही दीजिए। इस उम्र में हम रिस्क नहीं ले सकते। डॉक्टर की सलाह को ही मानना चाहिए।'

फ़ोन पर खामोशी रही। पिताजी ने फ़ोन बन्द कर दिया क्या?

'भाभा?'

'हँ...' उनकी आवाज़ गहरे उतर गयी थी। गला खँखारकर स्वस्थ हुए। 'बाबूजी घर में ही रहना चाहते हैं, हरि।'

'हाँ, पर उनकी ऐसी हालत...'

'ऐसी ही हालत है इसीलिए तो कह रहा हूँ... डॉक्टर सुबह-शाम दो बार आता है। घर पर भी अच्छे से इलाज चल रहा है। तू आ जा, फिर...'

'भाभा...'

'हँ...'

'कुछ ठीक नहीं लग रहा है। आप भी हिम्मत हार गये...'

'नहीं...नहीं इसमें हिम्मत हारने जैसा क्या है? बाबूजी की उमर भी ऐसी है न कि सब सोच कर चलना पड़ता है। तू चिन्ता मत कर। सब ठीक-ठाक हो जाएगा।'

'आपने उन्हें बताया कि मैं आ रहा हूँ?'

'हाँ।'

'क्या बोले?'

'क्या पता - वे समझे कि नहीं। बस, मेरी ओर देखते रहें। बहुत कमज़ोरी आ गयी है।'

एक दुबली काया... खाट पर पड़ी हुई... होश और नीम बेहोशी की स्थिति के बीच झूलती। शायद पिताजी उन्हें अस्पताल ले जाना नहीं चाहते थे। लेकिन क्यों? मैंने आँखें मसली। गले में ख़राश आ गयी। किसी समय दादाजी नहीं रहेंगे ऐसी स्थिति का आज के पहले कभी विचार आया ही नहीं। कई बरसों से उनसे दूर रहना पड़ा है, फिर भी वे लगातार मेरे साथ ही रहे हैं। एक पल में मेरा सारा बचपन आँखों के सामने से गुज़र गया। वे समन्दर की लहरों के नीचे ढँक गये हैं। मैं देख रहा हूँ- पानी से बाहर आता उनका सिर और फिर पूरा शरीर...

दादाजी से फ़ोन पर बात करने की इच्छा को बड़ी मुश्किल से रोका, मैं उन्हें कहना चाहता था- 'भा, तैयार रहना, समन्दर पर जाना है न!'

**

दादाजी ने मुझे बताया था- 'तुझे पता है, हरि, अपने दादा-परदादा में कोई मरा नहीं हैं, सब समन्दर में चले गये हैं।'

हम अपने गाँव के समन्दर के कच्चे किनारे पर बैठे थे। यह जगह पुरानी जैटी से दूर थी। इस तरफ सिवा मछुआरों के कोई नहीं आता था। मैं गीली बालू से घर बनाता था। दादाजी मेरे बगल में पैर फैला कर बैठे थे। उनकी चिलम के धुएँ से तम्बाकू की गन्ध उठ रही थी। वे काफ़ी देर से मौन थे। बीच-बीच में मैं उन्हें देख लेता था। चाहता था कि वे बालू का घर बनाने में मेरी मदद करें। उस दिन वे मेरे क़रीब बैठे थे, फिर भी मानों कोसों दूर निकल गये थे। उनकी नज़र समन्दर पर ठहर गयी थी।

हम हर सुबह समन्दर पर आते। टूटे हुए गढ़ के नुक्कड़ से बाहर निकलते ही समन्दर से आती हवा के थपेड़ों से मेरी आँख बन्द हो जाती, बाल बिखर जाते। मैं सिर उठाकर दादाजी को देखता। वे पूछते- 'थक गया? गोदी में उठा लूँ?' मैं ज़ोर-ज़ोर से सिर हिलाता। वे कहते- 'छाभास!' दादाजी की शाबाशी से मैं खुश हो उठता। उनका हाथ छुड़ाकर आगे दौड़ लगाता।

'वे चिल्लाते- 'हरि, रुक...' मैं रुक जाता। 'शर्त लगानी है? समन्दर पर पहले मैं पहुँचता हूँ या तू?'

मैं उनका हाथ फिर से पकड़ लेता। समन्दर को लेकर दादाजी को हराने की मैं सोच ही नहीं सकता था। मेरे लिए तो समन्दर उनके अकेले की ही अमानत थी। हम आगे बढ़ते।

गढ़ के बाहर पक्की सड़क थी। बाहर से आते वाहन इसी सड़क से गाँव में प्रवेश करते। उस तरफ कुछ आगे जाने पर मोड़ आता। वहाँ नदी थी। उस पर पुल बना था। बरसात के दिनों में नदी में पानी आता और उसका बहाव पुल के नीचे होता हुआ समन्दर से जा मिलता। समन्दर भी खुद चल कर नदी से मिलने आता हो वैसे उसके ज्वार का थोड़ा पानी फैल कर आगे बढ़ता। बरसात के मौसम के बाद थोड़े ही समय में नदी सूख जाती। गाँव के लड़के खाली नदी की कछार में पतंग उड़ाते या क्रिकेट खेलते। किसी शाम मैं और दादाजी नदी की बालू में बैठते।

दादाजी कहते- 'ऐसी तो कई नदियाँ जगह-जगह पर समन्दर से मिलती हैं। बेचारी भाग-भाग कर मीठा पानी लाती हैं, लेकिन समन्दर उस सब को खारा कर देता है। इसे मीठा पानी रास नहीं आता, तो क्या किया करे?'

थोड़े दूर जहाज़ बाड़ा था। वहाँ दो-तीन जहाज़ बनाने का काम चलता। हम जहाँ बैठते वहाँ से जहाज़ के ढाँचे अस्थि पंजर जैसे लगते।

'अपने गाँव में कद्दावर जहाज़ बनाये जाते, हरि। वाढा जाति के लोग जहाज़ बनाने में बड़े क़ाबिल। अब पाल वाले जहाज़ का चलन बन्द हो गया है, सो ये धन्धा बिल्कुल चौपट हो गया। पुराने ढंग के जहाज़ का ज़माना गया। मसीन लग गये। एक ज़माने में यहाँ के बने हुए जहाज़ समन्दर के रास्ते कई-कई देशों की यात्रा करते।'

गाँव के कुछ खाते-पीते घर के सुखी लोगों ने पुल के उस तरफ कोठियाँ बनायी थीं। दादाजी को वे लोग फूटी आँख नहीं सुहाते। वे सोचते, गढ़ के बाहर रहने गये लोगों ने समन्दर से द्रोह किया था। दादाजी के लिए गढ़ के बाहर के सारे इलाके का मालिक सिर्फ़ समन्दर था।

हम पक्की सड़क से समन्दर पर नहीं जाते। वहाँ से समन्दर थोड़ा दूर पड़ता। नुक्कड़ से बाहर निकलते ही सामने बनी सँकरी और उबड़-खाबड़ पगडण्डी पकड़ लेते। झाड़-झंखाड और खड्ड-गढ्ढों से होकर चलना पड़ता। दादाजी को पगडण्डी ही पसन्द थी। वे जल्द से जल्द समन्दर पर पहुँचना चाहते। 'इस तरफ जाने से समन्दर का जल्द ही सामना हो सकता हैं।' मुझे भी पगडण्डी अच्छी लगती। उसका सिर्फ़ यही कारण था कि वह दादाजी को अच्छी लगती थी। दूर से समन्दर के दिखायी पड़ते ही दादाजी की रफ़्तार बढ़ जाती। उनकी रफ़्तार से कदम मिलाने में मुझे लगभग दौड़ना पड़ता।

समन्दर की भीगी रेत पर पैर रखते ही वे मेरा हाथ छोड़ देते। फतूही उतार कर रेत पर फेंक देते। लम्बे-लम्बे डग फाँदते हुए पानी में घुस जाते। घुटनों तक पानी में खड़े रहते। इसके बाद ही उन्हें याद आता कि मैं भी उनके साथ आया हूँ।

'खड़ा क्यों है? लगा छलाँग।'

मानों मैं उनके न्योते की राह देख रहा था वैसे दौड़ता उनके पास पहुँच जाता। पानी मेरे सीने तक आता। सरकती रेत से पैरों के तलुओं में गुदगुदी होती। ज्वार के समय लहरों के थपेड़े से मैं गिर जाता। दादाजी खिल-खिलाकर हँस पड़ते। पानी में खड़ा करने के लिए मेरी ओर हाथ नहीं बढ़ाते।

'भेंण के ...मल्लाह का बचवा होकर एक लहर नहीं झेल सकता? उठ खड़ा हो... हो जा खड़ा! समन्दर से टक्कर लेना नहीं सीखेगा तो बड़ा होकर क्या करेगा?' कभी मेरे मुँह में खारा पानी भर जाता। दो-तीन घूँट पेट में उतर जाते। 'कोई बात नहीं, पेट साफ़ हो जायेगा,' दादाजी कहते।

वे आगे बढ़कर काफ़ी गहरे पानी में गुम हो जाते। उन पर लहरें फैल जाती। मेरा कलेजा मुँह को आ जाता। दादाजी बह जाएँगे तो मैं क्या करूँगा? थोड़ी देर बाद कुछ दूर उछलती लहरों के बीच उनका सिर दिखायी पड़ता। शरीर पानी से ऊपर उठता। चेहरे पर से पानी झटक देते। सारी देह पर पानी की धारें बहती।

'तू भी गोता लगा,' वे कहते। शुरू में मैं डरता तो मेरा हाथ खींच कर पानी में मुझे फेंकते। 'हाथ-पैर चला। ऐसे ही सीखते जाते हैं। दो-चार बार डूबाकर समन्दर खुद तैरना सिखाता है।'

मैं थोड़ा-थोड़ा तैरना सीख गया था। लेकिन बहुत आगे नहीं जाता। दादाजी काफ़ी आगे निकल जाते। मैं उन्हें वापिस बुलाता।

'तू आ न।'

मैं खड़ा रहता। दादाजी मेरा मजाक उड़ाते, 'फट्टू ! अपने बाप जैसा डरपोक मत बन। वरना अपनी नहीं जमेगी, बता देता हूँ हरि।'

मैं नाराज़ हो जाता। उन्हें पता चल जाता। लहरों को चीरते मेरे पास आते। गोदी में उठा लेते।

'मेरा हरि तो बहादुर है, थोड़ा बड़ा होने पर मुझसे भी आगे निकल जाएगा।'

मैं दादाजी के कन्धे पर सिर रखता। गहरी साँस लेता। उनमें से समन्दर की गन्ध आती।

'भा, आप समन्दर जैसे बास रहे हैं !'

'अच्छा !'

मैं अपना हाथ उनकी नाक के पास ले जाता।

'सूंघों, आपके जैसी बास आती है?'

दादा हँस पड़ते। गुदगुदी करते। 'तेरे में से भी खारी-खारी बास आती है। तू खारा, मैं खारा - और ये समन्दर भी खारा !'

पानी से बाहर निकलते। शरीर पोंछने की ज़रूरत नहीं पड़ती। धूप और हवा से शरीर सूख जाता। वे बालू में बैठते। फतूही की जेब से चिलम और तम्बाकू की थैली निकालते। मैं गीली बालू खोदता। दादाजी मेरे खेल में शामिल हो जाते। हम लम्बी नाली बनाकर समन्दर का पानी अपने बालू के घर तक लाते। लौटने समय दादाजी बड़े बेमन से खड़े होते। शरीर से चिपकी धूल बिना झटके हम घर की ओर लौटते।

दादाजी टाँगे फैलाये बैठे थे। चिलम बुझ गयी थी। उनकी निगाह दूर समन्दर में दूर तक स्थिर हो गयी थी। अचानक बोले- 'तुझे पता है हरि, हमारे पुरखों में से कोई मरा नहीं है, सब समन्दर में चले गये हैं।'

मैं उनका मतलब नहीं समझा था, परन्तु चाहता था कि उनको पता न चले। हमारे बीच एक गुप्त समझौता था। वे जो कहें उसे मैं समझ लेता और मैं जो कहूँ उसे वे।

'आपको किसने बताया?'

'मेरे दादा ने।'

मैंने सिर हिलाया। इतना समझ में आया कि मेरे दादाजी के दादा ने उन्हें कुछ कहा था और वे वही मुझे बता रहे थे।

'कब?'

'मैं छोटा था तब।'

'आप भी छोटे थे, भा?'

'हाँ, तेरे बराबर।'

'आपके भी दादा थे?'

'थे न।'

कितने बड़े?'

'मेरे बराबर।'

कभी मेरे बराबर रहे होंगे वैसे दादाजी को देखने की मैंने कोशिश की। उन्हें मेरी जगह पर और उनकी जगह पर उनके दादाजी की कल्पना की।

'आपके दादा को किसने बताया?'

'उनके दादा ने।'

समन्दर में चले जाना, मतलब?'

उन्होंने समन्दर की ओर हाथ बढ़ाया, दूर तक अँगुली से दिखाया। हाथ के इशारे से 'चला जाना' समझाया।

'इस समन्दर में?' मैंने उनकी बतायी दिशा में देखा। मानों वे लोग उसमें चले गये हैं तो कहीं तो दिखेंगे।

'समन्दर यह हो या और कोई, फ़रक नहीं पड़ता है। मेरे दादा जहाज़ में अफ्रीका गये थे। नहीं लौटे। समन्दर में बड़ा तूफ़ान उठा। जहाज़ टूट गया। दादा के साथ जहाज़ में जो गये थे वे सारे समन्दर में चले गये।'

अनजान समन्दर में जाता हुआ जहाज़ मेरी आँखों के सामने आया। उसमें बैठे हुए लोग। तूफ़ान के कारण आसमान तक उछलती लहरें। इधर-उधर डोलता जहाज़। घोर गरज के साथ जहाज़ हरहराकर टूटा होगा। वे लोग लुढ़क गये होंगे। बचने के लिए जूझे होंगे... फिर समन्दर में चले गये होंगे।

'अपने गाँव के कई लोग समन्दर में चले गये हैं। जहाज़ी सफ़र के लिए निकलते, परन्तु लौट कर नहीं आते।'

'तो फिर उन्हें नहीं जाना चाहिए न?'

'जाना पड़ता है, हरि। दरियालाल की पुकार होने पर कोई घर में बैठा नहीं रहता। बिस्तर पर मरने के बदले समन्दर में चले जाना बेहतर। मल्लाह के बच्चे का यही धरम है। सब जानते हैं, समन्दर या तो पार लगाता है या डुबाता है, फिर भी कलेजा नहीं काँपता। खतरे की बात सुनते ही बाजुओं में पाल बन्ध जाते हैं। जाना मतलब जाना, फिर भले ही न लौटे।'

मैंने पूरे समन्दर में दूर तक देखा किया। वे सब समन्दर में कहाँ चले जाते होंगे? कहीं तो समन्दर का छोर होगा। वे उसे पार कर लेते होंगे। वहाँ गाँव बसा कर उसमें रहते होंगे। शायद वे लोग वहाँ से हमें देखते भी होंगे।

'आपके भाभा भी जहाज़ में बैठ कर चले गये थे, भा?'

'उन्होंने कराँची तक दो बार जहाज़ी सफ़र किया था। समन्दर के रास्ते व्यापार में मन्दी आयी थी। अपने बन्दरगाह से जहाज़ चलने बन्द हो गये थे। बरसों से पानी के साथ खींची आती बालू के ढेर के ढेर से बन्दरगाह का रास्ता पट गया था। जहाज़ किनारे नहीं आ सकता। काफ़ी दूर खड़ा करना पड़ता था। मेरे भाभा ने सोचा कि गाँव के सेठों की तरह छोटा-मोटा कोई धन्धा कर ले। दूसरी बन्दरगाह पर गये। दिवाला निकाला। किसी को मुँह दिखाने के काबिल न रहें, गले में भारी पत्थर बाँध समन्दर में चले गये।'

दादाजी चुप हो गये थे। बुझी हुए चिलम मुँह में लगाये बैठे रहे थे। जब वे चुप हो जाते, बात को आगे बढ़ाने की ज़िम्मेदारी मेरी रहती।

'भा, आप गये हैं कभी समन्दर में?'

वे हँसे। 'रोज़ डुबकी तो लगाता हूँ।'

'वैसे नहीं, आपके दादा और उनके जैसे लोग जहाज़ में जाते थे वैसे?'

'न, नहीं गया। मौका ही नहीं मिला ...पर बात तो समन्दर में चले जाने की है न? ऐसा नहीं है कि समन्दर में जाने के लिए जहाज़ में जाना ज़रूरी है। समन्दर को अपने में संजोए रहें तो किसी दिन समन्दर खुद चलकर हमें लेने आएगा। तू देखना, किसी को पता भी नहीं चलेगा और एक दिन मैं समन्दर में चला जाऊँगा।'

हम लोग कुछ दिन समन्दर पर आ नहीं सके थे। दादाजी को बुख़ार आया था। रोज़ रात को मेरे सोने से पहले कहते- 'कल तैयार रहना।' मैं सुबह उनके पास जाता तब वे निढाल लेटे रहते। दस-बारह दिन बाद बुख़ार उतरने पर हम समन्दर पर आये थे। कमज़ोरी के कारण वे समन्दर तक आते-आते थक गये थे।

'इसका क्या करेंगे, भा?' मैंने पूछा।

'किसका?'

'समन्दर का।'

'क्या करना है इसका?'

'इसे अपने घर ले चलें?'

'इस समन्दर को?'

मैंने हाँ कहा।

'तेरा कहना है कि इसे अपने घर ले चले?'

'हाँ।'

'क्यों?'

'हम इतने दिन समन्दर पर नहीं आ सके। इसे ही अपने घर ले चलें। घर में ही हो तो कोई समस्या नहीं रहेगी?'

दादाजी की आँखों में चमक आयी।

'ठीक है तू कहता है तो ले चलते हैं। चल उठ।'

उन्हें मेरी बात जँची ये मुझे अच्छा लगा, लेकिन समन्दर को घर ले जाना आसान नहीं था।

'लेकिन भा, इसे ले जाएँगे कैसे?'

'थैली में डाल लें?'

'थैली में तो नहीं समाएगा न।'

'ये भी ठीक। बोरे में भर लें। फिर बोरा पीठ पर लाद लें और चल पड़ें।'

'बोरा भी छोटा पड़ेगा, भा।'

वे जैसे समन्दर को नाप रहे हो वैसे गौर से देखते रहें।

'बैलगाड़ी ले आएँ? गाड़ी में लाद कर ले चलें।'

ये बात मुझे जँची।

'तो... तो बड़ा मजा आएगा....लेकिन इसे घर में रखेंगे कहाँ?'

'आँगन में। अपना आँगन बड़ा है, समा जाएगा।'

मैंने होंठ भींचें। दिखा, पूरा आँगन मानों समन्दर है। लहरें घर की देहरी से टकरा रही हैं।

'ठीक हैं न?' दादाजी ने पूछा। अब समन्दर को घर ले जाने का विचार उनका हो गया था। 'ठीक है कि नहीं- या फिर अभी भी तुझे कोई आपत्ति है?'

मेरे मन में कुछ और चल रहा था। मन हिचक रहा था।

'मुझे तो कोई आपत्ति नहीं है, पर दादी, भाभा, बाई... ये लोग चिल्लाएँगे। बिल्ली भी पालने नहीं देते और फिर यह तो समन्दर।'

'कान बन्द कर लेंगे, और क्या !' वे हँसें। मैं हँस नहीं सका। मेरे मन में भाँति-भाँति के संशय उठ रहे थे।

'भा, समन्दर को आँगन में शायद न रहना हो और अगर वह घर में रहने को कहेगा तो?'

'मना कर देंगे। कहेंगे उसे- तुम घर में नहीं रह सकते।'

'मानेगा?'

'अरे कैसे नहीं मानेगा? तू मेरी बात मानता है न?'

'मेरी बात अलग है, मैं आपका पोता हूँ। आप ही तो कहते हैं कि समन्दर आपका दादा है। वह आपकी बात नहीं मानेगा, आपको उसकी बात माननी चाहिए।'

उन्होंने जवाब नहीं दिया। सोच में पड़ गये। कोई उपाय सूझता नहीं था। एक का हल निकालते तो दूसरा सवाल खड़ा हो रहा था।

वे थोड़ी देर बाद उठे।

'हम उलझन में फँसे इससे बेहतर है कि समन्दर से ही मैं पूछ आता हूँ कि उसे क्या करना है? ज़रा देखे तो सही कि क्या कहता है।'

पानी में पैर डुबोए वे खड़े रहे, मानों समन्दर से बातें कर रहे हो। वापस आये।

'पूछा?'

'हाँ, पूछा तो सही, लेकिन मना कर रहा है। बोला कि घर ले जाने की बात छोड़िये। यहीं ठीक हूँ।'

मैं निराश हो गया।

'कोई बात नहीं। उसे नहीं आना है तो ठीक है यहीं रहे। हम ज़बरदस्ती थोड़ी न कर सकते हैं। तू फ़िकर मत कर। ये यहाँ से कहीं नहीं जाएगा। हम उसके पास आते-जाते रहेंगे। साफ़ मना कर रहा है तो क्या हो सकता है।'

समन्दर अपने में मगन उछल रहा था। देर तक पीठ के बल चित लेटा था। पानी धूप में चमक रहा था। मछुआरों की नावें उस पर तैर रही थी। ऊपर सफ़ेद पंछी उड़ रहे थे। तेज़ हवा चल रही थी। समन्दर की बात सही थी। उसे ऐसा खुलापन चाहिए। आँगन में उसका मन नहीं लगता।

दादाजी ने मेरे बालों पर हाथ फेरा।

'कल से लोटा लेकर आएँगे। लौटते वक़्त एक-एक लोटे जितना समन्दर घर ले जाएँगे। ठीक है न?'

मैंने बेमन से सिर हिलाया। समन्दर एक-एक लोटे जितना हमारे घर आने को मना नहीं करेगा।

समन्दर को घर ले जाने की बात कई दिनों तक मेरे मन से गयी नहीं थी। मैं उसके बारे में सोचता रहता था। समन्दर को आना ही चाहिए। लेकिन ये सम्भव कैसे हो? वह तो आने से ही मना कर रहा है। अगर दादाजी ज़ोर देकर समझाएँ तो हो सकता है। वैसे मैं भी बात कर सकता हूँ। अब तो वह मुझे भी पहचानता है।

दरअसल उस बेचारे ने घर देखा ही नहीं है। घर में क्या-क्या होता है, कौन-कौन होता है, घर में रहने का मज़ा कैसा होता है - उसे कुछ पता नहीं है। खुले में अकेला उछलता रहता है। किनारा छोड़कर बाहर निकला ही नहीं है। ज्वार के समय थोड़ा-सा आगे बढ़ता है, फिर जहाँ से आया था वहीं दुबक जाता है। किनारों से बाहर क्या है, वह देखे तब पता चले न कि दुनिया क्या है। कहूँगा उसे- बा के हाथ का बना मज़ेदार खाना मिलेगा। कुएँ का मीठा पानी पीने को मिलेगा। खारा पानी पी-पी कर ऊब नहीं गया तू? हमारे घर में नरम गद्दे हैं। जी चाहे उतना तू सोये रहना, कोई उठाएगा नहीं। अगर आँगन में नहीं रहना है तो ऊपरी मंज़िल पर तेरा इन्तज़ाम करेंगे। नींद उड़े तो ऊपर के बरामदे का दरवाज़ा खोल कर छत पर चले जाना। मैं तेरे लिए दातून ले आऊँगा। दूध नहीं पीना है तो बाई तेरे लिए कहवा बना देगी, कहेगा तो चाय बना देगी। तेरे साथ-साथ मुझे भी एकाध घूँट पीने को मिलेगी। नहाने को गरम पानी मिलेगा। नहाना हो तो नहाना वरना हाथ मुँह धो लेना। गली में खेलेंगे, पतंग उडाएँगे, कंचे से खेलेंगे। तुझे ही जिताऊँगा, बस? हमारे घर में रात को सब इकट्ठे बैठ कर खाते हैं। दूध में भिगोई बाजरे की रोटी खाना। काम निपटाकर दादी जब खाट पर बैठे तब उनके एक ओर तू और दूसरी ओर मैं। दादी से कहेंगे- 'कहानी सुनाओ न।' मेरी दादी कभी किसी बात की मना नहीं करती।

दादी कहानी कहेगी-

'एक था समन्दर ..'

....

दादाजी ने भी समन्दर की कहानियाँ सुनायी थीं। एक कहानी समुद्र मन्थन की थी। देवों और दानवों ने अमृत पाने के लिए समन्दर को बिलोया था। अमृत निकलने के बाद देवों और दानवों के बीच लड़ाई हुई थी। दानव हार गये थे, देव सारा अमृत ले गये थे।

....

समुद्र मन्थन की कहानी मुझे जँची नहीं थी। किसी ने समन्दर का विचार ही नहीं किया। समूचा बिलो डाला। उसने भीतर जो संजोकर रखा था वह सब हड़प कर गये। मन्थन के समय समन्दर को कितना दुःख हुआ होगा। उस कहानी को सुनने के बाद मैं समन्दर पर गया तो उछलती लहरें और किनारे पर बिखरते झाग देखकर मुझे लगा था, मानों उसका मन्थन अभी भी पूरा नहीं हुआ है। दिन-रात के मन्थन के कारण ही समन्दर में तूफ़ान उठते हैं। ज्वार-भाटे की वजह भी यही है।'

....

समन्दर का दिल बहुत बड़ा होता है, हरि, बहुत व्यापक। वह अपना सब कुछ दूसरों को दे देता है फिर भी चुकता नहीं। भीतर से भरा-भरा ही रहता है। बेफ़िकर होकर जितनी ताकत हो उतना ले जाइए आप।'

....

मुझे देवों से बड़ी कोफ़्त होती थी। दानवों को धोखा दिया, मेहनत करवायी, लेकिन अमृत दिया नहीं। यह ठीक नहीं किया। यह तो सरासर अन्याय है। दानव बेचारे कहाँ जाएँ। दादाजी बताते थे कि दानव हार गये तो समन्दर में छुप गये।

....

'भा, आप कहते थे न कि विष्णु भगवान समन्दर में सोते हैं?'

हाँ, तो?'

....

'दानवों के साथ समन्दर में क्यों रहते हैं?'

....

'समन्दर सबको अपनाता है। किसी को मना नहीं करता। है कितना बड़ा ! जिसको भी रहना हो, रह सकता है।'

'भा, दानव आज भी समन्दर में रहते होंगे?'

'रहते हैं न। कई नाविकों ने समन्दर में उन्हें देखा है। जहाज़ में जा रहे हों उस समय अचानक कोई राक्षस समन्दर से निकलता है। सफ़र से लौटने पर वे लोग ऐसे कई तिलस्माती किस्से बताते हैं। हम जैसे लोगों को तो वे किस्से गप्प ही लगे।'

दिलचस्पी जग रही थी। 'भा, ऐसा कोई किस्सा बताइये न।' दादाजी के पास समन्दर के किस्सों का पिटारा भरा पड़ा था। बस, मेरे पूछने भर की देर होती।

'सुन, यह बात सच्ची है या झूठी मुझे नहीं पता, पर सुनी है। अपने गाँव का जहाज़ माल लाद कर जा रहा था समन्दर के मझधार में। अमावस की रात थी। अँधेरा था। सारे दिन के काम से थकान से चूर सब गहरी नींद में थे। सिर्फ़ एक आदमी समन्दर पर नज़र टिकाए सुक्कान पर बैठा जाग रहा था। अनुकूल हवा के कारण जहाज़ सरपट भाग रहा था। दो एक दिन में किनारे पहुँचने का अनुमान था। समन्दर तालाब-सा शान्त पड़ा था। इतने में नाखुदा ने देखा कि जहाज़ से कुछ ही दूरी पर एक बड़ा सा उबाल उठा। पानी आसमान जितना ऊँचा उड़ा। उसमें से डर लगे ऐसा कुछ दिखा। नाखुदा की चीख निकल गयी। सब जग गये। जहाज़ के ठीक सामने कमर तक पानी में एक बड़ा राक्षस आधा पानी में और आधा बाहर खड़ा था। उसने झपट कर जहाज़ का आगे का हिस्सा पकड़ लिया। धक्का लगने से सब लुढक पड़े। कोई कुछ कर सके उसके पहले तो धमधमाहट करता राक्षस जहाज़ पर आ धमका। उसका सिर बड़े से पतीले सा था। ऊपर से खुला। मुँह फाड़े सबको निगलने उसने धावा बोला। चीख-पुकार मच गयी। अफरा-तफरी में कोई इधर भागता कोई उधर नीचे तहखाने की ओर भागता। बचने वाले तो नहीं थे फिर भी जान बचाने भाग रहे थे। राक्षस एक ही निवाले में सबको गटक जाए उतना बड़ा। ऐसे में हुआ यह कि उसका पैर मोटे रस्से में फँस गया। किसी ने रस्सा खींचा और राक्षस ओंधे मुँह गिरा। गिरते ही पतीले जैसे सिर में से सारा पानी नीचे फैल गया। राक्षस छटपटाकर मर गया।'

मैं भी दीदे फाड़े दादाजी की बातों से खड़ा हुआ दृश्य देख रहा था।

'भा, ऐसा ताकतवर राक्षस अचानक कैसे मर गया?'

'यही तो खूबी है कुदरत की, हरि। उस राक्षस की सारी ताकत उसके सिर में भरे हुए पानी में थी। पानी के फैलते ही राक्षस कमज़ोर पड़ गया और मर गया। समन्दर की बातें सुनते हैं तब जा कर पता चलता है कि समन्दर में क्या-क्या होता है। एक बार नाखुदा और मल्लाहों ने अपने जहाज़ के साथ चलते, यहाँ तक कि टकरा जाए उतना सटकर चल रहे दूसरे जहाज़ को देखा। वे चिल्लाए लेकिन उधर से जवाब नहीं आया। कोई नज़र नहीं आया। सुक्कान पर कोई नहीं था फिर भी जहाज़ ठीक से चला जा रहा था। पूरे जहाज़ में आदमी का बच्चा नहीं था।'

'फिर भी जहाज़ चल रहा था?'

'भूत चला रहा था।'

मेरे रोंएँ खड़े हो गये। दादाजी समन्दर के भूत की एक और बात कहने जा रहे थे, लेकिन उन्हें रोककर मैं उनके बगल में दुबक गया था।

.....

दादाजी ने अगस्त्य ऋषि की भी कहानी सुनायी थी। देव और दानव के बीच लड़ाई चलती ही रहती। एक बार एक लड़ाई में दानव समुद्र में छिप गये थे। अब वे लोग समुद्र से बाहर निकले ही नहीं तो क्या किया जाए। सो सब देवों ने अगस्त्य ऋषि से प्रार्थना की कि दानवों को समुद्र से बाहर निकालें। अगस्त्य ऋषि सातों समुद्र का पानी पी गये। चूँकि समुद्र सूख गया सो सारे दानव दिख गये।

मैं नहीं मान सका। एक आदमी पृथ्वी के सारे समुद्र का पानी कैसे पी सकता है? दादाजी ने समझाया कि पुराने जमाने में कई ऋषि बड़े शक्तिमान थे। उन्होंने कठिन तपस्या कर के भाँति-भाँति की सिद्धियाँ हासिल की थी।

मेरे दिमाग में कुछ ओर चल रहा था। दादाजी समझ गये।

'किस सोच में पड़ गया, हरि?'

'भा, अगर हम अगस्त्य से बात करें तो वे मदद करेंगे?'

'क्यों? तुझे क्या काम है?'

'वे अपने गाँव के समन्दर का सारा पानी पी जाए, फिर कुल्ला कर सारा उगल देंगे तो, एक ओर पानी और दूसरी ओर उसमें रही हुई रेत के ढेर अलग हो जाएँगे। फिर तो अपनी बन्दरगाह से जहाज़ वापस चलने लगेंगे कि नहीं?'

दादाजी ठहाका मार कर हँस पड़े। मुझे लगा, वे मेरा मज़ाक़ उड़ा रहे हैं। ऐसा नहीं था। वे मेरे सुझाव से बड़े खुश हुए थे।

'वाह, हरि। ऐसा तो किसी को सुझा ही नहीं है। लेकिन... मान लो कि ऐसा हो गया फिर भी पहले सा जहाज़ी कारोबार फिर से चालू नहीं हो सकता। वे जहाज़ गये, उन जहाज़ों पर उछाह से चढ़नेवाले नाखुदा गये, वे व्यापारी गये। व्यापार करने की राहो-रस्म बदल गयीं। समन्दर के साथ-साथ इन्सानों के दिलोदिमाग भी रेत से भर गये हैं, हरि।'

मैं दादाजी की हताशा समझ नहीं सका था। आपने समझाने की कोशिश भी नहीं की थी।

हमारा घर पुराना था। कोठी सा। नीचे सहन, एक कमरा, रसोई। घर को घेरे जंगलेवाला गलियारा। पहली मंज़िल पर दो कमरे। उसकी ऊपरी मंज़िल पर एक लम्बा कमरा था। उसके एक दरवाज़े से लगी खुली बड़ी छत थी।

सभी कमरों की छत मज़बूत लकड़ी की थी। दरवाज़े भी वैसे ही मजबूत। ये लकड़ी मलाबार से आयी थीं। घर में लम्बी-चौड़ी खिड़कियाँ थी। उन पर पुराने जमाने के रंग-बिरंगी डिज़ाईनवाले शीशे लगे थे। खिड़की जब बन्द होती, शीशे से निकलती रंग-बिरंगी शहतीरें फर्श पर गिरतीं। कहीं-कहीं रंगीन शीशे टूट जाने पर सादा शीशे लगाये गये थे।

'अब वैसे शीशे नहीं मिल सकते। पहले तो बेल्जियम से और दूसरे देशों से बड़े अच्छे शीशे आते थे। हमारे बन्दरगाह पर जहाज़ चलते थे तब परदेस से कई सारी चीज़ें आती थीं। बहुत बड़े पैमाने पर व्यापार चलता था। अब सब बन्द हो गया...' दादाजी की आवाज़ में हमेशा एक अफ़सोस सुनायी देता रहता।

समन्दर के रास्ते व्यापार करने वाले सेठों की पुरानी हवेलियाँ गाँव में थीं। मैं जब दादाजी के साथ सँकरी गलियों से गुज़रता, शानदार हवेलियों को देखने के लिए सिर उठाकर खड़ा रहता। भाटिया, लोहाणा, बनिए, वोरा कौम के सेठों ने देश-विदेश में व्यापार के केन्द्र खड़े किये थे। उस सम्पत्ति से ये हवेलियों लदी-फदी रहती। दादाजी को हरेक हवेली के मालिक के नाम याद थे। 'ये हंसराज सेठ की हवेली, इसमें लधा सेठ रहते, ये नेणसी सेठ की कोठी, ये अली मामद वोरा की हवेली।' वे नाम बोलते आगे बढ़ते। मैं बन्द ड्योढ़ी, खिड़की, दरवाज़ें, झरोखे देखा करता था। मुझे लगता मानों हरेक हवेली के सेठ सबसे ऊपर के झरोखों में खड़े हैं और समन्दर में गये हुए अपने जहाज़ का रास्ता देख रहे हैं।

'समूचा गाँव भुतहा हो गया है। समन्दर का किनारा रेत से पट गया तो एक जमाने की चमक-दमक चली गयी। हवेली के वारिस मुम्बई, कलकत्ता, मद्रास जैसे शहरों में चले गये। बचे रह गये मल्लाहों के वारिस। अपने पुरखों की हिम्मत और परख से जहाज़ चलाते थे। सबको सेठों के नाम याद है लेकिन जिनके बलबूते पर जहाज़ चलते थे, उन सब लोगों के नाम सारे ही भुला दिये गये है।'

एक दिन हम एक हवेली के पास से गुज़र रहे थे। कई बरसों से बन्द हवेली खुली थी। दादा जाँच करने भीतर गये। साफ़-सफ़ाई के लिए हवेली खोली गयी थी। शायद उसके वारिस में से कोई थोड़े दिनों के लिए आने वाले थे। दादाजी ने कहा- 'बेचने आ रहे होंगे, वरना किसे परवाह है इस गाँव की।'

उस दिन मैंने पहली बार भीतर से हवेली देखी। पक्का बड़ा सा आँगन। ऊँची छत वाले विशाल कमरे। बैठक में झाड़-फानूस, दीवारों में बने बड़े आलों के दरवाज़ों पर लगे आईने। हवेली ख़ाली करते समय जिसे उठाया नहीं जा सकता वैसे भारी फर्नीचर पर कपड़े ढँके थे। दीवारों पर तस्वीरें और चित्र टंगे थे। उसमें रौबीले सेठ और अभिजात सेठानियाँ भुतहा हवेली की खाली जगहों को अपलक ताक रहे थे। हवेली सीलन से भर गयी थी। खिड़की के टूटे शीशों से भीतर आ जाते कबूतरों की बीट बास रही थी।

हवेली से बाहर निकलने के बाद मैंने दादाजी से पूछा- 'भा, हमारे घर को हवेली कहा जा सकता है?'

दादाजी ने गम्भीरता से जवाब दिया- 'ना, हरि, हम लोग जहाज़ी करनेवाले। व्यापार धन्धा हमारे बस का नहीं। सेठ लोग गाव तकिए पर बैठे रहें और जहाज़ी बीच समन्दर में तूफ़ानों से टक्कर लेते रहते। हमारा काम सेठ के माल को देश-विदेश में पहुँचाने का और वहाँ से नया माल लादने का। उसी में गुज़र-बसर हो पाये तो ग़नीमत, हवेली नहीं बन सकती।'

'फिर भी हमारा घर तो काफ़ी बड़ा है।'

'उसके पीछे एक बड़ा लम्बा किस्सा है। यह घर मोतीलाल भाटिया ने मेरे पिता के दादा नारण बाबा को भेंट किया था। मोतीलाल सेठ का अपनी बन्दरगाह पर बहुत बड़ा कारोबार था। उनके अपने चार जहाज़ चलते थे। सेठ को नारण बाबा पर पक्का भरोसा। जब बहुत बड़ा सफ़र होता तो उस समय नारण बाबा को ही जहाज़ सौंपते। नारण बाबा बड़े कड़ियल। सारी तैयारी करके ही सफ़र करते। समन्दर में क्या-क्या आफत आ सकती है उसका उन्हें पूरा अन्दाज़ा रहता। साथी भी वैसे ही चुनते। वे मोतीलाल सेठ का माल लेकर जंजीबार की ओर जा रहे थे। मँझधार में पाँच-छह समन्दरी लुटेरों ने जहाज़ को घेरा। नारण बाबा समय पर चौकन्ने हो गये। जैसे ही लुटेरे जहाज़ में चढ़े कि नारण बाबा और उनके साथियों ने मार कर सबको समन्दर में फेंक दिया। शुक्र भगवान का कि वे लुटेरे नौसिखिए थे। उनका जहाज़ भी छोटा था वरना बीच समन्दर में लुटरों से भीड़ना मतलब मौत का सौदा। नारण बाबा छह सात महिने बाद सकुशल लौटे। लुटेरों से जहाज़ को कैसे बचाया उसकी बात मोतीलाल सेठ को बतायी। सेठ खुश हो गये। लुटेरे अगर जहाज़ लूटते तो सेठ की इज़्ज़त को बट्टा लगता। सेठ रास्ते पर आ जाते, तन पर पहने कपड़ों के सिवा कुछ नहीं बचता। मोतीलाल आदमी बड़ा दिलावर। उसने क़दर की। यह घर नारण बाबा के नाम कर दिया।'

घर में नीचे का कमरा दादा-दादी का था। मँझले तल्ले का एक कमरा मेरे माँ-बाबूजी था। मैं घर के सभी कमरों में मन चाहे ढंग से डोलता रहता। सबसे ऊपर की मंज़िल बन्द रहती। दादाजी माह-दो माह में वहाँ जाते। मुझे कहते- 'चलो, हरि, ऊपरी तल्ले पर।' मैं उनके पीछे-पीछे दो-दो सीढियाँ चढ़ता। ऊपरी मंज़िल बरसों पुराने असबाब से पटी रहती। मोटे-लम्बे रस्से, फटी हुई दरियाँ, बड़े देग, लम्बे चमचे और कई चीज़ें। हमारे ऊपरी मंज़िल पर पहुँचने के बाद दादाजी थोड़ी देर खड़े रहते। मानों वहाँ किस लिए आयें है, यह भूल गये हों। गहरी साँस लेकर आसपास का सब सूँघते। ज़रूरत न हो फिर भी कमरे में धरी चीज़ों को उलटते-पुलटते। दो बड़े बक्से ठूँस-ठूँस कर भरे थे। उन्हें खोलते। सब बाहर निकालते और फिर दुबारा ठूसते। शायद वे तसल्ली करते होंगे कि सब कुछ सुरक्षित है न! इसके अलावा वहाँ कुछ करना नहीं होता था।

मैंने ऊपरी मंज़िल में एक छोटी सी सन्दूक़ची देखी थी। ख़ाली थी। दादाजी से पूछकर उसमें समन्दर किनारे से बीन कर इकट्ठे किये शंख-सीपियाँ भरे। दादाजी ने बड़े बक्से से दो शंख और तीन-चार जापानी खिलौने दिये थे। उन्हें भी मैंने सन्दूक़ची में रखा। मैं अपनी सन्दूक़ची को नीचे ले जाना चाहता था लेकिन दादाजी ने मना कर दिया। 'यहाँ आकर खेलना। नीचे की दुनिया और यहाँ की दुनिया अलग हैं।'

ऊपरी मंज़िल का सामान दादाजी और मेरा गुप्त ख़ज़ाना था। उनमें की कई वस्तुएँ हमारे पुरखों के ज़माने की थी। वे लोग जहाज़ी सफ़र को जाते होंगे तब इनमें की कई वस्तुओं का उपयोग करते होंगे। मैं उन्हें हाथ से सहलाता तब लगता, मानों समन्दर में जा चुके लोगों को छू रहा हूँ।

और भी सामान दादाजी ने जहाज़ों के मलबों में से इकट्ठा किया था। एक टूटा हुआ लंगर था। दादाजी ने कहा था कि जहाज़ों को स्थिर रखने के लिए ऐसे लंगरों को डालना पड़ता। दो-तीन गडारी थी। दादाजी ने छत में बँधी डोर में एक गडारी लटकाई, उस पर रस्सा डाल कर, उसका उपयोग समझाया था। वे ऐसे कई जंग लगे साधनों के नाम बोलते और जहाज़ में उनके उपयोग की जानकारी देते। मैं ग़ौर से सुनता। एक बड़े बक्से में फटे हुए पाल का लम्बा-चौड़ा टुकड़ा तहा कर रखा था। मैंने पूछा तब दादाजी ने कमरे के खम्भे से पाल की तरह बाँध कर बताया था। धीरे-धीरे मुझे समझ में आने लगा था कि दादाजी ऊपरी मंज़िल पर आते ही क्या सूँघते हैं। मुझे भी ऊपरी मंज़िल से समन्दर की गन्ध आने लगी थी।

एक आदम कद आईना कोने में खड़ा था। उसका फ़्रेम नहीं था। शीशे की पीठ पर कई जगहों से मुल्लमा छूट गया था। कमरे में रखी चीज़ों का प्रतिबिम्ब उसमें दिखता। मुझे लगता कि उस शीशे में एक और कमरा है। उसमें रहते लोग किसी को दीखायी नहीं पड़ते। वे लोग चुपचाप सब ताकते रहते हैं। आधी रात को शीशे से बाहर निकल कर कमरे की चीज़ों का इस्तेमाल करते हैं। कमरे में जहाज़ चलाते हैं, रस्सा खींचते हैं, लंगर डालते हैं, देग में खाना पकाते हैं। फिर मानों किसी बन्दरगाह पर उतरे हों वैसे पूरे घर में और गाँव में घूमने निकलते हैं। समन्दर किनारे टूटी जेटी तक हो आते हैं। दरियालाल के मन्दिर में दर्शन करते हैं। बन्द गोदामों और हवेलियों में भी चक्कर लगा आते हैं।

यह बात मैंने किसी को बतायी नहीं थी। दादाजी को भी नहीं। वह मेरे अकेले का रहस्य था। उसमें किसी और को प्रवेश करने की छूट नहीं थी।

हम दोनों के अलावा ऊपरी मंज़िल पर कोई जाता नहीं था। दादी के पैरों में वात की बड़ी तकलीफ़ थी और घुटने काम करते नहीं थे। पिताजी को अपने दफ़्तर से ही फ़ुर्सत मिलती नहीं थी। माँ के वहाँ जाने की कोई वजह नहीं थी। एक दिन दादाजी बाहर गये थे तब दादी, पिताजी और माँ के बीच हो रही बातें मैंने सुनी थी। ऊपरी मंज़िल में बरसों पुराने माल-सामान को लादे रखने की दादाजी की ज़िद से वे लोग नाराज़ थे। मैं उनके साथ सहमत नहीं था। दादाजी को उस मंज़िल में जो दिखायी देता था वह औरों को नहीं दिखायी नहीं दे सकता था।

गर्मियों में मैं और दादाजी ऊपरी मंज़िल की छत पर बाहर सोते। बड़ा मज़ा आता। मोटी दरी पर तकिए डाल लेटे रहते। समन्दर से आती ठण्डी हवा, ऊपर खुला आकाश। ढलती रात में हवा में सीलन बढ़ती। छत पर मुझे सब दिव्य और अगम्य लगता। मैं भूल जाता कि हमारे दो के अलावा और भी लोग हैं घर में।

दादाजी आकाश में दिखायी देते अलग-अलग तारों का परिचय करवाते। वह सात तारों का गुच्छा दिखायी देता है? वह सप्त ऋषि है... उधर देख, मंगल का तारा... और वह हीरे-सा जो चमक रहा है, शुक्र का तारा है। उनकी उँगली आकाश में चारों ओर घूमती रहती। हर तारे से जुड़ी कहानी भी बताते जाते।

'और देख, वह जो दिख रहा है न वह ध्रुव का तारा है। मैंने तुझे ध्रुव की कहानी सुनायी थी न? यही है वह। अपनी जगह से हटता ही नहीं कभी। उत्तर में ही उगता है। पुराने जमाने में जहाज़ी करनेवाले ध्रुव का तारा देख कर जहाज़ की दिशा तय करते थे। समन्दर में जहाज़ कहाँ है और वैसी सब बातें जानने के लिए उन लोगों का अपना हिसाब भी अलग रहता।'

मेरी नज़र दादाजी की अँगुली के साथ आकाश में घूमती रहती। मैं एक अलग प्रकार की गति और तरलता में डूब जाता। आत्म विश्वास जागता कि इतने बड़े आसमान में तारे दिख रहे हैं, और दादाजी मेरे साथ हैं तब तक मैं दिशा नहीं भूलूँगा और मेरा जहाज़ डूबेगा नहीं।

मेरी आँखें उनींदी हो जाती। मैं दादाजी से और चिपकता जाता। एक पैर उनके पैरों पर डाल देता। दादाजी का हाथ एक निश्चित लय में मुझे थपकियाँ देता रहता। मैं सो जाता। सपना देखता। मैं और दादाजी जहाज़ में बैठकर तारों के देश में गये हैं। ध्रुव तारे की बन्दरगाह पर लंगर डालते हैं। सभी तारों के पास जाते हैं। समन्दर किनारे जैसे मैं शंख और सीपियाँ बीनता हूँ वैसे दादाजी एक के बाद एक तारे उठाकर मुझे दे रहे हैं। मैं नींद में भी तारों की जगमगाहट में जागता रहता था।

एक रात नींद ज़ल्दी आयी नहीं। मैं टकटकी लगाये आकाश की ओर घूर रहा था। दादाजी भी जाग रहे थे।

'भा, समन्दर के ऊपर ऐसा ही आकाश होता होगा?'

'ऐसा ही। मल्लाह जहाज़ में लेटे-लेटे आकाश ताकते रहते और आहें भरते रहते'।

'आहें क्यों भरते रहते?'

'वे सब अपने घरवालों को गाँव में ही छोड़कर अकेले जहाज़ी सफ़र पर गये होते थे। लौटने में महीनों लग जाते। घरवालों की याद बड़ी सताती रहती। बहुत दुःख होता है।'

'दुःख क्यों होता होगा?'

'होता ही है। तू अकेला दूसरे गाँव जाए तो हमारी याद तुम्हें दुखी नहीं करेगी? तुझे दुःख होगा और हमें भी होगा। किसी को अच्छा नहीं लगता।'

अपने घर के लोगों के बिना किसी अंजान जगह पर मैं अकेला हो सकता हूँ, यह विचार ही मैं सह नहीं पाया। दादा-दादी, बाई-बाबूजी कोई न हो तो रह कैसे पाऊँ। गला भर आया। स्कूल में जब दाखिला

लिया तब शुरू के दिनों में घर का एक भी व्यक्ति मेरे साथ नहीं है यह बात याद आने पर मैं रोता था। ये लोग तो महीनों परदेश चले जाते। वे लोग वहाँ जहाज़ पर अकेले, परिवार के सब लोग गाँव में अकेले।

बात बदलने के लिए नया सवाल पूछा–

'भा, जंजीबार, मस्कत और वैसे सब गाँवों में ऐसा ही आकाश होता होगा?' दादाजी से सुने हुए कई जगहों के नाम मुझे याद रह गये थे।

'आकाश हर कहीं एक समान ही होता है। कहीं भी जाए हमारे साथ ही वह चलता है।

'लेकिन, भा...' मुझे क्या पूछना है वह याद नहीं आया। आकाश को देखता रहा। यकायक भूला हुआ सवाल याद आया।

'भा, समन्दर बड़ा गहरा होता है?'

'बहुत ही गहरा। कितना गहरा हैं उसका पता आज तक किसी को नहीं चला है।'

'समन्दर के नीचे क्या होता है?'

वे सोच में पड़ गये। मानों समन्दर के तल तक गहरे उतर गये हों। 'समन्दर के नीचे समन्दर ही होता है। ऊपर के समन्दर से भी गहरा। एक थान पर दूसरे थान की तरह एक समन्दर के नीचे दूसरा। उसके नीचे तीसरा।'

मुझे उनका जवाब सुनकर सन्तोष नहीं हुआ, फिर भी मान लिया। फिर नया सवाल खोजा।

'भा, आकाश में इतने सारे तारे, सूरज, चन्दा है तो समन्दर में भी', वे उठ बैठे।

'समन्दर की बात ही रहने दे, हरि। इसकी बात ही निराली है। कई जहाज़ उसके तल में पड़े हैं। समूचे गाँव के गाँव समन्दर में डूब गये हैं। किसन भगवान की द्वारिका की बात तो तूझे पता ही है न? वह पूरी की पूरी आज भी समन्दर में पड़ी है। किसम-किसम की मछलियाँ, मगरमच्छ और कई तरह के जीव-जानवर समन्दर में रहते हैं। पानी के अन्दरूनी पेड़-पौधे अलग। कई जगहों पर समन्दर के तल में ऐसे धमाके होते हैं। मानेगा तू? पानी में आग भी लगती है!'

मैं बीच में बोलने जा रहा था कि उन्होंने मुझे रोका।

'और सुन, किसी-किसी जगह पर पानी के ऐसे भँवर उठते कि उसमें अगर जहाज़ फँस जाए तब तो कई जहाज़ों के जहाज़ चक्कर काटते-काटते जा पहुँचें गहरे तल में।'

मैं नहीं मान सका। दादाजी को ताकता रहा। किसी के भी दादाजी मेरे दादाजी जितना नहीं जानते होंगे। वे कहीं नहीं जाते। फिर भी कई जगहों पर होते हैं।

'भा, आकाश समन्दर जितना ही गहरा?'

'दोनों असीम और अथाह।'

'अथाह?'

'थाह ही नहीं पा सकते।'

'हाँ, लेकिन उसका कहीं तो सिरा हाथ लगता होगा न?'

'पर सिरा हो तब भी हमारे हाथ न लगे, हरि।'

'फिर भी भा, कहीं तो खतम होता होगा न?'

'वे ख़तम नहीं होते फिर से आगे बढ़ते रहते हैं।'

मैं दादाजी का जवाब समझने के लिए थोड़ी देर चुप रहा।

'भा, समन्दर और आकाश कहीं मिलते हैं?'

'कुछ कह नहीं सकते। मैंने सुना है कि एक आदमी का जहाज़ पानी के बहाव में खिंच गया सो समन्दर और आकाश जहाँ मिलते हैं उस जगह पहुँच गया। वहाँ सब सफ़ेद। ज़मीन सफ़ेद। समन्दर सफ़ेद। आकाश सफ़ेद। समन्दर और आकाश एक हो गये थे। चारों ओर बादल और नमक की परतें जम गयी थीं। उसका जहाज़ पल में तैरे, पल में उड़े। अपने गाँव लौटा तब किसी ने उसकी बात मानी नहीं। सबको लगा, ये आदमी पगला गया है।'

मुझे वह आदमी पागल नहीं लगा। उसने ज़रूर वैसी जगह देखी होगी। आकाश नीचे झुक गया होगा। समन्दर ऊपर उठा होगा। बादल समन्दर की लहरें बन गये होंगे। लहरें बादल बन गयी होंगी। मैं भी समन्दर के किनारे खड़ा होकर दूर देखता हूँ तब लगता है कि दोनों एक हो गये हैं। ऐसी ही जगह होगी।

मैं उत्तेजना में डूब गया था। समन्दर में रहने को मिले तो बड़ा मजा आये। ख्यालों में देखा। हमारा गाँव समन्दर के गहरे तल में है। सारे घर और हवेलियाँ नावों की तरह तैर रहे हैं। किसी के घर जाना हो तो गलियों में तैरते-तैरते जाना होता। पानी के बीच खड़ा रहना हो तो लोगों को लंगर डालने पड़ते। घर को भी स्थिर रखना हो तो लंगर डालना पड़ता। अगर कोई चीज़ उठानी हो तो गड़ारी में रस्सा डालकर उठा लेना पड़ता।

समन्दर में जो लोग चले गये हैं वे ऐसे ही किसी गाँव में रहते होंगे।

मैं दरी पर लेट गया। दादाजी के ऊपर पैर रखा। मुझे लगा, मानों मैं विष्णु भगवान की तरह समन्दर पर लेटा हूँ और दादाजी शेषनाग।

मैं उठ बैठा।

'भा, पहले आकाश बना कि समन्दर?'

दादाजी ने उबासी ली।

'उसका जवाब कल दूँगा, इस वक़्त सो जा। देर से जागेगा तो सवेरे समन्दर पर कैसे जा पाएँगे।'

वे मेरे बालों में अँगुलियाँ फेर रहे थे। मैं धीरे-धीरे नींद में डूब रहा था। पल में समन्दर में तैरता, पल में आकाश में उड़ता। दादाजी के भीतर पैठा, मानों उनके शरीर में समूचा समन्दर हो। मैं किनारे पर बने बन्दरगाहों पर घूमता रहा।

दादाजी और समन्दर अलग-अलग नहीं रहे थे, एक हो गये थे।

हमारे घर का आँगन भी बड़ा था। उसके चारों ओर बनी दीवार के ऊपर काँच के नुकीले टुकड़े लगे थे। एक दिन दादाजी बीस-पच्चीस फूट का खम्भा उठवा लाये। आँगन के कोने में मज़दूरों से गहरा गड्ढा खुदवा कर उसमें गड़वाया।

घर में किसी को भी जचा नहीं। पिताजी बड़बड़ाते रहे- 'ऐसा पागलपन? आँगन में इसकी क्या ज़रूरत है? किसी दिन टूटेगा तो बेवजह लेने के देने पड़ जाएँगे।' जब बात निकलती दादी भी तब 'मुआ यह मस्तूल' कहकर कोसती।

ढलती दोपहर में आँगन में छाँह थी। दादाजी खम्भे के पास खटिया डाले लेटे थे। मैं उनके पास लेटे-लेटे खम्भे को ऊपर से नीचे तक देख रहा था।

'भा, ये लम्बा खम्भा है क्या?'

'मस्तूल,' दादाजी ने जवाब दिया।

'हाँ, लेकिन उसका मतलब क्या?'

'मस्तूल मतलब जहाज़ में ऐसे मस्तूल होते हैं।'

दादाजी के पास एक किताब थी। वे उसे ले आये। उसमें अलग-अलग प्रकार के जहाज़ों की तस्वीरें और चित्र थे। उसमें से उन्होंने भाँति-भाँति के जहाज़ के मस्तूल दिखाये। फिर जहाज़ों के चित्रों के अलग-अलग हिस्सों पर अँगुली रखकर बोले- ये 'धमुसो' है, ये 'धामण' है, ये 'टांगरो' और ये...'

अजीब शब्द सुनकर मुझे हँसी आयी।

'हँसने की बात नहीं है। ये सब जहाज़ के हिस्से और साधनों के नाम है। इनमें से एक भी साधन ठीक से काम न करें तो जहाज़ मझधार में ही खतम हो जाए।'

दादाजी बड़ी गम्भीरता से सब दिखा रहे थें। मैं दिलचस्पी से देखने लगा।

'मल्लाहों की बोली भी अलग।' 'मठार हुआ' ऐसा बोले तो समझो कि पवन धीमी हो गयी है। मठार होने पर जहाज़ एकदम धीमा हो जाए, या फिर खड़ा रह जाए।'

दादाजी ने किताब सम्भाल कर अलग की।

'हरि, अपने गाँव के सेठों के व्यापार का सारा दारोमदार जहाज़ पर। वे लोग जहाज़ बनवाने के लिए काफ़ी पूँजी ख़र्च करते। लाखों रुपए ख़र्च करके बना जहाज़ और उसमें लदा माल, नाख़ुदा के भरोसे सौंप

देते। जहाज़ी व्यापार भरोसे के दम पर ही हो सकता है। न कोई सेठ धोखा देता, न कोई मल्लाह दग़ा करता। अगर किसी की नियत में खोट आ जाए तो दरियालाल खुद ही माफ़ न करे, जीते जी ही उसे दिन में तारे दिखा दे।'

बड़े होने पर मैं समझ पाया था कि दादाजी मुझे जानकारी देते थे उससे विशेष वे अपने आप से बातें करते थे। उनकी आवाज़ में सुनायी देती कचोट मुझे उस उम्र में भी विकल कर देती थी।

'अपनी बन्दरगाह पर देश-विदेश के झण्डे लहराते थे। गाँव के महाजन सेठ, दूसरे मुल्क के व्यापारी, बिचौलिए, माल लाने और ले जाने के लिए मज़दूर, मल्लाह, जहाज़ बनानेवाले कारीगर। भाँति-भाँति के लोगों से गाँव का बाज़ार और बन्दरगाह गूँजते रहते थे। समन्दरी सफ़र का मौसम आये उस समय तो किसी को भी साँस लेने की भी फ़ुर्सत होती नहीं थी। सगुन विचार कर सफ़र पर निकलते थे। मल्लाह जहाज़ पर चढ़ गये हों और उनकी औरतें उन्हें जाते हुए देखने के लिए समन्दर पर इकट्ठी हुई होतीं। जहाँ तक दिखायी देता रहें वहाँ तक जहाज़ को ताकती रहती, फिर बच्चों के हाथ पकड़ घर की राह लेती। गाँव में सन्नाटा छा जाता था, हरि। जहाज़ पर गये हैं वे लोग, कब लौटेंगे उसका कोई अन्दाज़ नहीं होता, लौटेंगे भी कि नहीं इस बात का डर बना रहता।'

मैं पास में खड़े मस्तूल को देखता रहा। आसपास का सब भूल गया। मैं और दादाजी मझधार में जहाज़ पर लेटे हैं, चारों ओर पानी है। गाँव को छोड़े महीनों गुज़र गये हैं।

'जहाज़ लौटने लगते तब बन्दरगाह पर भीड़ लगती। जहाज़ से उतरकर सब अपने घरवालों से गले मिलते, सेठों की गद्दी पर हिसाब-किताब होता, सफ़र अच्छे से पूरी होने की खुशी दिखायी देती। जो अभी लौटे नहीं हों उनके घर वालों की जान गले में अटकी रहती। रोज़ नयी मन्नत मानते। समन्दर पर नज़रें बिछाए खड़े रहते। मल्लाह की औरत ओरग (समन्दर की पूजा) करें। बुरी ख़बर आने पर होते विलाप से समन्दर भी विकल हो जाता। लोग उम्मीद छोड़ते नहीं। नहीं ही लौटेंगे ऐसा मान लिया हो फिर भी रात-बेरात किसी का दरवाज़ा पीटा जाए और सामने भूत जैसा आदमी दिखायी पड़े। समन्दर के रहम करने पर ही वह किनारा पा सका होगा। होंठ सिल गये होते और दीदे फटे के फटे। जिनका लौटना बाक़ी होता उनके घरवालों को जवाब देना बहुत भारी पड़ जाता।'

दादा की आवाज़ भीग गयी और मेरी आँखें। 'फिर भी समन्दर से लगाव कम नहीं होता था। खून में ही समन्दर उमड़ रहा हो ऐसे में किनारे कौन बैठा रह सकता है? जैसी दरियालाल की मरज़ी कहकर अपने मन को मजबूत करते। कच्ची उमर के लड़के मौसम शुरू होने की राह देखते रहते। गाँव में जब जन्माष्टमी के दो दिन बाद मल्लाह कृष्णजी की सवारी निकालते हैं तब तू देखता हैं न, कैसे उछल-उछल कर सब नाचते हैं, ढोल बजाते हैं। वे सारी समन्दर की हिलकोरें। समन्दर चाहे जितना हराये, कोई हार माने ही नहीं।'

रवाड़ी निकलती उस दिन मुझमें भी अजब प्रकार का जोश जागता। सिर पर रुमाल बाँध कर दादाजी के साथ पूरा रास्ते नाचता।

ऐसी कोई बात करते तब दादाजी के चेहरे पर विचित्र झुर्रियाँ दिखायी देतीं। मैं उनके हाथों की खुरदुरी नसों पर हाथ फेरता। सोचता- दादाजी से मुझे ये सब बातें नहीं कहनी चाहिए। हर बार दुखी होते हैं। परन्तु मन का बोझ कहें बिना वे रह नहीं सकते थे।

'गाँव के ज़्यादातर घर समन्दर पर निभते थे। जहाज़ चलने बन्द हो गये फिर सब समन्दर से अलग हो गये। पेट भरने के लिए नये धन्धे खोजने पड़ते हैं, यह बात तो समझ में आती है लेकिन समन्दर को बिल्कुल भूल जाए, किनारा कर जाए, ऐसा कोई करता होगा?'

एक नयी आह, शायद नपुंसक जैसा। अर्थहीन विरोध का भाव।

'भा, वैसे तो आप भी उसमें से बाहर निकल गये है न?'

'फिर भी...समन्दर से दूर नहीं रहा। काफ़ी हाथ-पैर मारे। अपने बन्दरगाह पर जहाज़ी व्यापार बिल्कुल नहीं रहा तो दूसरे बन्दरगाह पर गया। काण्डला-नवलखी बन्दरगाह के बीच लोंच चलायी। मुम्बई गया। जहाज़ की बड़ी कम्पनी में नौकरी की। लेकिन उसका कोई मतलब नहीं। पहले के ज़माने में बाजुओं और सीने की ताक़त से जहाज़ चलते थे, अब मशीनें लग गयी। मशीन वाली आग बोट चलाना एक बात है और मल्लाह की तरह जहाज़ चलाना कोई और मज़ा नहीं आया। लौट आया। जहाज़ बाड़े में काम किया, लाईट हाउस में चौकीदार बना, तेरे बाप को पढ़ाया। अब उमर हुई सो कुछ नहीं करता।'

दादाजी से सुनी जहाज़ी व्यापार की कितनी ही बातें मुझे याद आ गयी। दादाजी जहाज़ पर चढ़ सके होते तो अच्छा होता। पाल खींच रहे हैं, मस्तूल पर फर्राटे से चढ़ते हैं, सुक्कान सम्भाल कर 'सलाम, बेली' बोल कर बुला रहे हैं।

'सब बदल गया अब तो... महाजनी बन्द हुई, गोदामों पर ताले पड़ गये। सेठ लोग तो चले गये, लेकिन समन्दर के नशेड़ी आदमी कहाँ जाएँ? समन्दर का खींच ले जाना सहा जा सकता है परन्तु ग़रीबी की मार सहन नहीं होती। मुझमें बहता मल्लाह का खून ठण्डा पड़ता नहीं था। जेटी पर चला जाता। ताकता रहता। एकाध भटका हुआ जहाज़ इस तरफ आ पहुँचे... किसी को पूछने के लिए भी नहीं रुकूँगा, सीधे चढ़ जाऊँगा जहाज़ में।'

मानों सहना मुश्किल हो वैसे वे आँगन में चक्कर काटने लगे। फिर ड्योढ़ी से बाहर चले गये। बहुत व्यथित होते तब मुझे भी अपने से अलग कर देते। मैं भी उनकी तरह आँगन में चक्कर काटने लगा।

पिताजी घर में थे। बोले- 'बापा का पिछलग्गू ये लड़का अपना बचपन भूल गया है।'

माँ ने कहा- 'अकेले-अकेले क्यों चक्कर काट रहा है? दोस्तों के साथ खेलने जा। कब तक दादा की पूँछ बना रहेगा?'

उनको तसल्ली हो इसलिए बाहर गया। गली में खेलते दोस्तों ने बुलाया- 'हरि, आ जा।'

मैंने जवाब नहीं दिया। ओसारे पर बैठ गया। दादी वैसे ही नहीं मुझे घुन्ना नहीं कहती थी।

*****

दादाजी के साथ था तब तक न मेरी उमर बढ़ती थी और न तो घटती थी। दादाजी की बातें सुनते मेरी उमर चारों ओर फैल जाती थी। उसमें समय का भेद नहीं रहता था। एक पल वर्तमान में होता, अगले पल अतीत में-एक ऐसा समय जिसे मैंने देखा नहीं था, परन्तु थोड़ा बहुत महसूस किया था। मेरा हरेक कदम दादाजी के क़दमों में खो जाता था। वे मेरा हाथ थामे समय के नये-नये किनारों पर ले जाते थे। वे उनके किनारे थे और नहीं भी थे। वे मेरे किनारे नहीं थे फिर भी थे। हम एक ऐसे समन्दर के सामने खड़े रहते थे, जो कहीं नहीं था।

सवेरे समन्दर से लौटने के बाद मैं पाठशाला जाने की तैयारी करता। दादा मेरा बस्ता उठाकर मुझे छोड़ने आते थे। मैं भीतर जाऊँ तब तक वे खड़े रहते थे। फिर बाज़ार जाते। इतवार या छुट्टी के दिन समन्दर से घर लौटने की जल्दी नहीं होती थी। समन्दर पर पहुँचकर, लहरों के साथ कुस्ती कर, गीले कपड़ों में हम समन्दर के किनारे-किनारे दूर तक जाते थे। मैं सीपियाँ-शंख बीनता था। दादाजी झोला उठाये रहते। मैं उसमें अपना 'माल' भरता जाता था।

भाटे के बाद किनारे की रेत पर चित्र-विचित्र रेखाएँ अंकित हो जातीं। मैं उन रेखाओं को सुलझाने की कोशिश करता। दादाजी कहते- 'ये सब समन्दर की झुर्रियाँ हैं, साला यह भी बुढ़ढा हो गया है।' मुझे वे रेखाएँ समन्दर के नक़्शे जैसी लगतीं। वह नक़्शा कहीं ले जानेवाला या पहुँचानेवाला नहीं था। ज्वार के समय मिट जानेवाला था।

थोड़ी दूर जाने पर चेरियाँ (समुद्र तट की वनस्पति) आते। समन्दर के उथले पानी में मोटी जड़ें रोपकर उगे चेरियाँ मुझे अच्छे लगते थे। किनारे पर उगे हुए रावळ पत्री (समुद्रतट की वनस्पति) के बैंगनी फूल समन्दर की शोभा बढ़ाते। थकान लगने पर हम बैठ जाते। दूर लाइट-हाउस दिखायी पड़ता। एक ओर समन्दर का असीम जल, दूसरी ओर लाइट-हाउस के पीछे हमारा गाँव। सफ़र पूरा करके लौटते मल्लाहों के रुखे चेहरे दूर से लाइट-हाउस को देखकर पहली बार नरम पड़ते होंगे।

मैंने कहा- 'भा, ये लाइट-हाउस नहीं होता तो अपना गाँव गुम हो जाता।'

वे खुश हुए। 'साब्बास, हरि।' मेरा सीना चौड़ा हो गया, मानों मैं भी अपने ढंग से समन्दर को पहचानने लगा हूँ।

छुट्टी के दिन दादाजी के साथ बाज़ार में जाता। सँकरी गलियों में खाली हवेली की परछाइयाँ पड़तीं। रास्ते में मिलते लोग दादाजी के पास रुकते। मेरे सिर पर हाथ रखकर अपनी गलियों में खो जाते थे। दरियालाल के मन्दिर में दर्शन करके, गाँव के चौक के टावर से होते हुए हम आगे बढ़ते। गढ़ के नुक्कड़ से

लगे भीतर के हिस्से में ख़ाली मैदान था। वहाँ लम्बी क़तारों में बन्द दुकाने थीं। किसी समय इन दुकानों में सेठ लोग बैठते थे। दुकानों के पिछवाड़े बन्द गोदाम थे। थोड़े गोदामों को तोड़ कर उसमें नयी दुकानें बनी थीं। बाकी के गोदाम और दुकानों की चाबियाँ किसके पास होगी, यह भी गाँव के लोग भूल गये होंगे।

हम पहुँचते तब बन्द दुकानों की सीढ़ियों पर थोड़े वृद्ध बैठे होते। कुछ हमारे बाद आते। बैठे हुए आने वाले की हाजरी दर्ज नहीं करते थे। आना अनिवार्य हो अथवा अर्थहीन हो इस तरह सब बैठे रहते। वे लोग अलग-अलग व्यक्ति नहीं लगते थे। वे एक हुजूम थे और उनका कोई चेहरा नहीं था। मैं थोड़े-थोड़े समय पर खड़ा होकर मैदान में रबर का टायर घुमा लेता था। गढ्ढे खोदकर दुबके हुए कुत्ते मुश्किल से आँख खोलकर देख लेते। गायें घूरे में मुँह डाल ऐसा-वैसा खाया करती, फिर रास्ते के बीच बैठकर जुगाली करती रहती। कौओं की काँव-काँव सुनायी देती।

पहिया घुमाते-घुमाते ऊब जाता तब दादाजी के पास बैठ जाता।

उन्हीं बातों के पुर्ज़े सुनायी पड़ते। हर एक के पूर्वजों ने समन्दर में जहाज़ी काम किया था। कुछ वापस आये थे, कुछ समन्दर में रुक गये थे। हर एक जन के पास कहने को ढेरों बातें थीं। चेहरे की उभरी हुई हड्डियों में दबी हुई आँखों से वे लोग सब दुबारा देखने की कोशिश करते थे। उनके चेहरों पर एक समान अफ़सोस छाया रहता - पीछे छूट जाने का भाव, अब लौटनेवाली नहीं है उस ज़िन्दगी का अफ़सोस।

कोई वृद्ध पुरानी बातों से बचने के लिए वर्तमान में कूदने की कोशिश करता। गाँव से कौन दुबई-मस्कत-अबुधाबी गया, किसकी सगाई हुई, कौन-सा नेता चुनाव में खड़ा रहनेवाला है। सब नज़र बचाते इधर-उधर देखने लगते और कुछ भी नहीं सुनने को छटपटाते। थोड़ी खामोशी के बाद फिर से 'सागर तरंग', 'हिरावन्ती', 'सुगारपासा' जैसे जहाज़ों के नाम सुनायी देने लगते। टुकड़ों-टुकड़ों में चलती बातों में मोड़ आ जाते। एक की बात पूरी हुई हो उसके पहले दूसरा अपना जहाज़ लेकर आ जाता। नये मल्लाह, नये नाखुदा, नये सेठ, नया जहाज़ और नये तूफ़ान... सारा अतीत वर्तमान बन जाता। वह बात भी अधूरी रह जाती। कोई क्रम रहता नहीं, न कोई आरम्भ, न कोई अन्त। बातों के बीच आ जाती खाली जगहों में थकान, हताशा, ठण्डी आहें और खाँसी-बल्ग़म के रेशे उड़ते रहते।

बड़े होने पर याद करता हूँ तब वे लोग निर्जन द्वीप पर बैठे दीखते हैं। उन्हें किसी मस्तूल पर झण्डा बाँधना नहीं था, धूप-दीप-अगरबत्ती लोबान से समन्दर और जहाज़ की पूजा नहीं करनी होती थी। कोई माल मझधार में फेंकना बाक़ी नहीं था। लंगर डाले जा सके ऐसा कोई बन्दरगाह उनके लिए नहीं रहा था। सफ़र में जाने के सारे-सारे मौसम पूरे हो गये थे। हवा मन्द ही रहती है। पाल तार-तार हो गया था। समय के समुद्री लुटेरों ने उन्हें लूट लिया था।

मैं दादाजी को देखता। वे अध-खुली आँखों से सबको देखा करते। सबके बीच होने के बावजूद वे उनके साथ नहीं होते थे। मुँह खाली-खाली कुछ चुभलाता रहता था। मैं उनका ध्यान अपनी ओर खींचना चाहता, परन्तु हिचकिचाता, मानों उस स्थिति से उन्हें बाहर खींचना कोई बड़ा पाप हो। सहसा सचेत हो

जाता कि मैं उन लोगों में से नहीं हूँ। अपना समय खोजने मैं पहिया उठाकर मैदान में गोल-गोल चक्कर लगा आता। मैं भी कहीं पहुँच नहीं पाता था और फिर से दादाजी के बग़ल में बैठ जाता था।

बन्द दुकानों के तख़्तों पर बैठे लोगों में कोई फ़र्क़ नहीं हुआ होता। जागते बैठे होते, फिर भी सोये रहते। नींद में भी भीतर से जागते लगते। पर यह जागना अलग था। आँखें खुलने के बाद वे जो दुनिया देखना चाहते होंगे वह दुनिया तो समन्दर की रेत में दफ़न हो गयी थी।

एकाध आदमी औचक जगा हो वैसे अचानक खड़ा हो जाता। घटना जैसा कुछ होता। सब उसकी ओर सिर घुमाते। वह चलने लगता। न विदा, न फिर मिलने की बात। वह कहीं जा रहा है ऐसा महसूस भी नहीं होता। वहाँ कोई जगह खाली होती ही नहीं, मानों वहाँ कोई बैठा ही नहीं था।

बाहर गाँव से आयी बस से आया हुआ अनजान पेसेंजर थैला उठाये आता दिखायी पड़ता तो सब एक-दूसरे की ओर ताकते, मानों पूछते हो कि इस गाँव में आने की इस आदमी को क्या ज़रूरत है।

खाली मैदान में धूल के बवण्डर उठते। अखबारों की रद्दी, गायों की चबायी गयी प्लास्टिक की थैलियाँ, कुत्तों के कान फड़फड़ाने से हवा पर पड़ी खरोंचें, घिसटते पैरों की आहटें, बन्द हवेलियों और मल्लाहों के घरों से उठता खालीपन- सब कुछ ऊपर उठें और अधर में लटक जाएँ। बुड्ढे सुस्त आँखें खोलते, फिर मूँदते, छड़ी पास खिसकाते- और कोई संकेत हुआ हो उस तरह से चल देते। सबकी पीठ समन्दर की तरफ होती।

हम गली में गिरती परछाइयों में चलने लगते। मैं दादाजी का हाथ पकड़ता। वे चौंक गये हों वैसे मेरी तरफ देखते, मानों मैं कौन हूँ और क्यों हूँ उसे याद करने की कोशिश कर रहे हो।

समन्दर की गन्ध में दादाजी के पसीने और चिलम की तम्बाकू की गन्ध घुल जाती। कुछ बड़ा होने पर मुझे समन्दर की अलग से गन्ध आने लगी थी। रात की हवा में समन्दर की नमी की गन्ध भी जुड़ जाती। मछुआरों की नावों से मछली की गन्ध आती। शंख-सीपियों में से समन्दर के अन्तःतल की गन्ध उठती। किशोरावस्था में सूखी और गीली रेत की गन्ध का अन्तर समझ में आया था। ज्वार और भाटे के अलग-अलग पानी की गन्ध में से आनेवाली ज़िन्दगी के अर्थ समझने की शुरुआत हुई थी।

बचपन में दादाजी की आँखों से देखा समन्दर आगे चलकर अपनी नज़र से दिखने लगा था। कभी वह म्लान और उदास लगता, मानों अपना बन्दरगाह रेत से भर देने के अपराध भाव से तड़पता हो। किनारे तक पहुँचने से पहले उसका उन्माद सहसा खिसिया जाता। लहरें उठती, परन्तु उसमें क्षोभ होता। हमारे समन्दर की अब ज्वार में दिलचस्पी नहीं थी। ज्वार के समय भी भाटे में सरक जाने की उतावली दिखायी पड़ती। वह अपना सत्त्व खोकर मछुआरों की नावों की आवन-जावन से बिखरती तरंगों तक सिमट गया था। बन्दरगाह के सारे जहाज़ बिना अपनी दिशा बदले कहीं खो गये थे। एक दूसरे से टिककर खड़े जहाज़ों के

बीच से एक लहर भी बड़ी मुश्किल से गुज़रती। अब तो सारा किनारा खाली हो गया था। हमारे समन्दर को लाईट हाउस से शर्म आती थी।

पूरा गाँव किसी आतंक तले जी रहा था। मझधार के तूफ़ानों की चुनौतियों को अपना सीना तानकर झेलनेवाले लोग रेत से पटी बन्दरगाह का सन्नाटा झेल पाते नहीं थे। उनके समानान्तर नयी पीढ़ी समन्दर को दरकिनार करके सिरे से जीने की शुरुआत करने को जूझ रही थी। उन्होंने पान -बीड़ी, चाय-पानी, किराने की छोटी-छोटी दुकाने लगायीं थी। ठेले चला रहे थे। कुछ बस और ट्रक चलाने लगे थे। थोड़े लोग अरब देशों में काम करने गये थे।

वे लोग हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रह सकते। उन्हें लंगर, पाल और मस्तूल के सपने दफ़्न कर देने थे। जहाज़ बाड़े में बनते बचे-खुचे जहाज़ में अपनापन नहीं रहा था। वे जहाज़ अपनी बन्दरगाहों से सफ़र करने वाले नहीं थे। बोली में फ़र्क आने लगा था, पुराने शब्द मिट रहे थे। समन्दर किनारे मल्लाह औरतें आँखों पर हथेली की छाँह किए राह नहीं निहार रही होगी अब। गाँव में शुरू हुए कॉलेज में लड़के-लड़कियाँ पढ़ने लगे थे। समन्दर ने जहाज़ का गला घोंट दिया, परन्तु जीवन का गला नहीं घोंट सकता। उसने पटे हुए किनारे को पार कर उस ओर जाने की तैयारी शुरू कर दी है।

दादाजी मल्लाहों के घर जाते। उनके पास संजोई हुई समुद्री सफ़र की बातें सुनते। घर लौट कर उन बातों को पुराने बही खाते के बचे हुए कोरे पन्नों पर लिख लेते। कहते- 'जो बीत गया है उसे भुलाने नहीं दिया जा सकता।'

मैं दादाजी के साथ किसी के घर गया होता तो बीता हुआ समय मेरे भीतर खुलने लगता। समुद्री जन समुदाय के कई व्यक्ति जीवन्त हो उठते। मैं मान ही नहीं सकता था कि वे सारे व्यक्ति इन वीरान बनी गलियों में किसी समय जीते-जागते चल-फिर रहे होंगे।

एक कबी बहन नामक मल्लाहन थी। केवल पुरुषों को ही समन्दर का सफ़र करने की छूट थी तब कबी बहन अपने पति मीठू के जहाज़ 'रामपासा' की नाख़ुदा बनकर समन्दर और ज़िन्दगी से जूझी थी। समन्दर से बड़ी मुश्किल से लौटा हुआ एक आदमी उसके दुरुस्वप्न से बाहर निकल नहीं पाया था। रात के अँधेरे में उसकी चीखें सुनायी देती- 'बचाओ...बचाओ...' उसने अपने को बचाने के लिए चीखें नहीं मारी थीं, अपने साथियों को बचा नहीं पाने पर यातना की अँधेरी गली में गुहार लगायी थी। उसकी चीखों की गूँज उठती और गाँव का एक-एक जन जाग उठता।

उन लोगों में से कितने ही पराये देश के क़ैदखानों सड़े हैं। समुद्री लुटेरों ने उन्हें पकड़ा है और बड़ी मुश्किल से छूटकर अधमरे-से घर लौटे हैं। आपने समन्दर के थपेड़े और मूसलाधार वर्षा की मार खायी है। डूबते जहाज़ को बचाने के लिए उसमें लदा हुआ माल मजबूरन समन्दर के अपार जल में होम कर दिया है। जहाज़ से लुढ़ककर अपार जल में डूब जाते साथियों को दीदे फाड़े देखा है और कुछ नहीं कर पाने की लाचारी में गूँगे हो गये हैं। जो भी हाथ लगा, उसे पकड़ कर किनारा पाने की जद्दोजहद की हैं। कई सफ़रों

ने सही सलामत किनारों पर लंगर डाला है, कई अधूरी रह गयी है। जो भी हुआ होगा, उन्होंने सीने में साहस संजोए रखा है, सिर हमेशा ऊँचा रखा है।

उन्होंने समन्दर के आकाश में चाँद देखा है। काली सियाह चट्टान जैसे अँधेरे को ताकते रहे हैं। दिन भर की जाँगर-तोड़ मेहनत के बाद ढोलक-खंजड़ी के ताल पर और मंजीरे की खनक पर समन्दर को भजन सुनाये हैं। हवा का रुख बूझकर पाल की दिशा बदली है। आसमान में तारे देख कर सुक्कान बदला है। क्षितिज पर से उड़कर आते पंछियों के संकेत से नज़दीक आ रही ज़मीन की दूरी नापी है।

जहाज़ के डेक पर खड़े-खड़े उन लोगों ने दूर सरकते परिजनों को अदृश्य होते देखा है। लौटने पर किनारे पर लगी भीड़ में उन्हें चिन्ह लिया है। मछुआरन की बन्द आँख और खुले होंठ पर रावलपत्री का फूल फेरनेवाला मछुआरा मछुआरन के बहते आँसू पोंछते समय हाज़िर नहीं रहा। बुलन्द आवाज़ से साथियों का होसला बढ़ाया है और सबसे छिपकर जहाज़ के कोने में हिचकी भर ली है।

समन्दर उनके लिए पाल की तरह खुला है और पाल की तरह चिन्दी-चिन्दी हो गया है।

मैं दादाजी के साथ गाँव की सूनी गलियों में घूमता तब मुझे लगता कि वे सब भी हमारे साथ चल रहे हैं। आसपास देखता, तो कोई नहीं होता। गलियाँ खाली। गाँव में सन्नाटा।

कुछ दूरी पर एक समन्दर उछल-उछल कर हवा में हाथ भाँजता रहता।

बरसात का मौसम लगे उसके पहले भयानक तूफ़ान की चेतावनी दी गयी थी। पिताजी दफ़्तर से ख़बर लाये थे। रेडियो भी बता रहा था कि बड़ी तेज़ आँधी चलेगी, समन्दर में लहरें काफ़ी ऊपर तक उठेगी। भारी वर्षा होगी। मछुआरों को समन्दर में नहीं जाने की सूचना दी जा रही थी।

पिताजी ने हमसे कहा- 'थोड़े दिन समन्दर पर मत जाना।'

दिन ढलते तेज़ हवा चलने लगी। सुबह उठे तब आकाश में काले बादल मँडराने लगे थे। पिताजी बड़े तड़के ही दफ़्तर चले गये थे। मैं और दादाजी ऊपरी मंज़िल की छत पर गये। आसपास के पेड़ सनसनाती हवा में इधर-उधर टकरा रहे थे।

दादाजी के माथे पर चिन्ता की रेखा दिखायी दी।

'हरि, मैंने किसी को नहीं बताया है, लेकिन दो दिन पहले मैंने सपना देखा था। उसमें हमारे मस्तूल पर 'धे' को देखा था।'

'धे?'

'समन्दर का पंछी। अगर वह जहाज़ के मस्तूल पर बैठे तो बड़ा अपशगुन होता है। या तो तूफ़ान आता है, या कोई बड़ी आफ़त आती है।'

मैंने मुंडेर पर से नीचे देखा। मस्तूल पर कोई नहीं था, पर मुझे शक हुआ कि तेज़ हवा से मस्तूल थोड़ा-थोड़ा हिल रहा था।

'मस्तूल गिर पड़ेगा तो, भा?'

'तेज़ आँधी में टूट भी सकता है।'

तो फिर? क्या करेंगे?'

'कुछ नहीं हो सकता। मस्तूल टूटने पर समूचा जहाज़ लड़खड़ा जाता है।'

जहाज़? हम तो घर में थे। दादाजी क्या कह रहे थे?

मेरा हाथ पकड़ा।

'चलो।'

'कहाँ?'

'समन्दर पर।'

'ऐसे में? भाभा ने मना किया है, समन्दर पर मत जाना। समन्दर तूफ़ानी होगा।'

'तेरा भाभा तो... मैं हूँ न तेरे साथ। चल, फटाफट लौट आएँगे। देखे तो सही कि समन्दर कितना तूफ़ानी हुआ है।'

किसी को पता न चले उस तरह से हम एक के बाद एक करके ड्योढ़ी से बाहर निकले। सारे पेड़ बिजने तरह झुल रहे थे। कई डालियाँ टूटकर रास्ते पर गिर पड़ी थी। झड़े हुए पत्ते उड़ रहे थे। गढ़ के बाहर खुले में हवा का ज़ोर बढ़ा। हवा की विपरीत दिशा में चलना मुश्किल हो गया। कच्ची पगडण्डी से होकर जैसे-तैसे समन्दर पर पहुँचे।

लहरें बड़ी ऊँची उठ-उठकर टकरा रही थी। एक लहर टूटती तो दूसरी उठ आती थी। समन्दर पर से काले-सियाह बादल घिरे चले आ रहे थे। हवा के कारण स्थिर खड़ा नहीं जा रहा था। हम अपनी हमेशा की जगह पर पहुँच नहीं सके। पटखनी खाती लहरों का पानी काफ़ी आगे तक आ गया था।

'देख? कैसा पागल हो रहा है।'

मैंने सिर हिलाया।

'यह तो कुछ नहीं है, सोच हरि, मझधार में कैसे लहरें उठ रही होगी। समूचा जहाज़ ऊपर-नीचे, एक-एक जोड़ चरमराता बज उठता होगा।'

क्षितिज पर बिजली कौंधी, दहाड़ सुनायी दी।

'मस्तूल बस उखड़ने को है, सुक्कान हाथ में नहीं रहता, जहाज़ घड़ी में इस ओर पलटी मार रहा है तो घड़ी में उस ओर। कोई भी आदमी सीधा खड़ा नहीं रह पा रहा है। देख रहा है न?'

देखना क्या था? मेरी नज़रों के सामने कोई जहाज़ नहीं था, न कोई मल्लाह। हवा की सांय-सांय सुनायी दे रही थी। लहरें पगला गयी थी। दूर से उफान आता, लहर समन्दर के तल से उठती, साँप के फन-सी आगे बढ़ती और फिर पछाड़ खाती। फेन हमारे पैरों तक आ जाते थे।

आँखें चौंधिया जाए, ऐसी बिजली और कान फाड़ दे ऐसे धमाके।

मुझे डर लग रहा था। दादाजी ज़ल्दी से घर लौट चले तो अच्छा, लेकिन वे तो किसी और दुनिया में खो गये थे।

बड़ी-बड़ी बूँदे गिरने लगी थी। मैंने दादाजी का हाथ हिलाया।

'भा, घर चलिए।'

'इत्ते में डर गया?'

वे बेमन से लौटे। गढ़ तक पहुँचने से पहले बरसात टूट कर गिरी। बिना रुके दिन भर बरसती रही। हवा के झकोरे कम नहीं हो रहे थे। आँगन का मस्तूल इधर-उधर डोल रहा था।

दोपहर बाद खबरें आने लगी थी। नदी में पानी बढ़ा है। गाँव में सब जगह पानी भर रहा था। हमारे इलाके में वैसे भी कम बारिश होती है। गाँव में जमा पानी को बाहर निकालने का रास्ता ही नहीं बना था। कुछेक घरों में पानी भर गया था। दादाजी ने कहा- 'अगर पानी पलट कर ज़ोर करेगा तो सारे घरों में पानी भर जाएगा।' हमारी गली में मानों नदी बह रही थी। गली का पानी ड्योढ़ी से होकर आँगन में आ रहा था। थोड़ा बढ़ेगा तो घर में घुस जाएगा। हम देहरी पर खड़े थे। पिताजी दफ़्तर से आ नहीं पा रहे थे। दादी माला लेकर खटिया पर बैठ गयी थी। बा निरीह लग रही थी।

पानी घर की देहरी को छूने को था।

दादाजी चिल्लाए- 'पानी उलीचना पड़ेगा। हरि, तेरी बाई से कह कि बाल्टी-टब ले आये। ज़ल्दी कर।'

बा भागते हुए सब ले आयी। दादाजी बाल्टी लेकर आँगन में दौड़ गये।

'घामट उलीचो' दादाजी की चीख सुनायी दी। वे बाल्टी में पानी भर-भर कर ड्योढ़ी से बाहर फेंक रहे थे।

'घामट?' मुझसे पूछे बिना रहा न गया।

'जहाज़ में समन्दर का पानी जो भर जाता हैं न वह... ले, तू भी ज़ोर लगा, पानी निकाल...'

मैं दादाजी के साथ जुड़ गया। बा भी टब से घामट निकाल रही थी। दादाजी बीच-बीच में चिल्ला रहे थे- 'चलो बेली, होसियार... दम लगा कर हैसा.. ज़ोर लगाओ..'

बरसात लगातार हो रही थी। सवेरे से बिजली बन्द थी। दादी कमरे से बाहर आकर ओसारे के अँधेरे में खड़ी-खड़ी माला के मनके फेर रही थी।

'हे आशापुरा माता, पत रखना.... घर में पानी ना घुसे, मेरा गोविन्द दफ़्तर से सकुशल घर लौट आए...' बरसात की झड़ी, बादलों की गरज और बिजली की कौंध के बीच उसके बोल सुनायी पड़ रहे थे।

गली के पानी का बहाव तेज़ी से लगातार आँगन में आ रहा था। जी जान से घामट निकालने की हमारी कोशिश का कोई मतलब नहीं रहा था। दादाजी बीच-बीच में 'हैसा हो' करते हुए हमारा जोश बढ़ा रहे थे। मैं थक गया था, बाई थक गयी थी, लेकिन दादाजी बिना इधर-उधर देखे पानी उलीच रहे थे।

शाम के बाद बरसात का ज़ोर कम हुआ। गली से पानी उतरने लगा। बारिश एकदम रुक जाने के बाद भी तीन दिन तक आँगन पानी से भरा रहा। उन तीन दिनों में दादाजी खाट से खड़े नहीं हो पाये थे। उनमें इतनी ताकत कहाँ से आयी थी ये कोई समझ नहीं सका था। उसका कारण सिर्फ़ मैं जानता था।

*****

मुझे सबसे पहली बार समन्दर पर मेरी माँ और दादी ले गयी थीं। हमारे परिवार का एक रिवाज था। घर का पहला बेटा जब दो महिने का हो जाता उसे समन्दर पर ले जाते। परिवार की स्त्रियाँ ही जाती। बच्चे के सिर से समन्दर का पानी छुआती, देह पर बून्दों का छिड़काव करती, थोड़ी देर उसे समन्दर के किनारे लुढ़कातीं। दिया जलातीं, नारियल चढ़ातीं, समन्दर की पूजा करतीं।

यह रिवाज केवल हमारे परिवार में ही था। गाँव में और कहीं नहीं था। यह रिवाज कब से शुरू हुआ यह कोई नहीं जानता था। दादाजी भी नहीं।

दादी ने कहा- 'तेरा भाभा जब दो महिने का हो गया उस दिन मैं, मेरी सास, बड़ी ननद उसे समन्दर पर ले गये थे। उसके पाँव पानी में डुबोते ही जो बुक्का फाड़कर रोने लगा कि बस।'

दादाजी ने जोड़ा- 'जो समन्दर से पहली मुठभेड़ झेल जाए, उसे ही समन्दर अपने क़रीब आने देता है। देख रहा है न, तेरा बाप समन्दर के नाम पर कैसे बिदकता है। वहाँ टहलने भी नहीं जाता। समन्दर की ओर देखने के लिए भी जिगरा चाहिए, हरि।'

'मैं रोया था, दादी?' मैंने पूछा।

'अरे ना, ना, तू तो हँस रहा था'। जवाब दादाजी ने दिया।

'और आप, भा?'

उन्हें याद ही न हो ऐसा जवाब उन्होंने दिया- 'मैंने तो अपनी माँ के हाथ से सीधे समन्दर में छलांग लगायी थी।'

दो महिने के मेरे दादाजी समन्दर में डुबकी लगा रहे हों, ऐसा मुझे दिखा। मैं हँस पड़ा। पानी में डूबे बच्चे का सिर थोड़ी देर बाद लहरों के बीच से बाहर निकलता है, बित्ते भर के शरीर पर से पानी बह रहा है।

'अगर ऐसा है तो आपके भाभा, दादा और वे सब दो महिने के होते ही जहाज़ी सफ़र पर चल दिये होंगे!'

हम तीनों हँस पड़े।

मैं नेवी के जहाज़ के डेक पर मझधार में खड़ा होता तब सोचता- मेरा जब बेटा होगा तब घर के सब लोगों को समन्दर के बीच ले जाऊँगा। मेरी बाई से कहूँगा- 'तेरे पोते के सिर पर मझधार के पानी का छिड़काव कर।'

हूक उठी। उस समय दादाजी हमारे साथ होंगे? इस वक़्त तो वे घर में खाट पर लेटे हैं। कई दिनों से समन्दर पर नहीं जा पाये होंगे। मुझे तो पता भी नहीं कि इस उमर में वे समन्दर पर जाते भी होंगे या नहीं। उनसे बहुत दूर हो गया हूँ। एक उम्र थी जब परछाईं की तरह उनके साथ रहता था, अब उनके बारे में कुछ नहीं जानता।

उनके पास पहुँच कर कहूँगा- 'बापा, ज़ल्दी ठीक हो जाइए। आपने मुझे अपना समन्दर दिखाया था, मैं आपको अपने समन्दर बताऊँगा।'

उनका समन्दर, मेरे समन्दर।

वही उमड़ती लहरें, वही खारी हवा, हर समन्दर से उठती एक सी गन्ध-फिर भी हम दोनों के समन्दर अलग हो गये थे।

मैं जब छठवीं कक्षा में आया उन दिनों में हमारे घर का वातावरण थोड़ा तंग लगने लगा था। मानों घर के दो हिस्से हो गये थे। एक तरफ दादी, पिताजी और बाई। दूसरी ओर दादाजी। किसी महत्त्वपूर्ण बात के फैसले पर नहीं पहुँच पाने की बेचैनी झलक रही थी। दादाजी की प्रवृति में ख़ास फ़र्क नहीं पड़ा था। वे अपने में मस्त रहते थे। मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था। किसी ने मुझे बताया नहीं था, बताने की ज़रूरत भी नहीं थी। उस उम्र में घर के किसी निर्णय को लेकर मैं अपनी कोई राय देने की स्थिति में नहीं था। अन्दर-अन्दर चर्चाएँ चलती रहती। अगर उनके बीच मैं जा पहुँचता तो धीमी आवाज़ में चलती बातें बन्द हो जाती। मेरे हटने पर फिर से बात आगे बढ़ती। शायद उन्होंने मुझे दादाजी के पक्ष का मान लिया होगा। मुझे यह अच्छा लगता था।

एक शाम दादाजी घर पर नहीं थे। दादी पिताजी से कह रही थी- 'बात करके देख ले हालाँकि वे मानेंगे नहीं।'

'बाई, समय बदल गया है, उन्हें भी बदलना चाहिए।'

'जो भी कर लेकिन सोच-विचार करके करना। एक बार दिमाग बिदक गया तो फिर वे किसी की नहीं सुनेंगे इतना याद रखना।'

किसे बदलना होगा? दादाजी को? वे ऐसा क्या कर रहे थे कि उन्हें खुद को बदलना पड़े? वे घर की किसी भी बात में माथा पच्ची करते नहीं है। वे अपने निश्चित नित्य-क्रम में रहते। मेरी सारी ज़िम्मेदारी आपने उठा ली थी। बाज़ार से साग-सब्ज़ी लाते। दोपहर बाद लायब्रेरी में बैठते। शाम को थोड़े वकील, डॉक्टर, गाँव के अगुआ लोगों के साथ बागीचे की बेंच पर बैठते।

मैं कुढ़ रहा था। मेरे घरवालों को दादाजी की कौन-सी बात अच्छी नहीं लग रही थी।

इतवार को राज़ खुला। समन्दर से लौटकर मैंने और दादाजी ने नाश्ता किया। दादाजी उठे।

'एक मिनट, भा,' पिताजी ने कहा।

दादाजी बैठे। मैं भी खड़ा रहा।

'भा, एक बात कहनी है।'

'कह दो... इसमें इस क़दर हिचकिचाना क्या?'

'बात ज़रा नाजुक है। अपना घर पुराना हो गया है। काफ़ी मरम्मत माँग रहा है। इतने बड़े घर की हमें ज़रूरत भी नहीं है। मुझे तरक़्क़ी मिलेगी तो हमें गाँव भी छोड़ना होगा।'

'साफ़-साफ़ बता, क्या कहना चाहता है?'

'हमें यह घर बेच देना चाहिए। मैंने बाज़ार में पूछताछ की है। इन दिनों अच्छे दाम मिल रहे है।'

'फिर रहेंगे कहाँ?'

'गाँव से बाहर। पुल की ओर नये मकान बन रहे हैं वहाँ।'

'गाँव से बाहर?' दादाजी तैश में आते-आते रुक गये। 'मैं गाँव के बाहर रहने नहीं जाऊँगा। अपनी बात आप सब जानो।'

खड़े हो गये। दादी ने रोका- 'गोविन्द की बात तो पूरी सुनिये।'

खड़े रहे।

'ठीक है। अगर आप मना करेंगे तो फिलहाल घर नहीं बेचेंगे। एक काम करते हैं, ऊपरी मंज़िल पर दो-तीन कमरें बना सकते हैं। आँगन से सीधे ऊपर के लिए सीढियाँ निकाल लें तो ऊपर की मंज़िल अलहदा हो जाएगी, किराये पर चढ़ा सकते हैं। वैसे भी वहाँ कूड़ा-करकट भरा पड़ा है।'

दादाजी ने जवाब नहीं दिया। कुछ देर बेटे की ओर देखते रहें, फिर धीरे-धीरे कदम बढ़ाते हुए ड्योढ़ी से बाहर चले गये। दोपहर को भोजन के लिए भी नहीं आये। सबको चिन्ता हुई। मैं पूरा दिन घर में

चक्कर काटता रहा। पिताजी स्कूटर लेकर उन्हें खोजने गये, नहीं मिले, शाम से पहले मैं समन्दर पर गया। वे हमारी हमेशा की जगह पर बैठे थे। पूरा दिन ऐसी धूप में समन्दर पर बैठे रहें?

'भा..'

उन्होंने मेरे सामने देखा। हाथ पकड़कर क़रीब खींचा।

'हरि...'

'हाँ।'

'ऊपर की मंज़िल खाली नहीं करूँगा।'

'नहीं करेंगे।'

'हमारा घर बेचने नहीं दूँगा।'

'नहीं देंगे।'

'तू मेरे साथ है न?'

'सब लोग आपके साथ ही हैं, भा। अब घर चलिए, किसी ने खाया नहीं है।'

उन्होंने फतुही पहनी। समन्दर से पानी की अँजुरी भरकर मुँह धोया। मेरा हाथ पकड़ा, फिर छोड़ दिया।

उस दिन मैं उनके आगे चला था, वे मेरे पीछे-पीछे आये थे।

पिताजी को प्रमोशन मिला तब मैं आठवीं कक्षा में था। उनका तबादला नायब तहसीलदार के रूप में दूसरे गाँव में हुआ था। वे हम सबको साथ ले जाना चाहते थे, दादाजी ने तो मना ही कर दिया था। मैं भी नहीं जा सका। पिताजी का तबादला स्कूल के सत्र के बीच में हुआ था। अधबीच में स्कूल नहीं छोड़ा जा सकता था। पिताजी अकेले गये। नयी जगह पर अकेले रहना रास नहीं आया। थोड़े महीनों बाद बाई को उनके साथ जाना पड़ा। उस शहर का स्कूल अच्छा नहीं था। पिताजी ने निर्णय किया कि मेरी पढ़ाई अपने गाँव में ही हो। घर के कामकाज और खाना बनाने के लिए पूरे दिन की नौकरानी रख ली थी। मैं और दादाजी हमसे हो सकता उतना हाथ बँटाते। माँ दो-तीन महिने में चक्कर लगा जाती।

मेरा जीवन बदल गया था। ज़िम्मेदारी का एहसास होने लगा था। दादाजी का नित्य क्रम भी बदल गया था। वे सुबह-शाम दोस्तों के पास जाते, लेकिन ज़ल्द घर आ जाते। मुझे अपनी पढ़ाई के लिए काफ़ी समय देना पड़ता था।

एस.एस.सी. और बारहवीं में मुझे अच्छे अंक मिले। पिताजी चाहते थे कि मैं कॉलेज की पढ़ाई के साथ सिविल सर्विस की परीक्षा की तैयारी करूँ। मैंने अपनी केरियर के बारे में खास सोचा नहीं था। मैं

अहमदाबाद के अच्छे कॉलेज में पढ़ाई कर सकूँ इसके लिए पिताजी वहाँ तबादला करवाने की कोशिश कर रहे थे। तबादला होने तक मुझे होस्टल में रहना था।

शहर में मेरे अकेले रहने का विचार दादाजी को जँचा नहीं था। लेकिन उसके अलावा और कोई उपाय भी नहीं था। वे उखड़े-उखड़े रहने लगे। मुझसे दूर रहते, ज़्यादा बात नहीं करते, पिताजी आते तब मेरे केरियर को लेकर बातें होती। दादाजी ग़ैर मौजूद-से बैठे रहते।

मेरे जाने का दिन क़रीब आ रहा था। दादाजी ज़्यादा समय घर से बाहर रहते। मुझसे कतराते, पिताजी ने कुछ दिनों की छुट्टी ली थी। अहमदाबाद में मेरी ठीक-ठाक व्यवस्था हो उसके लिए वे मेरे साथ आनेवाले थे। बाई एक-दो माह गाँव में रुकनेवाली थी। उन दिनों पिताजी ने आग्रहपूर्वक पहली बार दादी को अपने साथ रहने को कहा- दादा माने नहीं। पिताजी एक-दो बार भड़क गए, लेकिन बाई ने बरजा।

'ज़रा सोचिए तो सही, इस उम्र में गाँव छोड़ना आसान नहीं है।'

'मुझे पता है, वे क्यों गाँव छोड़ने को तैयार नहीं है।'

'क्यों?'

'हर बार पूछते हैं- वहाँ समन्दर होगा? मानों समन्दर के बिना जिया ही नहीं जा सकता।'

'जुनून है तो है। थोड़ा समय बीतेगा फिर खुद मान जाएँगे।'

मैं भी दादाजी के पास जाने से कतराता था। पास जाने से डरता। बिना माँ-पिताजी के रह सका, लेकिन दादाजी न हो ऐसे गाँव में रहना... हिचकी बंध जाती। हम खाने बैठते तब उन्हें जल्दी-जल्दी कौर निगलते देखकर मेरा कलेजा मुँह को आ जाता। उनसे आँख मिला नहीं पाता था।

मेरे जाने से पहले की शाम को दादाजी ने मुझसे कहा- 'ऊपरी मंज़िल पर आना'।

ऊपरी मंज़िल ...हम दोनों की प्रिय जगह। शायद मुझे विदा देने के लिए उन्हें वह जगह सबसे उचित लगी होगी। वे छत की मुंडेर पर हाथ दबाए खड़े थे। कुछ देख रहे होंगे या नज़र ख़ाली-ख़ाली भटक रही होगी? यकायक मुझे याद आया, हालाँकि छत से दिखता नहीं है लेकिन समन्दर उसी दिशा में था।

मैं उनके पास खड़ा रहा। वे चुप रहें।

मैंने उनके हाथ पर हाथ रखा। उन्होंने मेरे सामने नहीं देखा। मेरी हथेली अपनी मुट्ठी में जकड़ कर खड़े रहे। ये वह पल थे, जिसमें सबकुछ कहा जा चुका था।

अचानक कुछ याद आ गया हो वैसे उन्होंने फतुही की भीतरी जेब से मुड़ा हुआ काग़ज़ निकाला, मुझे दिया। अंग्रेजी पत्रिका का पन्ना था। उसमें एक तस्वीर थी। कुछ जवान सफ़ेद कपड़ों, सफ़ेद जूते, पींक केप की वर्दी पहनकर तिरंगे को सलामी दे रहे थे।

मैंने दादाजी के सामने देखा।

'ये सब हमारी नौ सेना के जवान हैं। समन्दर बीच रहकर देस की पहरेदारी करते हैं।'

मुझे आश्चर्य हुआ। मेरे जाने के एक दिन पहले वे यह तस्वीर क्यों दिखा रहे हैं?

'हरि, अपने दादा की एक बात मानेगा? तू भी बड़ा होकर नौ सेना में भरती होना।'

मैंने उनके दोनों हाथ पकड़ लिये। यह भी हम दोनों के बीच हुआ एक पक्का और गुप्त अनुबन्ध था। दादाजी ने मेरा भविष्य स्पष्ट कर दिया था।

शुरू-शुरू में बड़ा तकलीफ़देह लगा। मेरा घर कहीं और मैं होस्टल में कहीं और।

एक-एक दिन गिन-गिन कर बितता था। रात में नींद उड़ जाती तब आँख की कोर तक बह आते आँसू रोकने की ताकत नहीं रहती थी। ऐसी रातों में अपने गाँव के सन्नाटे को बड़ी तीव्रता से अनुभव किया था शायद!

पहले साल दीपावली की छुट्टियाँ हुई। मैं माँ-पिताजी के पास जाने के बदले दादाजी के पास गया। पूरी रात सफ़र करने के बाद बड़े सवेरे अपने गाँव पहुँचा। बीते छह महिने से मैं दादा-दादी से मिला नहीं था। बस से उतरकर हिचकिचाता खड़ा रहा कि कहाँ जाऊँ? फिर बस अड्डे के पास एक परिचित के चाय के ठेले के पास अपना बेग रखकर कच्ची पगडण्डी से समन्दर की ओर चला। सुबह की चढ़ती धूप में समन्दर को देखने के साथ हमारे बीच का लम्बा वियोग स्पष्ट हो गया। मैं दौड़ा नहीं, समन्दर के निकट जाने के पल-पल को अपने भीतर उतारता धीरे-धीरे चलता रहा।

समन्दर पर हल्का कोहरा था। उसके आवरण के बीच मैंने दादाजी को देखा। अपनी हमेशा की जगह पर, वे समन्दर को देख रहे थे। मेरी ओर उनकी पीठ थी। मैं उनके पास पहुँचा।

'मानों मेरी परछायीं की आहट सुन ली हो वैसे बिना सिर घुमाये बोले- 'आ गया, हरि?'

मैं उनकी बाँहों में दुबक गया। पहले वे रोये या मैं, उसकी सुध नहीं रही।

'भा, आपको नहीं पता था कि मैं आज सुबह की बस से आनेवाला हूँ?'

'था न। तेरी बस का टेम पूछने रोज़ बस अड्डे जाता था।'

'तो फिर यहाँ क्यों बैठे हैं? मैं सीधे घर जाता तो?'

'मुझे पता था कि तू अपने दोनों दादा को मिलने सीधे यहीं आएगा।'

टैक्सी ने नदी के पुल का मोड़ लेकर गढ़ में प्रवेश किया। मैं ड्राइवर के कन्धे पर हाथ रखने जा रहा था कि टैक्सी रोके, वहीं उतर जाऊँ। सीधे समन्दर पर जाऊँ। नहीं, आज दादाजी समन्दर पर मेरी राह नहीं देख रहे थे। वे कमरे में खाट पर लेटे थे- नीम-बेहोश, शायद पूरे बेहोश। बेहोश नहीं होंगे। वे मेरी राह देख रहे थे।

सुबह पिताजी से बात हुई उसके बाद मैंने फोन नहीं किया था। उनका भी नहीं आया था। सब ठीकठाक ही होगा।

टैक्सी संकरी गली में घर तक नहीं आ सकती थी। मैं उतरा, ड्राइवर को चाय-नाश्ते के पैसे दिये। मैंने उसे आज की रात यहीं रुक जाने को कहा। शायद ज़रूरत पड़े, भा को भुज ले जाना पड़े।

गली में मुड़ा। आँगन की मुंडेर से मस्तूल दिखा। मस्तूल की नोंक पर रस्से से बंधा सफ़ेद कपड़ा दिखा, वह कपड़ा ...पाल ...दादाजी ने ऊपरी मंज़िल पर बक्से में सम्भाल कर रखा पाल का टुकड़ा ...रोंए खड़े हो गये।

ड्योढ़ी खुली थी। भागता भीतर गया। डॉक्टर दादाजी का बी.पी. नाप रहे थे। पिताजी, बाई, वीरजी चाचा और दूसरे दो-एक लोग खाट के पास खड़े थे। मैं पिताजी के पास गया। उन्होंने मेरी ओर देखा। आँखें सूखी थीं। मैंने होंठ भींच लिये।

डॉक्टर खड़े हुए।

'बी.पी. बहुत कम हो गया है। पल्स भी पकड़ में नहीं आ रही है।'

'डॉक्टर साहब मेरी टैक्सी बाहर खड़ी है। इन्हें अभी हॉस्पिटल में-'

'उन्होंने मेरी ओर देखा। पिताजी से पूछ- 'हरि?'

पिताजी ने सिर हिलाया।

'बड़ी देर हो गयी है, हरि.... वे घर से ही जाना चाहते हैं।'

वीरजी चाचा डॉक्टर को छोड़ने गये। मैं खाट की पाटी पर बैठ गया। दादाजी का हाथ पकड़ा, शायद उन्हें याद आए, इस हाथ को पकड़ कर मैं...

बाई ने मेरे कंधे पर हाथ रखा।

'हरि...'

मैं जवाब नहीं दे सका।

दादाजी की आँखें बन्द थी। श्वासोच्छ्वास बहुत मन्द और अनियमित थे। वे निश्चल लेटे थे। सीधे सफ़ेद दाढ़ी बढ़ गयी थी। चेहरे पर सब कुछ निपटा कर बैठे इंसान जैसी असीम शान्ति थी। एक भी झुर्री नहीं। कोई असमंजस नहीं। होंठ दृढ़ता से बन्द थे। वे मुझे अलग लगे। इस दादाजी को मैं पहली बार देख रहा था।

आँगन के मस्तूल से बंधा पाल... आपने तैयारी कर ली थी।

झुका। माथे पर होंठ रखे। खारा स्वाद आया। मेरी आँख से आँसू टपका। सावधान हो गया। समन्दर खेनेवाले की बिदाई के समय कोई रोता नहीं है।

कान के पास मुँह ले गया।

'भा, आ गया हूँ, भा...'

उनकी हथेली अपनी हथेली में ले ली।

'भा...हरि बोल रहा हूँ...'

होंठ कुछ खुले। दादाजी के पाताल से केवल मुझे सुनायी दे ऐसा गहरा नाद उठा। मझधार में चल रहे मन्थन की गरज... वे कुछ कह रहे थे... किसी को पता भी नहीं चलेगा ऐसे समन्दर में चला जाऊँगा...

बड़ी थकान लगी हो, ऐसे होंठ फिर बन्द हो गये। मैं मानने को तैयार नहीं था, उन्होंने कहा था- समन्दर कभी भी थकता नहीं।

'भा... (हिचकी भीतर ही रोके रखी।) उठिए, भा, चलिए समन्दर पर चलते हैं...'

पीछे से किसी के होंठ से छूटा हुआ रुदन सुनायी दिया।

आँखें खोलने में तकलीफ़ हो रही थी। ज़रा-सी खुली पलकें मेरी ओर स्थिर हुई। स्मित दिखा याकि मेरा वहम था? मेरी हथेली में दबी उनकी उँगलियाँ सुगबुगाई। सुन लिया है, उन्हें पता है कि हरि आ गया है। जहाज़ पर चढ़ने का टेम हो गया है।

बन्दरगाह पर झण्डे लहरा रहे थे। पूरा गाँव इकट्ठा हुआ है। सबसे आगे मैं हूँ, पास में मेरे पिताजी, बाई थोड़ी पीछे खड़ी है। नारियल चढ़ा दिया गया है। प्रसाद बाँट दिया गया है। समन्दर के पानी में कुमकुम, फूल और दूध डालकर पूजा हो गयी है।

सामने दिखते जहाज़ पर भी एक झण्डा लहरा रहा है। दादाजी सुक्कान पकड़े बैठे हैं। उन्होंने सिर पर लाल रुमाल बाँधा है। माथे पर कुमकुम अक्षत का तिलक है।

जहाज़ धीरे-धीरे खिसकने लगा है। जहाज़ का मोरा घूमने लगा है।

दादाजी ने हाथ उठाया। सिर पर बंधा रूमाल खोल हवा में हिलाया।

जहाज़ धीरे-धीरे बन्दरगाह से बाहर निकल गया। दादाजी अब नहीं दिखायी देते हैं। वे अपने सफ़र पर चल पड़े हैं। दूर जाते जहाज़ का आकार छोटा होते-होते बिन्दु जैसा हो गया... बाद में तो वह भी नहीं। मात्र समन्दर का अपार जल, दूर दिखायी पड़ता क्षितिज। एक ऐसा सफ़ेद प्रदेश, जहाँ समन्दर और आकाश एक हो जाते हैं।

मेरे भा समन्दर में चले गये थे। नये किनारे पर उतरेंगे। वहाँ उनसे पहले जो पहुँच गये हैं, वे समन्दर खेनेवाले उनकी राह देख रहे होंगे।

उनमें घुल-मिल जाने से पहले भा पीछे मुड़कर देखेंगे।

भा को दिखायी देगा- हमारे गाँव के समन्दर पर एक लड़का गीली रेत में घर बना रहा है। और भी कोई उसके साथ है। वह रेत में नाली बनाकर समन्दर का पानी घर तक ला रहा है।

दो पत्र (जो गन्तव्य तक पहुँच नहीं सके)

अनामिका अनु

वे पत्र जो गन्तव्य तक नहीं पहुँचते हैं वे हर्फ़ दर हर्फ़ मरते रहते हैं। एक दिन काग़ज़ उन्हें खा जाती है।

हमारा चेहरा भी एक पत्र है जो न पढ़ा गया तो लकीर दर लकीर मरता जाता है।

प्रिय अस्त,

तुम मेरी ज़िन्दगी में इंजीकरी से आये और तुम्हें पसन्द करने लगी। कननदुड़ा चर्च के आस-पास तुम्हारे हाथों के घने बालों को याद करते हुए मैंने एक कविता लिखी थी। कल शंखमुगम के तट पर उन पन्नों की नाव बनायी और उन्हें बहा दिया अरब सागर में कि जब लाल सेब खारे शरबत में डूब रहा हो, क्षितिज के पास का नीला पानी आपको बता दे कि मैं अब भी लिखती हूँ।

आपकी मुस्कान की नाव पर चटख किरणों को उतरते देख कर वह शंखमुगम के तट पर लेटी जलपरी मुस्कुरा उठती है और आर्ट म्यूजियम के दीवार पर लगी सारी तस्वीरें खिड़कियों से झाँकने लगती हैं। सब पूछती हैं, कब मिलोगे?

पार्वती कल दुबई चली गयी। मोहिनीअट्टम करते-करते निरंजना रोने लगी। तुम क्यों नहीं रोते? तुम चीख कर रोना, नाम लेकर रोना, वह रुदन मुझ तक पहुँच जाएगा।

ये 'हाय हाय' जो तुम रोज़ करते थे, किसकी हाय लगी थी तुमको। 'मेरी जान' जो कहते थे न! मुझे बड़े फ़िल्मी लगते थे, मैंने आज तक तीन घण्टे बैठकर कोई फ़िल्म नहीं देखी। तुम्हें देखती, फ़ुरसत कहाँ थी?

कावालम्ब चलोगे मेरे साथ, नाव पर बैठकर जाएँगे। मुझे अय्यपा पणिक्कर के स्मृतियों वाले कावालम्ब से मिलना है। अय्यपा कहते हैं बीमार प्रेमी को प्रेमिका का एक स्पर्श चंगा कर देता है। बीमार प्रेमिका को भी प्रेमी का स्पर्श चंगा करता होगा न! बोलो न! अय्यपा सच ही कहते होंगे न?

मैं बीमार हूँ, कई दिनों से भोर दलान पर इन्तज़ार कर रही है, आँगन नहीं आयी। मैं उठ नहीं पा रही हूँ कि बुला लाऊँ।

नारियल के फूलों के सूखे सहपत्रों को रख दिया है, गुड़ और कूटी चावल भी, लग रहा है मानो बस कल ही हो अट्टुकाल पोंगाला। तुम आ जाओ, मैं उत्सवों का ऋण उतार दूँ, वर्षों से जमा हैं...

आओगे न! साथ में तरलि अप्पम बनायेंगे, भाप में पकती तरलि की खुशबू में भींगकर मैं एक गीत लिखूँगी, विरह का गीत।

आओगे न! उस जंग लगे दरवाज़े से जिसकी कुण्डी नहीं लगती।

पन्द्रह दिन हुए, सपने में तुम ला पोदेरोसस, ५०० सी सी नॉरटन पर चढ़कर आये थे। तुम्हारा आला सफ़ेद बिल्ली दाँतों से दबाकर ले गयी दूसरी ओर जहाँ काले पत्थर का बना विशाल दीप शतक भर से खड़ा है किसी की प्रतीक्षा में। बिल्ली खाते वक़्त कई बार झपटती है मुझे। तुम से प्रेम में मुझे बहुत सी खरोंचें मिली हैं। केले के थम-सी चिकनी कोमल त्वचा पर पंजों के कितने निशान हैं। रोजारियो में जन्में एक डॉक्टर पर मेरा दिल आ गया है। लड़कियाँ उसकी तस्वीर वाली शर्ट पहनकर घुमती रहती हैं सड़कों पर, मेरे मन में कैक्टस की पूरी फसल लहलहा उठती है। मेरा मन मैंगोस्टीन होना चाहता है। मैं उसकी खट्टी-मिट्ठी खटास में सिहरना चाहती हूँ। तुम्हें याद है! बारिश में तिरूवनन्तपुरम के जनरल अस्पताल के वार्ड नम्बर नौ के पास मिली थी तुमसे, ठीक बारह बजे। विटामिन की गोलियाँ लेकर आये थे तुम।

डॉक्टर! तुम्हारे हाथ में बन्दूकें अच्छी नहीं लगतीं।

मैं कड़ी और कड़वी हूँ। तुम्हें मुलायम और मीठी चीज़ें इतनी पसन्द क्यों है? डॉ. श्यामला कह रही थी, कैंसर वाले पॉलिप हैं। बच जाऊँगी। गर्भाशय निकाल देंगे। ७ बजकर १४ मिनट में २१ दिसम्बर याद आ रहा है, इमामबाड़ा के दरवाज़े पर खुदी ठण्ड में ठिठुरती दो मछलियाँ साथ में आना चाहती थीं। मुझे कह रही थीं कि उन्हें पेरियार में छोड़ दूँ, जिसके तट पर शंकराचार्य की जन्मस्थली है।

हम गये थे न वहाँ, उस दिन हम दोनों ने गुलाबी पहना था। आज डॉक्टर श्यामला ने भी गुलाबी साड़ी पहन रखी है, गुलाबी पत्थर की माला भी। गुलाबी शायद किसी धर्म या राजनीतिक पार्टी का रंग नहीं है। यह बेटियों का रंग है कहती थी नानी, निरंजना ने डट कर कहा था- 'नीला है लड़कियों का, नीला आसमान हमारा है। हमें गुलाबी हवा मिठाई नहीं बनना।'

मुझे मेरे शहर के जाति, धर्म पूछते लोग शकुनि या धृतराष्ट्र लगते हैं, जिनकी या तो आँखें अन्धी हैं या मन। चलो न! इन अन्धों के बीच से भागकर फिर पेरियार के तट पर चलते हैं वहाँ 'तकषि का कुत्ता' पढ़कर साथ में खूब रोऐंगे, प्यार लौट आएगा। तुम अगर आ सको तो आना और जल्दी आना।

वलीयथ्थुड़ा पुल के पास तुम्हारे दायीं कलाई के तिल को छूते ही फ्लेमिंगो के झुँड उड़ कर करी पत्ते के पेड़ पर चले गये थे। उस शाम लाख दीयों से सज गया था पद्मनाभास्वामी मन्दिर। २००६ का पोंगल याद है तुम्हें? कितनी भीड़ थी शबरी माला में। कडला पायसम (चने दाल की खीर, कोकोनट मिल्क में बनती है) से तुम घुल रहे थे मेरी यादों में और मैं समुद्र को समर्पित पिता के अस्थिकलश को आँखों में समेट रही थी, पॉलिन कोस्टका को दिल की अल्मारी में तह लगा रही थी। भूल गये पॉलिन आंटी को उसने बीस जीवों का माँस खाया था, गिलहरी का भी। उसके खेत और घर की चौखटें समुद्र के भीतर विहार कर रही हैं। उसे याद कर मन पुली (इमली) हुआ जा रहा है। तुम, आंटी और पापा, सबने दिल को घोड़ा बना दिया है, भाग रहा है वह घोड़ा। मैं हाँफ़ रही हूँ। बगल में एक क़ब्रगाह है...

उस तिल की कसम, आओगे न!

जब भी आना ऋषभ की तरह मत ताकना मुझको, मुझे श्रीवड्डाकुनाथन मन्दिर के चारों भव्य गोपुरम याद आने लगते हैं। बताओ न इस मन्दिर को बनाते वक़्त परशुराम को अपने पाप याद आये थे? वरुण देवता ने क्या सोच कर दे दी थी अपनी ज़मीन। बताओ न! शंकराचार्य के माता पिता ने क्या कहा था शिव से, मैं भी नन्दी के कान में वही कहना चाहती हूँ। मेड़म का महीना है। मैंने तुम्हारे लिए मोर के पंख और एक सतरंगी छतरी खरीदी है, उसमें सितारे, रेशम के धागे और नन्ही-नन्ही घण्टियाँ लगी हैं। भोले तो घी के टीले में दबे हैं, त्रिरूवामबाड़ी कृष्ण मन्दिर, पारामेकावु देवी मन्दिर, वड़ाकुण्ठा मन्दिर के पुजारी नज़र की लड़ाइयों में पारंगत हैं। उन्हें क्या जीतना है मैंने जार्ज से पूछा तो वह कह रहा है मुझे छतरी बनाने दो आन्ना। ख़तीब से पूछा तो वह बोला रस्सी पकड़ा दो पंडाल का काम अभी बाक़ी है।

सभी धर्म के लोग लगे हैं मन्दिर की झाँकी की तैयारी में।

तुम पश्चिम के गो पुरम से आना और नाग की प्रतिमा के पास करना प्रणय निवेदन और मैं उसे ठुकरा कर लौट जाऊँगी। पीपल पेड़ पर बैठे कौवे करेंगे एक स्त्री और देव के मिलन की प्रतीक्षा। मैं चन्द नींद की गोलियाँ खाकर सो जाऊँगी। जो देखूँगी वह स्वप्न दोष नहीं है। खुबानी टपक रही है पेड़ों से...

तुम्हारी,

आन्ना

१३ फरवरी २००६

रात्रि ६:२१

बारह बरस बाद हरूफ़ टकराए इश्क़ की पंक्ति में :

मेरी आन्ना,

तुम आना अशेष शेष बनकर। तुम रंग लेकर आना, जिद्द भी। तुम कद लेकर आना, स्वर भी। तुम विचार पहन कर आना और अपने दर्शन साथ लाना। तुम्हारे साँवले रंग पर मैं मर मिटूँगा, मैं रात को तुमसे ज्यादा ख़ूबसूरत नहीं कहूँगा। तुम्हारी नन्ही-नन्ही आँखों में मैं अपनी उंगलियों से लाऊँगा काजल। तुम सिन्दूर, बिछिया, महावर का अनुशासन तोड़ कर आना। तुम मत फँसना व्रत-त्यौहार के चक्कर में, तुम न मुझसे बँधना, न जुदा होना।

मैं तुम्हारी कलाईयों पर चढ़ाना-उतारना चाहता हूँ चूड़ियाँ। इसे प्रेम का रस्म समझकर तुम हँस देना। तुम एक दिन यह रस्म भी तोड़ देना।

मैं जब ऑफिस से लौटूँ तो एक कप गुनगुनाती चाय माँगकर हँस देना। मैं जब भी भीगकर आऊँ तुम मुझसे कलम माँगना मैं काग़ज़ भी थमाऊँगा, खाली सी। तुम उसपर नज़्म लिख देना।

आन्ना तुम ज़रूर आना। अगले जन्म में ही सही मगर आन्ना बनकर ही आना। नाज़ नख़रों के साथ मुझसे मिलना। मैं माँग में सिन्दूर नहीं डालूँगा, न पैर में बन्धन।

हम चलेंगे तट पर। बैठेंगे और उड़ते फ़्लेमिंगो के झुण्ड से करेंगे अनकही बातें। तलवे के नीचे से जो नदी बहेगी तुम्हें छूकर मुझ तक आएगी। तुम कामनाओं को जीना मैं तुम्हें जिऊँगा।

तुम जो नैतिकता गढ़ोगी मैं उसे धारण करूँगा। तुम जो पंथ गढ़ोगी मैं उस पर चलूँगा।

मैं तुम्हारे लिए वह सब लाऊँगा जो तुमने कभी चाहा था पर कभी कहा नहीं। मैं वह भी लाऊँगा जो पहले चाहकर भी मैं ला न सका।

तुम अल्हड़ता से आना। मुझे सुघड़ता की नहीं कामना। तुम हँसकर आना, मैं रोकर गले मिलूँगा। तुम मिट्टी लाना, मैं धूल में रमना चाहता हूँ।

तुम हटहट धूप लेकर आना मैं साँवला होना चाहता हूँ। तुम कद लेकर आना मैं छोटा बहुत हूँ।

तुम आना सिर्फ़ मेरे लिए ही नहीं अपनी कामनाओं के लिए भी आना। सिर्फ़ मुझसे मिलने के लिए ही नहीं, खुद से मिलने भी।

मैं तुम्हें मैथिली गीत सुनाऊँगा, तुम मलयालम में लिखना एक प्रेम-पत्र। अपनी भाषा में वह सब कहना जो टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में हम कह न सके एक-दूसरे को।

जब तुमने मुझे खुद से अलग किया था मैं पुरूष था, अगर लौटा तो मनुष्य बनकर लौटूँगा और मुमकिन हो सका तो उससे भी बेहतर बनकर लौटूँगा, मैं स्त्री बनकर लौटूँगा। मैं प्रसव की ताप, गर्भ का भार और धैर्य के सुख को भोगना चाहता हूँ, मैं तुम होना चाहता हूँ। मैं तुम एक हो पाएँगे न...

ब्रह्मपुत्र के तट पर बैठकर तुमने मुझे अनिरुद्ध और उषा की प्रेमकथा सुनायी थी। तुम्हें शायद याद नहीं होगी। कल जब वहाँ गया तो मुझे कृष्ण और वाणासुर ब्रह्मपुत्र की लहरों पर युद्ध करते मिले। लहरें उफन रही थी। रक्त बह रहा था। सुखोई बेस के पास टीन की छप्पर वाली दुकान पर चाय पी बिल्कुल मीठी नहीं लगी। नीला वाला छाता टूट गया था, बारिश हो रही थी भीगता हुआ घर लौटा, घर पहले से बहुत गीला था। मैं बारह वर्षों से इसके साथ ही रोया हूँ अब दीवारें झुककर अपना कन्धा दे देती हैं, छत माथा सहलाती है और रसोई चलकर शयनकक्ष तक आ जाती है। जो कभी नहीं आती वह तुम हो और मेरी बेटियों के भोर के रियाज़ की आवाज़।

याद है सुखविन्दर की शादी में हम अबोहर गये थे। पंज पीर टिब्बा के पास कितने किन्नू खाये थे हम दोनों ने। याद है मुझे तुमने कहा था तुम खट्टे-मीठे हों किन्नू की तरह। बताओ न अबोहर को पंजाब का कैलिफोर्निया क्यों कहते हैं? कैलिफोर्निया में ही है डैथ वैली, मौत की घाटी, वहाँ बहुत गर्मी पड़ती है शायद इतनी कि यादें पिघलकर पानी और फिर भाप बनकर लौट जाएँ नक्षत्रों के पास और एक दिन संघनित होकर बरस जाएँ तुम्हारे खुले आँगन में। सुग्गापंखी हरी काई आँगन में फैल जाए फिसलन बनकर और तुम उसपर फिसलने के डर से कभी न चलो।

एक बार फिर किपशायर चलोगी मेरे साथ। माउण्ट सरमाती बुला रही है, किफिर का पृथ्वी स्टेशन भी। इस बार सर्दियों में सरमाती बर्फ से ढंक गयी थी। सालोमी और मिमी की

गुफाएँ बुलाती हैं लोकगीतों से गुँज उठती है घाटी। 'लवर्स पैराडाइज़' उदास है। बुरांश के लाल-गुलाबी फूल तुम्हें बुला रहे हैं आन्ना, बस अब आ जाओ।

तुम्हारे घर के पास वाली सड़क मुझे कभी नहर लगती है, कभी नदी लगती है, कभी समन्दर। मैं तैरना नहीं जानता, मैं डूबने से डरता हूँ।

तुम कहती रही हो डूब कर आना, उबर कर नहीं, तैर कर भी नहीं।

अगर आया तो डूबकर ही आऊँगा। अगर उबर गया तो उबरकर तुम तक ही पहुँचूंगा, तुम्हारे तट से लगकर ही रोऊँगा। आन्ना हम दोनों के बीच जो जल है वह पार करके आऊँगा। मैं आऊँगा और ज़रूर आऊँगा...

तुम्हारा,
अस्त

रात्रि १:२६
१४ फरवरी २०२१

बनावटी नींद

सृंजना शर्मा

अनुवाद : बिनोद रिंगानिया

'खा ली क्या'

'क्या खा ली क्या?'

'नींद की गोली'

'बाप रे, तुम भी न - खा तो ली। दिखायी नहीं दिया क्या,' अरुण चौधरी ने गम्भीर स्वर और थोड़े गुस्से में अभिलाषा को उत्तर दिया।

'पूछ ही तो रही हूँ। इसमें इतना गुस्सा करने की कौन-सी बात है। जाओ अब सो जाओ। मुझे थोड़ा पढ़ना है, मैं थोड़ी देर बाद सोऊँगी।'

अरुण चौधरी अपने सोने के कमरे में चले गये। वहीं उनकी पत्नी सो रही थी। वह भी नींद की गोलियों पर टिके हैं। अरुण चौधरी के आने के साथ ही बिछौने पर पसरा पड़ा सन्नाटा चटख गया। पत्नी के बिखरे बालों पर हाथ फेरकर वे भी पत्नी के पास सो गये। बिछौने पर दोनों को इन्तज़ार है अब एक रासायनिक नींद का। अरुण चौधरी की बेटी अभिलाषा चौधरी अभी स्कूल में ही पढ़ रही है। इस बार वह ग्यारहवीं जमात में गयी है, कला शाखा में। कक्षाएँ अभी शुरू नहीं हुई हैं। अपनी पढ़ाई की मेज़ पर वह किताबों को ऐसे ही उलट-पलट रही है। कोई-कोई किताब उसे उत्तेजित करती है और वह सोचती है - ओह, इतनी कठिन हो गयी है पढ़ाई। इस बार मेरा क्या हाल होगा। कल से ठीक से पढ़ना शुरू करना होगा। इसी बीच उसे याद आया उसे कुछ सोचना था। लेकिन क्या सोचना था यह उसे याद नहीं आ रहा था। किताबों को फिर से मेज़ पर सजाकर वह सोचने लगी, उसे क्या सोचना था। काफ़ी देर बाद उसे वह बात याद आ गयी जो वह सोचना चाहती थी। बात यह थी कि - वह इन दिनों सो नहीं पा रही है। उसकी नींद पहले अच्छी थी। लेकिन पिछले दसेक दिनों से बिल्कुल नींद नहीं आ रही। बिछौने पर लेटने के बाद बस करवटें बदलती रहती है। शायद अकेली सोती है इसलिए। पहले जब माँ के साथ सोती थी तब बिल्कुल स्थिर पड़े रहना पड़ता था। करवट बदलते ही माँ की नींद टूट जाती थी। लेकिन अब यह दिक्कत नहीं है। नींद नहीं आने की बात अब तक उसने माता-पिता को नहीं बतायी है।

कहीं मुझे भी तो माँ-पिताजी की तरह इनसोम्निया नहीं हो गया? जीन क्रोमोसोम या अन्य किसी कारण से? आजकल ये रातें असहनीय हो गई हैं। पता नहीं कहाँ से इस नींद न आने वाली बीमारी ने घेर

लिया है। माँ को तो बताते ही सारे घर को चिन्ता में डाल देगी - फिर चाचा लोग पूछेंगे, मामा-मामी पूछेंगे, कहेंगे - यह खाओ, वह खाओ। यह करो, वह करो। इससे तो अच्छा है न ही बताना। सबकुछ ठीक हो जाएगा धीरे-धीरे। इतना अधिक सोचने से कहीं और कोई बीमारी न पकड़ ले।

अपनी इन्हीं बातों पर विचार करते हुए उसने शयन कक्ष के आईने में एक बार अपने आप को देखा। और जहाँ तक सम्भव था यह सोचने की कोशिश की कि मैं सुन्दर हूँ, लेकिन ऐसा कर नहीं पायी। वह कभी भी अपने आप को लेकर सन्तुष्ट नहीं हुई। उसने अपने घुटने देखे - काले हैं। पहना हुआ टॉप आधा ऊपर उठाकर पेट देखा - काला है, बिल्कुल देखने लायक नहीं। उसके होठों पर एक टेढ़ी मुस्कान आ गयी। मन में आया - सुन्दर होकर क्या करना है, मुझे किसी से प्यार-व्यार तो करना नहीं है! न ही कोई लड़का मुझसे प्यार करने वाला है! इसलिए सुन्दर होकर क्या करना है? माँ तो मुझे सुन्दर कहती ही है, फिर मुझे क्या ज़रूरत है दूसरों की परवाह करने की। लेकिन कभी-कभी मेरा भी मन करता है...उँह, मन करने से क्या होता है, हर कोई तो लम्बा-चौड़ा, गोरा नहीं हो सकता, ठिगने और काले लोग भी तो रहेंगे दुनिया में!

यह सब सोचते-सोचते वह छोटे प्यारे-से बिछौने पर सो गयी। वह शायद रोयी थी...उसे शायद किसी की ज़रूरत थी...यह नींद न आने की बात वह शायद किसी को बताना चाहती थी। किसे बताएगी, किसी को तो बताना ही होगा! कौन सुनेगा उसकी बातें? वह न जाने ऐसा ही कितना कुछ सोचती रही और अपनी आँखें मूँद ली। वह सिर्फ़ सोने का नाटक कर रही थी।

अभिलाषा - वैसे तो छोटी लड़की ही है। दूसरों से थोड़ी अलग है या वह अपने आपको दूसरों से थोड़ा अलग समझती है। जैसे उसे कम उम्र लड़के-लड़कियों के बीच चलने वाली प्रेम-प्रीति की भाषा अच्छी नहीं लगती। आज तक वह अपनी उम्र के किसी लड़के के प्रति आकर्षित नहीं हुई। वह प्रेम करना नहीं चाहती। उसे चाहिए बस एक ऐसा लड़का, जो उसकी हर चीज़ में मदद करे। जब वह रोये तो वह उसे सान्तवना दे। जब वह कोई सवाल पूछे तो वह एक अलग तरह से जवाब दे। और क्या चाहिए उसे? क्या चाहिए? उसका तकिया भींग गया, क्या वह रो रही है?

अभिलाषा के पास के कमरे में उसके माता-पिता सो रहे हैं - अपनी बनावटी नींद में बेहाल। दरअसल अभिलाषा के पूरे परिवार को ही इनसोम्निया है। सभी के पास नींद की गोलियों की एक पत्ता रहती ही है। केवल अभिलाषा को इनसोम्निया नहीं है। हालाँकि यह बीमारी होने की उसकी उम्र भी नहीं हुई है। घर के सभी सदस्य उसकी नींद को लेकर सतर्क रहते हैं।

वह रो भी नहीं सकती, हँसने का भी उसका मन नहीं है। ...ओह अभिलाषा- अभिलाषा - क्यों तुम इस तरह मेरा हाथ सूखा देती हो, क्यों तुम मुझे विषाद की उन ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं में ले जाती हो? - वह अपने ही साथ बात करती है।

अन्ततः वह भी उस जाल में फँस गयी, जिसमें बहुत सारे लोग फँस चुके हैं। इस जाल से निकलने का उसके पास कोई उपाय नहीं है। एक पक्षी की तरह वह अपनी मनमर्ज़ी से उड़ना चाहती थी। वह अपनी एक दूसरी पहचान को खोजना चाहती थी। जैसे एक चिड़िया चावल के दानों के लोभ में पड़कर जाल में फँस जाती है, क्या वह भी वैसे ही कभी किसी के जाल में फँस जाना चाहती है? वह जिस जाल में पड़ना चाहती थी, क्या वह प्रेम का जाल है? क्या इसी जाल में पड़कर उसकी नींद उड़ गयी है?

वह बिस्तर से उठती है। अपने बालों को बाँधकर पर्स हाथ में लेकर वह घर से बाहर निकल जाती है। आज छुट्टी का दिन है, रविवार है। धूल से सना एक साइनबोर्ड जिस पर लिखा है - शर्मा मेडिकल। यह दवा की दुकान रात भर खुली रहती है। दुकान में रात भर बैठे रहने वाले आदमी को भी शायद इनसोम्निया है। वह नींद की गोलियों का एक पत्ता खरीदती है। घर लौटती है। माँ को कुछ नहीं कहा। नींद की गोली कैसे खानी चाहिए और इसके साइड एफेक्ट क्या है, उसने अपने सेलफोन पर देख लिये हैं और इसके बाद वह अपने प्रिय लेखक की कहानियों की किताब पढ़ने में खो जाती है।

नहीं, वह उस लड़के के प्रेम तो पड़ी ही नहीं - फिर क्यों उसे नींद नहीं आ रही? वह कैसे उस लड़के से प्यार कर सकती है? उसके साथ वह हँस-हँसकर बातें करती थी, लेकिन यह बात करने वाला क्या उसका वह लड़का है जो उसे उसकी प्रत्येक बात का अलग तरह का उत्तर देगा और उसके साथ घुल-मिलकर बातें करेगा? जिसके साथ वह हँस पायी थी, क्या उसने उसे धोखा नहीं दिया था?

तभी उसने देखा एक छाया उसकी ओर बढ़ रही है और धीरे-धीरे वह उसके पास आकर रुक गयी। उसने देखा - वह अंशुमान है।

'ओह, अभिलाषा तुम क्यों मुझे इतना गम्भीर बना देती हो, मुझे दुख है कि तुम अकेली हो, किन्तु मुझे भी निस्संग तुमने ही बनाया है अभिलाषा।'

'यह ठीक है कि हम आपस में बातें करते हैं, लेकिन मैं तुम्हारे अन्दर छुपे किसी और को खोजती हूँ। देखो, मैं चली जाऊँगी। आजकल एक तरह का डर ही लगता है, लोगों से मिलने पर दुख बढ़ जाते हैं। मैं चली जाऊँगी।' यह कहकर अभिलाषा सचमुच अंशुमान के पास से उठकर चली गयी।

अंशुमान ताकता रहा पीछे से - धीरे-धीरे जाती हुई उस छाया को। इस छाया का नाम है अभिलाषा। वह सोचने लगा उस छाया के बारे में, गहराई में डूबकर।

आजकल उसे कोई भी अच्छा नहीं लगता, लेकिन वह चाहती थी किसी को प्यार करना। निश्चय ही चाहती थी। मैं भी चाहता हूँ अभिलाषा - लेकिन कोई भी तो नहीं है। ठीक है कि सभी के साथ बातें करता हूँ, लेकिन बातें करने के बाद मैं अपने आपको पाता हूँ बिल्कुल निस्संग। और तब सिर्फ़ तुम्हीं रहती हो, पता नहीं क्यों, देखो न अभिलाषा, मेरी आलमारी में अनगिनत नींद की गोलियाँ हैं, लेकिन मैं भी बनावटी

नींद लेना नहीं चाहता। ओह, अभिलाषा हम कितने अकेले हैं। वैसे मुझे तुम निस्संग नहीं लगती, तुम्हारे जंग लगे हाथ, जंग लगी आँखों की भी भारी कीमत है, तुम इतनी पोस्ट मॉडर्न हो - फिर भी क्यों तुम अपने आपको अकेली समझती हो। मेरे सूखे हाथ को और सूखा बनाने आयी हो तुम, मुझे अच्छा लग रहा है। तुम्हारे हाथों का जंग मुझे दे दो तो भी मुझे बुरा नहीं लगेगा।

दरवाज़े पर किसी ने खटखटाया है। इतनी मीठी है यह खटखटाने की आवाज़। दरवाज़ा खोलकर जिसे अंशुमान ने देखा वह थी जंग लगी लड़की - अभिलाषा। उसके प्यारे काले रंग की पोशाक में उसका सौन्दर्य और भी खिल उठा था। इसका मतलब है उसे पता ही नहीं चला था कि उसके पीछे-पीछे वह छाया भी चली आयी थी।

दरअसल वह और अभिलाषा स्कूल में एक साथ पढ़े थे। उनका सम्पर्क अकेलों की तरह था। जब वे बातें करते थे - दोनों एक-दूसरे को आसमान उपहार देते थे और बाद में फिर तनहा हो जाते थे।

'अरे अभिलाषा, तुम लौट आयी? मैंने सोचा था तुम घर पहुँच गयी होगी। आओ, आओ।'

'तुम्हारे साथ दो-चार बातें करने के लिए फिर से लौट आयी।'

'अच्छा किया, क्या पीओगी - चाय या कॉफ़ी?'

'कुछ नहीं पीऊँगी, चलो सिर्फ़ बातें करते हैं। मैं असल बात पर आती हूँ, तुम्हें डिस्टर्ब नहीं करना चाहती, समझे। मैं सिर्फ़ तुमसे एक छोटा-सी मदद चाहती हूँ। दरअसल आजकल मुझे नींद नहीं आती। इतना फ्रस्ट्रेशन है कि कल फार्मेसी से नींद की गोलियाँ ले आयी। बताओ न क्या करूँ? तुम तो जानते हो हमारे घर में सभी को इनसोम्निया है। मुझे यह बीमारी नहीं थी, लेकिन अब पिछले पन्द्रह दिनों से मुझे भी यह बीमारी लग गयी है। माँ-पिताजी को बताऊँ तो वे लोग सारी दुनिया को बताते फिरेंगे और फिर मुझे अस्पताल भी भेज देंगे। इसीलिए तुम्हारे पास आयी हूँ। पता है मैं तुम्हारे सिवा और किसी को यह बात नहीं बता सकती - कौन समझेगा। क्या पता कौन क्या सोचेगा।...'

'इस इनसोम्निया के भी कितने ही रंग हैं। इसने मुझे प्रेम में धकेल दिया था बिना मेरे जाने, तुम भी प्रेम में पड़ चुकी हो जैसा लगता है। मैं भी किसी को खोजता फिरता हूँ और अन्त में मेरे हाथ से हाथ मिलाती है नींद और मैं बिस्तर पर पड़ा रहता हूँ और धीरे-धीरे इनसोम्निया के ग्रास में चला जाता हूँ। मैं तुम्हारे साथ ही हूँ चिन्ता मत करो।'

'ठीक है, मैं समझ गयी, तुम क्या कहना चाहते हो, आज चलती हूँ, कभी हमारे घर आना। आना, ठीक से बात करेंगे। तुम्हारा हाथ सूखा है, मेरा हाथ भी सूख गया है, चलती हूँ, बाय..'

अभिलाषा तुरन्त वहाँ से निकल गयी। कारण वह प्रेम की बातों को आगे नहीं बढ़ाना चाहती थी। जब वह दरवाज़े से पार हो रही थी कि उसे पीछे से देखते हुए अंशुमान ने सोचा - तुम कितनी सब जैसी हो अभिलाषा।

नहीं सो पाने वाले दो प्राणियों की थकान से जैसे पृथ्वी भी दिन भर थकी रही, इसके बाद शाम आयी और शाम के आते ही दुश्चिन्ताओं का जन्म होता है - अंशुमान, अभिलाषा, अभिलाषा के माता-पिता, शायद पृथ्वी के कितने ही लोगों के मन में। आलमारी खोलकर वह देखता है वहाँ सैकड़ों नींद की गोलियाँ भरी हैं। जो उसे इतना दुख देती हैं, इतना दुख देती हैं। इसके बाद वह बिस्तर पर पड़े अजस्र विषाद और नीरवता के साथ सोने का प्रयास करता है। नहीं, उसे नींद नहीं आएगी। वह मुँह ही मुँह में बड़बड़ाता है, उठता है और अभिलाषा को फ़ोन मिलाता है। अब तक चाँद की रोशनी कम हो चुकी है।

'अभिलाषा, मैं अंशुमान बोल रहा हूँ। मैंने कितना सोचा तुम्हें बताऊँ या न बताऊँ, लेकिन तुम्हारी छटफटाहट देखकर मुझसे रहा नहीं जाता, तुम और मैं, हम दोनों ही इनसोमनिक हैं और हमारा इनसोम्निया का एक ही साझा आसमान है। मैं यह नहीं कहता कि मैं तुमसे प्यार करता हूँ, लेकिन तुमने प्यार से भी ऊँची जो निस्सगंता-नीरवता पाल रखी है, उसे मैं प्यार करता हूँ। तुम्हारे प्रश्नों का दूसरी तरह का उत्तर देने के लिए भी मैं तैयार हूँ। मेरे लिए तुम्हीं इनसोम्निया हो, जिस इनसोम्निया को मैं प्यार करता हूँ, जिस इनसोम्निया को मैं हमेशा अपने साथ लिए घूमूँगा। और तुम भी इस इनसोम्निया को प्यार करना सीख लो - अभिलाषा, आफ्टर ऑल हम दोनों उस एक ही जाल में बन्दी हैं। तुम्हारी तरह मैं भी इस जाल से बाहर निकल सकता। नींद की गोलियाँ मत खाना, बनावटी नींद से इनसोम्निया बहुत सुन्दर है...बहुत सुन्दर है अभिलाषा। तुम जैसे ज़ंग लगी सुन्दर लड़की हो, इनसोम्निया भी ज़ंग लगी सुन्दर नींद है, समझी।'

आनन्द भोग मॉल

आशुतोष पोद्दार

मराठी से अनुवाद : व्यंकटेश कोटबागे

आनन्दभोग मॉल नाटक का प्रथम रंगमंच पर प्रदर्शन २५ अप्रैल, २००६ को हुआ था। रंगमंच, पूना के इस प्रयोग के शिल्पकार थे-

पुरुष	:	गिरीश कुलकर्णी
स्त्री	:	आनेसा दाते
प्रकाश योजना	:	प्रदीप वैद्य
नेपथ्य	:	रश्मी रोडे
दिग्दर्शक	:	मोहित टाकलकर
निर्मिति और संयोजन	:	आशीष मेहता

पात्र

पुरुष और स्त्री - दोनों की आयु तीस के आसपास

दृश्य पटल

(रंगमंच पर हल्का प्रकाश। बेडरूम। तीस के आसपास की युवती हाथ में दूध का गिलास लेकर खड़ी है। उसने कसकर साड़ी पहनी है। बाल खुले छोड़े हैं और भाल पर आये बाल, गजरा लगाकर ठीक किये हैं। तीसी का युवक मोबाइल पर 'मर्डर' सिनेमा का 'ये भीगे होठ तेरे' गाने की विडियो क्लिपिंग देखते हुए करवटें बदलते हुए लुढ़क रहा है। उसकी ओर ध्यान नहीं। पलभर वह नाराज़ होती है लेकिन फिर साड़ी का पल्ला उसके सिर पर डालते हुए उसका ध्यान आकर्षित कर लेती है। वह उसकी ओर देखता है और उसका चेहरा झुक जाता है। मोबाइल बगल में रखता है।)

पुरुष : आज भी नहीं वेश क्या?

स्त्री : अब क्या हुआ?

पुरुष : (उपहास के साथ) क्या हुआ?

स्त्री : तेरा दिया हुआ परफ़्यूम लगाकर आयी हूँ।

पुरुष : परफ़्यूम से क्या होता है?

स्त्री : कुछ तो लगे इसीलिये यह साड़ी, ब्लाउज़, ब्रेसियर और परफ़्यूम लाया था। तू ही बोला था इससे 'अट्रेक्शन' होगा।

पुरुष : केवल परफ़्यूम से क्या होता है?

स्त्री : तू मुझे हमेशा देखता रहता है इसलिये तेरे को कुछ भी लगता नहीं होगा। यह सब दूकान के बाहर लगाये हौओं पर अच्छा दिखता है।

पुरुष : इसलिये ऐसा नहीं कि तू ऐसी ही दिखे। (झपटकर फ़ोन की ओर जाता है। 'मर्डर' का 'ये भीगे ओठ तेरे' गाना शुरू करता है।) देख, यह मल्लिका, कैसी दिखती है। तेरी साड़ी और ब्लाउज़ उसके पहने जैसा है। आ, यहाँ आ जा (वह बेड पर खड़ी रहती है।) इधर देख। (वह उसके पल्ले की पिन निकालता है। लो जेक ब्लाउज़ दिखता है। उसकी पीठ खुली दिखती है। वह साड़ी को पेट के नीचे की ओर खींचने की कोशिश करता है। लेकिन साड़ी टाईट बँधी रहने से वह नीचे खींच नहीं पाती। वह पस्त होता है।) साड़ी को कैसे लपेटा है? (सेल फ़ोन की ओर देखते हुए।) देख इसने कैसे ओढ़ी है।

स्त्री : ऐसा क्या? रुक जा मैं आयी (वह उतरकर जाने लगती है।)

पुरुष : अब अन्दर क्या रखा है (वह सुनती नहीं। वह 'ये भीगे होठ तेरे' सुनता रहता है। कुछ देर में वह आती है। पल्ले में शरीर लपेटा है। बेड पर खड़ी रहती है। सिनेमा जैसी शैली में पल्ला नीचे लेती है। मल्लिका जैसे दीखने का प्रयास करती है। उत्तेजक हाव भाव करती है। वह उन्हें ठीक से नहीं कर पाती। उसके हाथ के सैल का गाना अधिक ज़ोर से चलने लगता है। गाने की ओर देखते हुए वह (अरे मुझे भड़कता दिखता है। उसके माथे पर चिबुक पर धीरे हाथ फेरता है।) मल्लिका जैसी ही।

स्त्री : तू जैसी चाहता है वैसी?

(एकाध हिन्दी सिनेमा के रोमांटिक दृश्य की तरह वह उसके शरीर पर हाथ फेरता है। उसने ट्रेक सूट पहना है। दोनों ही बेकार दिखते हैं।)

पुरुष : (बालों पर हाथ फेरते हुए) शादी को पाँच साल हो गये फिर भी तू वैसे ही दिखती है। बिल्कुल कोरी।

स्त्री : सच? (वह धीरे से आँखें मूँदती है।)

पुरुष : (अस्वस्थ होते हुए) कितना गरम हो रहा है न?

स्त्री : लाईट गुम हुई है।

पुरुष : लोड शेडिंग!

स्त्री : कल भी गयी थी।

पुरुष : धत् तेरी।

स्त्री : (ओठों पर हाथ रखते हुए) शुद्द

पुरुष : (झुंझलाहट के साथ) कितनी गरमी हो रही है।

स्त्री : ठहर, ... खिड़की खोलती हूँ।

(दाँयी ओर के कन्धे पर से कमर पर पल्ला लेती है और खिड़की का दरवाज़ा खोलती है। बिस्तर के पास मोमबत्ती जलाकर रख ली है। मोमबत्ती के प्रकाश में दोनों के चेहरे साफ़ दिखते हैं। वह उसकी ओर देखते हुए प्रभावित होता है।)

पुरुष : आज कितनी सुन्दर दिख रही हो।

स्त्री : (लजाते हुए) सच?

पुरुष : (हाथ में मोमबत्ती लेते हुए) देख कितनी सुन्दर! पीले सोडियम दोपहर के प्रकाश में गाड़ियों के हेड-लाइट्स जैसे चमकते हैं, वैसी आँखें चमक रही हैं। (उसके हाथ पर धीरे से उंगलियाँ घुमाता है।) परसों गये थे उस पूना के मॉल में तुझे ऐसा खड़ा कर दिया जाए तो कैसी दिखेगी... तूफ़ान।

स्त्री : हट। लेकिन वहाँ क्या-क्या था, नहीं?

पुरुष : यह साड़ी वहीं की है न?

स्त्री : वहाँ साड़ी ही मिली है क्या? बाक़ी सब भी वहाँ से लाये हैं।

पुरुष : (शरारत के साथ) और क्या-क्या लाये, दिखा?

स्त्री : (उसे बाजू हटाते हुए) मल्लिका को देखते मन नहीं भरा क्या?

पुरुष : (पास खींचते हुए) मॉल की तेज़ खुशबू यहाँ भी आती है।

स्त्री : मॉल में क्या कमी है। (वह परफ़्यूम को जोर से सूँघती है।) इस क्वालिटी का परफ़्यूम, इधर मिलने का नहीं। (विराम)

पुरुष : (स्त्री की ओर देखते हुए) आयब्रोज़ करने गयी थी न? (फिर से हाथ फेरते हुए) व्हॅक सिल करते समय बड़ी पीड़ा होती है क्या?

स्त्री : दुखता है लेकिन इस बार इतनी तकलीफ़ नहीं हुई। नये पार्लर में गयी थी। पहलेवाली बहुत ज़ोर से करती थी।

पुरुष : अभी की कैसी है?

स्त्री : ठीक है।

पुरुष : पहले जैसी वाली?

स्त्री : यानी?

पुरुष : पहले वाली स्त्री जैसी ही?

स्त्री : स्त्री क्या अलग होती है? क्या पूछ रहे हो?

पुरुष : (हाथ में हाथ लेते हुए) ऐसी ही तुम्हारी तरह गरम?

स्त्री : (चुटकी काटते हुए) हट्...

पुरुष : (इतराते हुए) अरे जनरल नॉलेज।

स्त्री : अभी क्या एमपी.एस.सी. की परीक्षा में बैठना है?

पुरुष : (बालों में हाथ फेरते हुए)... सचमुच आज सुन्दर दिख रही हो।

स्त्री : तुझे अभी दिखायी दिया क्या?

पुरुष : मीठी दिखती हो।

स्त्री : कैसे शब्द उचार रहे हो (पास जाते हुए) कितने दिनों के बाद पास आ रहे हैं।

पुरुष : हमने तय किया है, ताक़त के इकट्ठा होने पर करने का।

स्त्री : और चीनी कॅलेण्डर फ़ॉलो करने का।

पुरुष : कामयाबी मिल गयी तो ठीक।

स्त्री : आयेगा न बी.पॉज़िटिव।

(वह उसे पास लेता है। रोमान्स करने लगते हैं। धीमा संगीत बज रहा है।)

पुरुष : (झट से बाजू होते हुए) हम ऐसा करें क्या?

स्त्री : अब क्या?

पुरुष : सुनो मैं क्या कहता हूँ-

स्त्री : (बीच में ही) हम क्या कर रहे हैं उस पर ध्यान दे ना।

पुरुष : (स्त्री के कहने की ओर ध्यान न देते हुए) मुझे उस नाटक को लिखकर पूरा करना है।

स्त्री : अरे, इतने दिनों तक हम ताकत इकट्ठा करने रुके हैं।

पुरुष : उसी ताक़त के इस्तेमाल से लिखना है। हमारे नाटक का दिन पास आ गया है।

स्त्री : अरे, लेकिन चीनी कॅलेण्डर के अनुसार आज का दिन बच्चा होने के किये महत्व का है। बता देना तुम्हारे मेडिकल एसोसिएशन के लोगों को।

पुरुष : अरी, हम चीनी कॅलेण्डर का इस्तेमाल नाटक लिखने के लिए भी करेंगे।

स्त्री : फिर मेरा क्या काम?

पुरुष : तुझे बच्चा होने के लिये मेरा जो काम होगा वही।

स्त्री : यानी अपने को जुड़वा होंगे।

पुरुष : आयडिया! मस्त आयडिया!

स्त्री : विज्ञान का कमाल, डॉ. आनन्द राव पाटिल को जुड़वा... बच्चा और नाटक।

पुरुष : याहु...

स्त्री : फिर दोनों के क्या नाम रखेंगे?

पुरुष : उसमें बहुत देर है।

स्त्री : अभी तय करेंगे (अगर से) बताओ ना...

पुरुष : आज मैंने इतना किया है। नाम का तू देख ले।

स्त्री : दोनों के अच्छे संस्कार होंगे।

पुरुष : वह तो होंगे ही।

स्त्री : फिर यहाँ नहीं रहना चाहिये।

पुरुष : फिर अपना सब छोड़कर कहाँ जाएँ।

स्त्री : पूना जायेंगे। वहाँ उन पर मौके ज़्यादा कहानी हैं।

पुरुष : ये बाई, उस गाँव की छोड़कर बोले।

स्त्री : सब अपना ही क्या चलाने का।

पुरुष : ओ.के. तू सोशॉलॉजी की प्रोफ़ेसर है तुझे ही मालूम होगा उसे तू देख।

स्त्री : थैंक्स डॉक्टर, अरे, लेकिन नाम 'न' से रखेंगे।

पुरुष : अब 'न' में और क्या है?

स्त्री : हमें माँ देवी ने बताया है, 'न' लकी है इसलिये।

पुरुष : पहले बच्चे तो होने दे।

स्त्री : वह हुए बगैर रहता थोड़े ही है।

पुरुष : किये बगैर होने वाले हैं थोड़े ही (हाथ फैलाता है। वह हाथ में हाथ देती है। उसे पास लेता है। 'ये भीगे होठ तेरे' गाना एडजस्ट करता है। गाना शुरू कर मोबाईल बाजू में वैसे ही चालू रखता है और आगे आता है।)

स्त्री : फिर यही गाना क्यों लगाते हो?

पुरुष : हमारी मल्लिका है वो प्रोफेसर बॉस!

स्त्री : और मैं?

पुरुष : और तू भी तो है ही ना।

स्त्री : उसमें इतना ख़ास क्या है?

पुरुष : अॅट्रेक्टिव है वह।

स्त्री : वह या उसकी बॉडी?

पुरुष : कह ले।

स्त्री : फिर मेरी ओर कितना देख लेते हो?

पुरुष : यह क्या पूछने का है। तेरी ओर तो देखता हूँ।

स्त्री : पर कितना?

पुरुष : ऐसा! तो कुछ मत पूछ।

स्त्री : नहीं बता। कितना देखते हो?

पुरुष : अरे ये क्या बला। लेकिन कब देखता हूँ?

स्त्री : इस तरह बेड पर आने पर?

पुरुष : यहाँ तेरी ओर देखते बैठा रहूँ क्या?

स्त्री : पहले मेरा प्रश्न। कितनी देर देखते हो... देखते हो ठीक है। मुझ पर कितनी देर कॉन्सन्ट्रेट करते हो?

पुरुष : काफ़ी देर तक।

स्त्री : काफ़ी देर यानी कितनी देर?

पुरुष : मैं क्या गिनती करते रहता बैठूँ?

स्त्री : याद कर बता।

पुरुष : (सोचते हुए) बीस मिनिट।

स्त्री : बीस?

पुरुष : पन्द्रह

स्त्री : याद कर।

पुरुष : ठीक है मान लेंगे दस मिनिट।

स्त्री : (सोचते हुए) दस मिनिट?

पुरुष : दिखाता हूँ चल।

स्त्री : (इतराते) रुक जा। सुन।

पुरुष : अब क्या है? कितना और क्या कॉन्सन्ट्रेशन करता हूँ उसे करके ही दिखाता हूँ।

स्त्री : नहीं नहीं। मुझे बता कि उस कॉन्सन्ट्रेशन के दस मिनिट में मैं ही रहती हूँ?

पुरुष : (गम्भीर होते हुए) अब ये क्या चलाया है?

स्त्री : फिर कब बात करें?

पुरुष : फिर से किसी समय। चीनी कॅलेण्डर के मुताबिक़ आज की कोशिश महत्व की है।

स्त्री : पहले कह रही थी तब तूने नाटक का विषय निकाला–

पुरुष : (आगे बदलकर) हाँ बोल।

स्त्री : (वह आगे आते हुए) फिर बता दे मुझे।

पुरुष : क्या?

स्त्री : कॉन्सन्ट्रेशन के दस मिनिट में क्या मैं ही रहती हूँ?

पुरुष : (विचार करते हुए) मल्लिका भी रहती है।

स्त्री : मल्लिका या मल्लिका की बॉडी?

पुरुष : बॉडी।

स्त्री : उसकी बॉडी? (हाथ से कमर की फ़िगर दिखाते हुए) और मैं।

पुरुष : तू भी तो रहती है।

स्त्री : दोनों कैसे आते हैं? मैं और मल्लिका की बॉडी?

पुरुष : (झट से सम्हलते हुए) अरे ऐसा नहीं कि हमेशा ही ऐसा होता है। हर पहल बदलता है। पहले उसका फ़िगर दिखायी देता है, फिर उसकी हरकतें, फिर उसके उड़नेवाले कपड़े, फिर तू, फिर वह, फिर तू, आख़िर में तू।

स्त्री : हं (अपने से) कहीं मैं रहती हूँ, यह मेरा नसीब। (लम्बी साँस) फिर तू कहाँ रहता है?

पुरुष : (सहजता से) वहीं।

स्त्री : सच्ची?

पुरुष : सच्ची। मेरा शरीर मुझे वहाँ रखता है। मेरा शरीर रोमांच का अनुभव करता है। उसकी बॉडी मेरी बॉडी को रोमांचित करती है। (शान्ति) वरन, हर बार स्पर्श करना और उसी बॉडी के साथ सोने में क्या रोमांच होगा।

स्त्री : (लम्बी साँस छोड़ते हुए) क्या सभी पुरुषों को ऐसा होता होगा?

पुरुष : मुझे दूसरों का भला क्या मालूम होगा।

स्त्री : दोस्त, दोस्तों में ऐसा सब बोलते रहे होंगे ना!

पुरुष : फिर क्या– बोलते हैं न... क्या क्या बताते रहते हैं (.....)

स्त्री : (वह अपने विचारों में मशगूल) फ़िगर में इतना क्या रहता है?

पुरुष : बहुत कुछ रहता है। क्या पुरुष का फ़िगर तुझे उत्तेजित नहीं करता?

स्त्री : (लजाते हुए) ऐसा कुछ मत पूछना।

पुरुष : (आगे आते हुए) मुझसे सब निकाल लेती हो और तू कुछ नहीं कहती।

स्त्री : कितना बताती हूँ... (पॉज़) तुझसे क्या छिपाना है? (पॉज़) पर (विचार करते हुए) किसी का शरीर मुझे उत्तेजित नहीं करती।

पुरुष : ये कैसा सम्भव है। कुछ तो लगता होगा।

स्त्री : किसी का शरीर की ओर देखकर सच कुछ लगता नहीं।

पुरुष : कैसे क्या? सच है?

स्त्री : मल्लिका की ओर देखकर तुझे वैसे लगता है इसलिए वह मुझ पर मत चिपकाना।

पुरुष : लेकिन पुरुषों में इतनी वैरायटी रहती है।

स्त्री : (विचार करते हुए) देखने का मन करता है।

पुरुष : (बीच में ही) क्या? देखने को मन करता है (पॉज़)

स्त्री : क्या देखने को मन करे! बनियान और अंडरपेन्ट? लो किया बांधकर, लुंगी लपेटकर या चड्डी पहनकर सभी ओर कैसे नंगे घूमते रहते हैं। इसे देखकर कभी तो सीख जाती हूँ। स्त्रियाँ ज़्यादातर ढंकी रहती है इसलिये मल्लिका जैसी एकाध नंग-धड़ंग स्त्री तुझे उत्तेजित करती होगी। बाद में तुझे भी मेरी तरह लगेगा। सच बताती हूँ। तेरे बगैर और किसी के बारे में ऐसा सोचना भी मुश्किल रहता है।

पुरुष : मर्यादा।

स्त्री : मर्यादा वगैर कुछ नहीं। कुल मिलाकर वह अनुभूति नहीं होगी। तेरे बारे में लगता है लेकिन तू जो कहता है वह शरीर का उत्तेजित होना वग़ैरा ऐसा कुछ ज़्यादा नहीं। पल भर के लिये तेरे बारे में लगता है लेकिन वह उतना ही। आगे जो करना है वह तू ही करता है। (दीर्घ शान्ति)

स्त्री : (लेटते हुए) अब रिलेक्स महसूस हो रहा है।

पुरुष : रिलेक्स?

स्त्री : (प्यार से पास जाते हुए) हम कितनी खुलकर बातें कर रहे हैं।

पुरुष : चीनी केलेण्डर के अनुसार आज दिन है इसलिए?

स्त्री : हाँ। चीनी कॅलेण्डर और माँ देवी की महिमा।

पुरुष : लेकिन कहीं भी अट्रेक्ट मत होना।

स्त्री : कुछ भी बकबक मत कर। खुलकर बात करने पर ऐसे टोकने के लिए उसका उपयोग करने वाले हो तो मैं फिर बात ही नहीं करूँगी।

पुरुष : ओ के ओके। तो हमारे बीच में खुलापन का होना ख़ास है। अब रिलेक्स लगता हो तो आँखें बन्द कर लेंगे। (उसकी ओर देखते हुए) आँखें बन्द कर। शान्त हो जायेंगे।

स्त्री : (आँखें बन्द कर) जो हो रहा है उसे ग़ौर से देखेंगे।

पुरुष : हम दोनों ही नये बने हैं। बिलकुल नये।

स्त्री : शरीर अजनबी। यह दुनिया नयी। आकाश नया। पानी नया।

पुरुष : दोनों श्वास लेंगे। छोड़ देंगे। नयी निर्मिति के लिये अभी का क्षण जी लेंगे। इसके लिये साँस ले लेंगे।

स्त्री : ओम् माँ देवी। ओम् तत सत्...

('ये भीगे होठ तेरे' गाना शुरू होता है और अँधेरा छा जाता है।)

(अंधकार)

दृश्य दूसरा

(स्त्री वृत्तान्त पढ़ रही है। उस पर कुछ निशाने लगा रही है। टिप्पणियाँ बना रही है। पुरुष बाहर से आता हुआ दीखता है। उसी की ओर देखता है। उसकी पीठ पीछे बैठता है। उसे पास लेता है। स्त्री प्यार से उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करती है। वह स्त्री के बालों में हाथ फेरते हुए बात करता है।)

स्त्री : (प्यार से छुटकारा पाते हुए) मुझे काम करने दो।

पुरुष : कितना काम करोगी।

स्त्री : हाँ (वह उसकी पढ़ाई में कुछ रोमांटिक हँसी-मज़ाक़ करके व्यंग लाने का प्रयत्न करता है। उससे वह छुटकारा कर लेते हैं) चाय बना लूँ?

पुरुष : मेडिकल एसोसिएशन में पीकर आया हूँ।

स्त्री : आधा कप?

पुरुष : (सौम्य हंसते हुए) नहीं चाहिए। (बूट निकालते हुए) तेरा क्या चल रहा है?

स्त्री : एड्स देख रही हूँ (पेपर दिखाते हुए) यह साईट देख कैसी लगती है? देख, पीछे कितनी झाड़ी हैं।

पुरुष : फ्लैट लेने का ठान लिया लगता है।

स्त्री : (वह पेपर का पन्ना बाजू में रखते हुए) पिछले साल कितना टैक्स दिया। जल्दी कर्जा ले लेंगे तो जल्दी लौटा पायेंगे भी।

पुरुष : यानी यहीं रहने का?

स्त्री : (पेपर समेटते हुए) फिर जाना कहाँ?

पुरुष : तू ही तो पूना जाने की कह रही थी।

स्त्री : लगता है रे। फिर लगता है मेरी यहाँ की पक्की नौकरी, तेरी प्रेक्टिस, पूना में यह सब थोड़े ही मिलनेवाली है। और इसके अलावा आई, बाबा का क्या करें, यह प्रश्न ही है (वह एकदम शान्त)

पुरुष : इसमें इतना सोचने का क्या है। उन्हें भी साथ ले जायेंगे। (शान्ति)

स्त्री : गाँव छोड़कर वे कहाँ अपने साथ आनेवाले हैं।

पुरुष : ले जाने का।

स्त्री : सब कॉम्पिलीकेटेड। अलावा दूर जाने पर प्रॉपर्टी कॉम्प्लीकेशन्स? पूना का रहने दो। जैसे भी हो यहीं रहेंगे और यहाँ अब कितनी तरह-तरह की कम्पनियाँ आ रही हैं। जगह की कीमतें बढ़ रही हैं (पेपर का विज्ञापन पढ़ते हुए) यह देख 'आशियाना रेसिडेन्सी' विशाल परिवेश, स्विमिंग पूल शहर के बीचों बीच। जिम भी है। दस मिनिट की दूरी पर स्कूल, कॉलेज भी हैं।

पुरुष : कौन सी रेसिडन्सी?

स्त्री : आशियाना।

पुरुष : मोह मेडल दीखता है।

स्त्री : किससे?

पुरुष : नाम से।

स्त्री : हट।

पुरुष : विज्ञापन में हरा रंग है न ?

स्त्री : यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है।

पुरुष : वहाँ होगा नहीं पर उधर के चौराहे के घर का नाम आशियाना मंज़िल नहीं क्या?

स्त्री : इसलिए ऐसा तो नहीं कि केवल मुसलमान ही घर को ऐसा नाम देते हैं?

पुरुष : वह भी सच है। लेकिन मुस्लिम कॉन्ट्रॅक्टर कहाँ होते हैं?

स्त्री : वह ठीक है लेकिन रिस्क लेने की ज़रूरत नहीं।

पुरुष : पूरे विचार के साथ सब शुरू करें।

स्त्री : अपार्टमेंट का नाम क्या हो- वेंकटेश विला, गणेश अपार्टमेंट नहीं तो महालक्ष्मी टावर्स।

पुरुष : (वह आगे आकर देखता है) यह देख (दिखाते हुए) ड्रीम पार्क- पूरे परिवार के लिए परिपूर्ण, घर नहीं स्वर्ग, ३/२ बी.एच.के. प्रशस्त पार्किंग।

स्त्री : वाव! फिर, वास्तुशास्त्र के नियम?

पुरुष : इतना उसमें क्या देखना होता है?

स्त्री : वह शास्त्र है।

पुरुष : उसमें क्या शास्त्र है?

स्त्री : माँ देवी कहती है वह सभी शास्त्र हैं जो विश्वास के साथ किया जाता है।

पुरुष : (उपहास के साथ) जय माँ देवी (विषय बदलते हुए) मुझे एक बात बता, हम टू बी.एच.के. फ़्लैट में ही रहेंगे?

स्त्री : इतना तो नहीं चाहिए? अपने लिये और अपने एक बच्चे के लिये।

पुरुष : एक ही बच्चा?

स्त्री : याने?

पुरुष : थ्री बी.एच.के. देखेंगे। दो बच्चे तो चाहिये।

स्त्री : अरे बाबा।

पुरुष : एक लड़का और एक लड़की से घर में बेलेन्स रहता है।

स्त्री : बड़ा महत्वकांक्षी है।

पुरुष : मेरी माँ को दो लड़कियाँ, उसके बाद हम दोनों।

स्त्री : तुम्हारी माँ को सल्यूट।

पुरुष : (इतराते हुए।) दो बच्चे चाहिये ही।

स्त्री : बच्चों का बाद में देखेंगे। पहले फ़्लैट।

पुरुष : (अपने से) अपने बच्चों के संस्कार होने चाहिए। (उसकी ओर देखते हुए प्यार से कहता है) हमारे अम्मा की जहाँ तबादला होता वहाँ वे ब्राह्मण पड़ोस को देखते थे। (मुस्कुराते हुए) कहते थे संस्कार अच्छे होते हैं।

स्त्री : इसलिये मेरा पड़ोस क्या ? (वह हँसता है)

लेकिन मुझसे प्रेम क्यों करने लगे इसे एक बार तो बता दो।

पुरुष : अब पूरी हो गयी न रामायण।

स्त्री : (प्यार से) नहीं एक बार बता न।

पुरुष : (लाड़ से) तू भाती थी।

स्त्री : क्यों?

पुरुष : अब क्यों पूछ रही है?

स्त्री : यूँ ही।

पुरुष : (विचार करते हुए) अच्छी दिखती थी इसलिये भाती थी।

स्त्री : और?

पुरुष : मीठी बात करती थी।

स्त्री : यानी कैसी?

पुरुष : अब कैसे बताऊँ? बहुत दिन हो गये।

स्त्री : (प्रेम से) इसलिये वह भूलने वाले हो क्या?

पुरुष : कैसे बताऊँ? (सोचते हुए) उस समय तू ऐसे ही सहलाते सहलाते बात करती थी। हम कितने ज़ोर-ज़ोर से बात करते थे। लेकिन अन्त में पता भी नहीं चलता कि तू मीठी बात करके अपनी बात कब चला लेती और कब अपना साध लेती।

(मोबाइल पर एस.एम.एस. आने का रिंग टोन। कण्ठस्थ हुआ क्या?) अरे धत्-तेरी (गड़बड़ी से उठता है। बैग की ओर जाता है। स्क्रिप्ट निकालता है और पढ़ने लगता है।) निकली रेलगाड़ी निकली। छुक-छुक-छुक निकली रेलगाड़ी। यहाँ के पसीने का कोयला, संस्कृति की पटरी, चलाती है ग्लोबल की लड़की। निकली आरोग्य की गाड़ी, छुक-छुक-छुक निकली आरोग्य की गाड़ी।

स्त्री : वही बार-बार कितना पढ़ोगे?

पुरुष : याद ही नहीं होता।

स्त्री : तू ही लिखता है और तुझे ही कण्ठस्थ करना पड़ता है?

पुरुष : हम प्रध्यापक नहीं जो घण्टों भर बिना पढ़े भाषण करें... और मैं जो लिखता हूँ उसे नाटक से बनाना यानी मदन होने का समय आता है।

स्त्री : एक जगह बैठ जाओ और पढ़ो। याद कर। रिहर्सल कर।

पुरुष : कहाँ इतना समय मिलेगा?

स्त्री : आज क्लिनिक मत जा।

पुरुष : (हँसते हुए) क्या पेशेंट ऐसे घर में बैठने देंगे? थोड़ी देर हो गयी तो चार फोन आयेंगे। आज अब ज़रूर करने की सोच रहा था पर महानगर पालिका के ऑफ़ीसर्स के साथ दोपहर में मीटिंग है। कर्मचारी की बस्ती पर हमारे एसोसिएशन द्वारा किया गया रिपोर्ट उनके साथ बैठकर फ़ायनलाइज़ करना है।

स्त्री : गाँव की व्यवस्था करनी हो तो ये सब होगा ही।

पुरुष : सब हमारे सम्बन्धी है... चार घण्टे नौकरी करना काफ़ी नहीं होता।

स्त्री : समाज कार्य... कुछ भी हो, आजकल तुम्हारी एसोसिएशन चार्ज्ड हुई होगी न? अमेरिका के लोग काम देखने आनेवाले हैं...।

पुरुष : बस, सभी उत्साह से भरे हैं।

स्त्री : पच्चीस-तीस लाख तो मिलेंगे न! और इसके अलावा अमेरिकी ट्रीप।

पुरुष : यस। अमेरिका! चौहान कल से बता रहा था कि अमेरिका जाते समय क्या-क्या कपड़े ले जाने है। इसकी लिस्ट बना रहा हूँ।

स्त्री : अमेरिका कॉलिंग। अमेरिका जाने के लिए कितनी झंझटें?

पुरुष : केवल अमेरिका ही नहीं। पच्चीस लाख क्या सहज मिलनेवाले हैं?

स्त्री : इसे मत बताना। तुम्हारी एसोसिएशन अमीर डॉक्टर लोगों की है। पच्चीस लाख क्या सहज ही मिलेंगे।

पुरुष : लेकिन समाज में सम्मान मिलेगा प्रोफेसर बाई। अमेरिका की किसी फ़ंडिंग एजन्सी द्वारा मदद मिलने पर लोगों को अभिमान लगेगा। अलावा इसके छोटे गाँवों के प्रश्न विश्व के स्तर पर दर्ज होंगे। तुम्हारे कॉलेज में समाज कार्य के एन.एस.एस. के कार्यक्रम में पथनास्य प्रस्तुत करते हो उतना ही काम यहाँ नहीं होता।

स्त्री : तुम ग्रेट हो बाबा। हमें सर्टिफ़िकेट के लिए आये हुए लड़कों को लेकर यह सब करना पड़ता है।

पुरुष : और प्राध्यापकों को भी कहाँ सामाजिक क्रान्ति करनी होती है।

स्त्री : तुम्हारा काम बड़ा है। भारत के प्रश्न के लिए अमरिका का पैसा। कुछ भी हो रिटर्नस तो तड़ातड़ मिलते हैं।

पुरुष : यस। कष्ट करो और पैसे पाओ।

स्त्री : मस्त! (उसके पास जाते हुए) हेल्थ के नाम पर फॉरेन एजन्सी से ग्राउण्ड रियल्टी पर काम करने को पैसा (उसका हाथ पकड़कर चक्कर काटती है।) हमारी मिट्टी हमारे लोग। मिस्टर डॉक्टर आनन्दराव पाटिल, खानदानी मराठा किसान का लड़का (वह मुलाक़ात लेने वाले की नक़ल उतारते हुए) हेलो, डॉक्टर पाटिल कांग्रेच्युलेशन्स फ़ॉर दिस ग्रांट। भारत के हेल्थ सम्बन्धी इश्युज पर काम करने के लिये अमेरिका पैसा देता है। आप नेक्स्ट वीक अमेरिका जा रहे हैं। आपको आज कैसे लगता है? मेडम थैंक्स यू. सी. मेरी जड़ें यहाँ की मिट्टी में है। मेरा गाँव, मेरे लोग मुझे इशारा करते रहते हैं। मैंने यह काम हमें उनके लिये कुछ करना चाहिये इस फ़ीलिंग से हाथ में लिया है।

पुरुष : (अपने से) गाँव के लोग खुश हो जायेंगे। हमारी सोसायटी को बुलायेंगे, सत्कार करेंगे। उन्होंने मेरे लिये कितना किया है। (यादों में खोया है।) गुरुओं ने मन लगाकर, जी जान से पढ़ाया इसलिये यहाँ तक

आ गया। यह सुनकर तुझे मज़ा आया न। रिश्तेदार लोग गोरा-चिट्टा दीखने से मुझे ब्राह्मण करके बुलाते थे। (हँसता है) जाने से पहले आबा ने हाथ में हाथ लेकर अण्णा से कहा, 'आनन्द को बहुत पढ़ा, पाटिल के घराने का नाम करना चाहिए।' (रुकता है) मेरी पढ़ाई के लिये अण्णा ने कितने कष्ट उठाये। छोटी-छोटी नौकरियाँ की। हमारी पढ़ाई के लिये निरन्तर तबादला। नहीं तो हमारे घराने में ऐसी नौकरियाँ कौन करता? और किसी का सपोर्ट न रहते हुए...

स्त्री : फिर तुम शहर के होकर रह गये।

पुरुष : कोई रास्ता नहीं था।

स्त्री : ऐसा कुछ नहीं। गाँव में न रहते तो खाली पेट न रही।

पुरुष : ऑफ़कोर्स नहीं। खानदानी खेती और वह भी तरी की भूमि।

स्त्री : जी जी करनेवाले लोग और सिर पर आँचल ओढ़नेवाली स्त्रियाँ।

पुरुष : वह हमारी परम्परा है।

स्त्री : (उपहास के साथ) यह परम्परा?

पुरुष : हमें देखकर तुझे क्या लगता है?

स्त्री : अरे तुझे क्या होता है यानी क्या? परम्परा?

पुरुष : अपनी सोशालॉजी मुझपर मत थोपना और सिर्फ़ हमारी परम्परा की बात मत करना। मुझे मालूम है तुम्हारे अँधेरे घर के बीच के हिस्से में स्त्रियों की आवाज़ कैसे शान्त की जाती है।

स्त्री : मुझे भी मालूम है।

पुरुष : लेकिन उसके सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कहा?

स्त्री : तुझे समझ लेना चाहिये।

पुरुष : हमारी परम्परा भी तुझे समझ लेनी चाहिये।

स्त्री : मत कर हमारी-तुम्हारी।

पुरुष : हमारी बात निकालकर शुरुआत करने की तुझे क्या ज़रूरत थी? कितना स्वातन्त्र्य देना होता है?

स्त्री : ओह, द ग्रेट मराठा डॉक्टर आनन्दराव पाटिल मुझे स्वतन्त्रता देगा।

पुरुष : हमेशा हमारी घूँघट के अन्दर की स्त्रियाँ दीखती हैं।

स्त्री : दिखायी देते है ना तेरे अण्णा। वन्दन करने गयी तो बोले 'क्या आनन्दा, स्त्री पुरुष जैसे बाल रखती है।'

पुरुष : उन्होंने बालकटी स्त्रियाँ कभी देखी नहीं थी।

स्त्री : अण्ट-सण्ट मत बक। नौकरी के बहाने वे घूम चुके हैं। खूब लोग देखे हैं और उनकी लड़कियों ने भी बाब कट रखा है।

पुरुष : वह बाद में। तेरे समय में उन्हें मालूम नहीं था और आई ने तब संहाल लिया था न।

स्त्री : (अकड़ से) किया ना। रसोई घर में जाने पर घूँघट लेने कहा...

पुरुष : तुम्हारे लोग भी कुछ कम नहीं है। शादी के बाद पहले ही दिन तेरा मामा, सिरियसली बता रहा था, 'हमारे लोगों में भी कुछ हेंडसम लोग थे।' मैं बता रहा था सिरियसली कह रहा था, 'मैं माँस नहीं खाता' पर सुन ही नहीं रहा था। फिर फिर अपनी वही डुगडुगी, 'हम माँस नहीं खाते, हम ज़्यादा तीख़ा नहीं खाते' हमें मालूम नहीं माँस किसने महँगा किया है।

स्त्री : मुझे मालूम था यह होकर ही रहेगा -

पुरुष : (उछलते हुए) अरे हम क्या रास्ते पर पड़े हैं, आते-जाते हमारे ऊपर किसी भी तरह के ताने मारें।

(शान्ति)

स्त्री : (आवाज़ उठाती हुई) यह तो होगा तभी मैं कह रही थी कि हम बिना शोरगुल के शादी करेंगे। लेकिन तुझे ज़्यादा ही मस्ती थी।

पुरुष : पर शादी ठीक-ठाक हुई न।

स्त्री : क्या ठीक-ठाक? हमारे रिश्तेदारों को अच्छा न लगने पर भी माँस दिया गया।

पुरुष : खाना हम देनेवाले थे और हमारी रस्म के मुताबिक ऐसा ही होता है।

स्त्री : क्या धानबे कुल दिखाना था?

पुरुष : खुद को प्रोफ़ेसर समझती हो और माँस खाने पर जात-पाँत पर उतर आती हो।

स्त्री : जात की बात तूने ही उठायी थी।

पुरुष : मैंने? और माँस खाने की बात करके जात को कौन लाया।

स्त्री : अगर हमें पसन्द नहीं था तो वैसा खाना बनाया ही क्यों?

पुरुष : तुममें से कोई माँस नहीं खाता? सच बता?

स्त्री : (वह रुककर बोलती है) दरअसल शादी में वह नहीं होना था।

पुरुष : विद्रोह करते समय थोड़ा एडजस्टमेन्ट करना पड़ता है।

स्त्री : हमें नामंजूर सत्यनारायण की पूजा करके? वर्ना आन्दोलन के किसी दोस्त के पुरोहित को बुलाकर विवाह किया सुनकर झगड़ा करते हो।

पुरुष : तू भी माँ देवी के आश्रम जाती है...

स्त्री : तुझे उसका कारण मालूम है।

पुरुष : मेरे भी कारण तुझे मालूम हैं।

(पॉज़)

स्त्री : अरे, लेकिन निमन्त्रण पत्रिका पर हमारे लोगों के नाम नहीं थे।

क्यों? कुलकर्णी, देशपाण्डे नामों के आने से तुम्हारा वंश गड़बड़ा जाता?

पुरुष : हमारे लोगों ने सीधी भूमिका लेकर नाम नहीं डाले। पर तुम लोगों ने तो डर के मारे पत्रिका ही नहीं बनायी। क्यों? मेरे साथ विवाह कर रही है इसलिये? फिर भी वे सब मिस्री डालकर मीठी बात करेंगे। मीठी-मीठी बातें कर तेरे मौसी ने अम्बाबाई को आने कहा। आई को ले गया तो... तेरी मौसी उसके घर की कामवाली बाई को लेकर बैठी थी लेकिन मेरी आई को अन्दर नहीं आने दिया (शान्ति) आई को अन्दर जाकर अम्बाबाई का दर्शन लेना था (रुकता है) बाहर आकर गुस्से में भीतर गयी। धत् तेरी की।

स्त्री : धत् तेरी क्या कहते हो...

पुरुष : सॉरी (रुकता है) पर तुम लोग...

स्त्री : तुम लोग? तुम लोग, तुम लोग क्या कह रहे हो?

पुरुष : तुम लोग याने तुम लोग।

स्त्री : तुम लोग याने कौन?

पुरुष : बताता हूँ। तुझे छोड़ता हूँ क्या? तुम लोग याने बामन।

स्त्री : (ज़ोर देकर) आनन्द, जात सम्बन्धी कुछ नहीं कहना। इसके पहले भी कई बार कह चुकी हूँ।

पुरुष : मालूम है। तू ही पुराने गड़े मुर्दों को उखाड़ती है और मुझे बोलने को मजबूर करती है...

स्त्री : (ऊँची आवाज़ में) अब रुकोगे भी?

पुरुष : अपने पे गुज़री तो मैं रुक जाऊँ? और तू? मैं कहीं नहीं हूँ, शुद्ध निर्मल? अब मैं बोलता हूँ। सुन, खानदानी मराठे का लड़का ब्राह्मण की लड़की के साथ ब्याह करता है याने वह पुण्य कर्म किये जाता है।

स्त्री : ओ, द ग्रेट मराठा (ऊँची आवाज़ में) कुलीन ब्राह्मण की बेटी मराठे के लड़के के साथ विवाह करती है याने उस पर उपकार किये जाती है।

पुरुष : तुम्हारी कितनी पीढ़ियों ने सताया है।...

स्त्री : तुम लोग भी निष्पाप नहीं थे।

पुरुष : तुम्हारे कर्त्तव्य की लिस्ट पढ़ते समय मेरा खून खौलता है?

स्त्री : अण्णा कल परसो तक नौकरों को पिछले दरवाज़े से चाय देते थे।

पुरुष : तुम तो दूसरों के साये को अपने पास फटकने नहीं देती थीं।

स्त्री : तुमने ज़्यादा सताया है।

पुरुष : तुमने कुछ कम नहीं।

दृश्य तीसरा

(पुराने मराठी सिनेमा की टिपिकल ऐतिहासिक याद दिलाने वाला संगीत बजता है। पुरुष सामने से आता है। स्त्री उसकी ओर देखती है।)

स्त्री : होशियार बा इज़्ज़त बा मुलाहज़ा। मसले स्पिरिट ऑफ द वर्ड दरबारे आलम राजा महाराजा .. .. तलवार बहादुर पाटिल पधार रहे हैं।

होशयाऽऽऽर

(स्त्री आगे आकर चलने लगती है।)

पुरुष : होशयाऽऽऽर बा इज्जत बा मुलाहिजा नॉलेज स्पिरिट ऑफ द वर्ड दरबारे पुस्तक बहादुर मल्लिका-ए-पण्डित पधार रही हैं। होशयाऽऽऽर (दोनों पलंग पर खड़े होते हैं। वह मूँछ को मरोड़ने का अभिनय करता है। वह शरमाकर खड़ी है। वह तलवार लेने की मुद्रा में। उसने कन्धे पर आँचल ओढ़ा है। धीरे से संगीत शुरू होता है। 'ये भीगे होठ तेरे' गाना शुरू होता है। वह एक्साईट होता है। वह स्त्री के बालों पर, कानों पर हाथ फेरता है। दाहिने कन्धे का उसका आँचल नीचे करता है। बाहों पर हल्के से हाथ फेरता है।)

मल्लिका। (स्त्री लजाती है।) मल्लिका...

स्त्री : (धीरे से ऊपर देखते हुए) ए?

पुरुष : निखर गयी हो। (वह स्त्री लजाती है।)

तू कितनी गोरी है।

स्त्री : सच?

पुरुष : बिलकुल सच। तुम्हारे घराने की पुस्तक की सौगन्ध।

स्त्री : हँ, पगला कहीं का।

पुरुष : सच। हमारे घराने की तलवार की सौगन्ध।

स्त्री : (लजाते हुए) हटो, क्या कभी कोई तलवार की सौगन्ध लेता है क्या?

पुरुष : तुममें से सभी ऐसे ही रहते हैं?

स्त्री : याने?

पुरुष : (हाथ पर धीरे से हाथ फेरते हुए) ऐसे गोरे गोरे... गोरे लोगों की तरह।

स्त्री : (नाराज़गी से) यह क्या गोरे लोग कहते हो?

पुरुष : (विषय टालते हुए) ठीक है। केवल लोग।

स्त्री : (उत्साह से) लेकिन मेरी माँ भी मेरे जैसी ही गोरी-गोरी।

पुरुष : तेरे जैसी मीठी-मीठी बात करनेवाली?

स्त्री : मुझसे भी बढ़कर (रुकते हुए) लेकिन बेचारी मास्टरनी ही रह गयी...(पॉज़)

पुरुष : (उसके माथे पर हाथ फेरते हुए) बुरा ही है न...

स्त्री : (थोड़े गुस्से में) नहीं तो क्या? बाबा ने उसे बाहर जाने ही नहीं दिया।

पुरुष : यह अच्छा नहीं किया। आई तुझसे बढ़कर सुपर नायिका बनी होती।

स्त्री : सच है।

पुरुष : अच्छा हुआ रे, तू उसमें से बाहर निकली।

स्त्री : निकली याने क्या भाग आयी।

पुरुष : तू हिम्मती है।

स्त्री : आई ने सहारा दिया था। नहीं बाबा का क्या...

पुरुष : तुममें से सभी ऐसे ही हिम्मती?

स्त्री : नहीं रे। हमारे कोई भी पुरखे सेना में नहीं थे। वे दरबार में काम करते थे। कुछ लोग गाना गाते तो कुछ कोई और काम करते थे। यह सच है कि वे उद्योगी थे।

पुरुष : लड़ाई...

स्त्री : अरे कैसी लड़ाई! माँ कहती, तू ही हिम्मती है।

पुरुष : तेरा किसी ने विरोध नहीं किया?

स्त्री : विरोध कौन करता?

पुरुष : तात्या-मामा कोई रिश्तेदार?

स्त्री : असम्भव। एक यू.के. में, दूसरा यू.एस. में सेटल। कौन आयेगा विरोध करने?

पुरुष : बाबा...

स्त्री : वे पहले ही झुँझला उठे थे। बट आय मैनेज्ड इट।

(संगीत/ दोनों एक्साइट हुए हैं। स्त्री उसके बालों पर हाथ फेरती रहती है।)

पुरुष : तुम लोगों के यहाँ सारी लड़कियाँ ऐसी ही हैं?

स्त्री : ये तुम बार-बार क्यों कहते हो?

पुरुष : (सिर पर, गर्दन पर हाथ फेरते हुए) तुम लोगों में याने... तुम्हारी जात में...

(वह नाराज़ होती है। भाव बदलता है। वह पीछे हटती है।)

स्त्री : अब क्या बताऊँ? फिर वही जात। हमें रोमान्टिक सीन करना है।

पुरुष : वही तो कर रहे हैं।

स्त्री : क्या कर रहे हो? कब नाटक बनेगा, कब अमेरिका जायेगा और सेक्स तो दूर की बात है।

पुरुष : (परेशानी से) अब मैं उसके लिये क्या करूँ?

स्त्री : कॉन्सन्ट्रेट कर।

पुरुष : वही तो होता नहीं।

स्त्री : कैसे, यह सब, कब करोगे?

पुरुष : मेरी भी समझ में नहीं आता।

स्त्री : माँ देवी का उपाय किया?

पुरुष : आँखें बन्द करने का?

स्त्री : हाँ वही। आँखें बन्द करना और अपने को भाने वाली चीज़ नज़र के सामने लाना।

पुरुष : वही तो करता हूँ।

स्त्री : चल कर ले। (वह आँखें बन्द करता है। पलभर में खोलता है।)

अब और क्या हुआ?

पुरुष : कितनी कोशिश करता हूँ। आँखें बन्द करता हूँ। सामने गाँव के आम का पेड़ आता है। मस्त, गुम्बद जैसा, हिलनेवाला, खेलने वाला। हवा के आलाप के साथ आनेवाली पत्तों की मरमर कानों में गूँजती रहती है। सब कैसा सुन्दर होता है। इतने में कॉलेज की कुलकर्णी की मल्लिका सामने खड़ी होती है। (चुभती याद बताते समय उसके चेहरे पर दुःख, क्रोध, खीज, जैसा मिला-जुला भाव आता है।) मुझे तेरे गाँव की ओर आने को कहती रही थी। घर देखा। उसे हमारे आम के पेड़ के नीचे बैठकर खाने की बड़ी हवस थी इसलिए उसने वह भी किया। भाई के साथ 'काकु काकु' करते गयी... एकदम हिम्मती। मुझे तो एक शब्द कहने के लिये टोकरीभर टेन्शन आता है। फायनल इयर में मैं पहला आया। जोश के साथ हमारी पार्टी हुई। घर की ओर आने को मल्लिका का निमन्त्रण था। उस दिन हम तो हवा में उड़े (पॉज़)। डिसेक्शन रूप में कोई नहीं था। हम दोनों ही। उसने हाथ में हाथ लिया। आँखों में देखने लगी और झटके से कहने लगी, तेरे हाथ कितने खरदुरे हैं? तुम कितने झुलस गये हो, काले दिख रहे हो। बाद में वह हमारे काले झुलसे रंग से ग़ायब हो गयी...

(दीर्घ पॉज़)

स्त्री : माँ देवी कहती है हर एक का भूतकाल रहता है।

पुरुष : (वह अपने में खोया) फिर तू ही सीधे आ गयी उनके राज्य से (आह भरते हुए) मनुष्य की चमड़ी के रंग, उपनाम जाते नहीं। (आँखें बन्द करता है, खोलता है।) आँखें बन्द करते ही डिसेक्शन रूम की याद आता है... कहाँ-कहाँ के लोग सामने आते हैं- जाते हैं। उनके उपनाम सामने नाचने लगते हैं। कुछ लोगों के अगर उपनाम मालूम न हो तो विचार आने लगता है कि वे क्या होंगे? मुझे भयानक लगने लगता है। चमड़ी के रंग से हमें कोई इन्कार कर दें? या हम ठीक ढंग से बात कर नहीं पाते? या हमारी कोई विरासत नहीं? ...मेडिकल का मेरा ज्ञान पूर्ण नहीं? मुझे इन्कार क्यों कर दिया गया?

स्त्री : आँखें बन्द कर। माँ देवी कहती है बीती घटनाओं को बारीकी से देखें।

पुरुष : वह तो देखता हूँ। बहुत गौर से देखता हूँ।

स्त्री : ओ.के. देन। देख, ठीक देख।

पुरुष : (अपने को सँवारते हुए) यस, देख लिया।

स्त्री : ओ.के. गुड। टेक पोज़िशन। (वह सँवरकर बैठता है।)

पुरुष : धत् तेरी पोज़िशन की। लेता ही हूँ (पालथी लगाता है)

स्त्री : आँखें बन्द कर। फिर गौर से देख। यस अब आगे जाना। आगे के रोमान्टिक सीन की ओर जाना है। होशयार SSS (इस सीन के प्रारम्भ की पोज़िशन। दोनों उसी स्टाईल में- जैसे रैम्प पर चलते हों। पास आते हैं। 'ये भीगे होठ तेरे' शुरू होता है। स्टाइलाइज़्ड रोमान्स)

(अन्धकार)

दृश्य चौथा

(पुरुष आता है। उसके आने का अन्दाज़ लेते हुए स्त्री भी आती है। दोनों एक-दूसरे की ओर देखकर हँसते हैं। वह बूट उतारते हुए)

पुरुष : तुम्हारे प्राचार्य कुम्भार मिले थे।

स्त्री : वह बाबा कैसे मिल गया?

पुरुष : पालिका की बैठक में आये थे।

स्त्री : बाबा वहाँ भी रहता है क्या?

पुरुष : प्राचार्य के बारे में कैसे बोलती हो?

स्त्री : प्राचार्य के बारे और कैसे बोलूँ?

पुरुष : परसों तो अच्छा बोल रही थी।

स्त्री : (त्रस्त होते हुए) अरे प्राध्यापकों को कितने काम बताता है।

पुरुष : वह प्राचार्य ही है।

स्त्री : तो क्या हुआ?

पुरुष : उन्हें काम बताने पड़ते हैं।

स्त्री : कुछ भी काम बताने होते हैं?

पुरुष : कुछ भी कैसे बतायेंगे?

स्त्री : तुझे मालूम नहीं। अपने बेटे के लिए पैसे निकालने अंग्रेज़ी के जाधव को बैंक में भेजा।

पुरुष : भेजने दो। और जाधव क्या बच्चा है (उन्हें भी कुछ प्राब्लेम होगा।)

स्त्री : जाधव पी.एच.डी. है।

पुरुष : तो क्या हुआ। तुझे तो काम नहीं बताते हैं?

स्त्री : मुझे क्या बतायेगा।

(पॉज़)

पुरुष : इस साल तेरे पास कौन-सा विभाग है?

स्त्री : कल्चरल डिपार्टमेंट।

पुरुष : वाह, बड़ा भारी है। मज़ा आता होगा। जब हम कॉलेज में थे, हमारे यहाँ कल्चर एक्टिविटीज़ रहती थी और जो सर वह काम देखते थे, वे हम सबको बहुत पसन्द थे।

स्त्री : लेकिन कितना समय जाता है।

पुरुष : याने क्या कोई काम ही नहीं करना चाहिये?

स्त्री : मालूम है। (पॉज़) वह जाधव दाँत निकालते हुए कहता है। मैडम कैसी चिन्ता करती हो। मिस्टर बाहर गये तो आराम ही। फिर वह प्राचार्य और उसके चम्मच खिलखिलाकर हँसते रहते हैं।

पुरुष : अरे, वे तेरा मज़ाक करते होंगे।

स्त्री : मज़ाक कैसा? मुझे बाल बच्चे न होने से मैं खाली रहती हूँ। इनका दोपहर का बड़ा काम याने सो जाना।

पुरुष : इतना क्या बुरा मान लेती हो।

स्त्री : औरों के पर्सनल मामलें में दख़ल क्यों देते हैं?

पुरुष : ऐसा ही रहता है।

स्त्री : और वह देशपाण्डे बाई भी वैसी ही।

पुरुष : (हँसते हुए) उसका आदमी कहीं जाता है, देशपाण्डे बाई वही ना?

स्त्री : तुझे कैसे मालूम?

पुरुष : तूने ही तो बताया था।

स्त्री : हाँ, वही।

पुरुष : वह तो तेरी अच्छी सहेली होती थी।

स्त्री : सहेली नहीं है।

पुरुष : वह क्या कहती?

स्त्री : मेरे पास विद्यार्थी आते हैं, उसे तकलीफ़ होती है।

पुरुष : कौन विद्यार्थी?

स्त्री : वीरेन।

पुरुष : यह वीरेन कौन?

स्त्री : एम.ए. का विद्यार्थी।

पुरुष : वह क्यों आता है?

स्त्री : नया कुछ पढ़ लेने पर बताने आता है।

पुरुष : फिर देशपाण्डे बाई को क्या तकलीफ़ होती है?

स्त्री : उसे मेरी हर बात से तकलीफ़ होती है। उसे खुद को कुछ आता नहीं। पाँच साल से पी.एच. डी कर रही है और एक लड़का भी पीरियड में नहीं रहता।

पुरुष : वह क्या कहती है?

स्त्री : (नकल उतारते) कुछ विद्यार्थी ख़ास लेक्चरर्स की ओर ज़्यादा आते हैं। इससे समाज का उनकी ओर देखने का दृष्टिकोण अच्छा नहीं रहता।

पुरुष : देशपाण्डे बाई भली दिखती है।

स्त्री : नहीं तो क्या? अपनी पति की ओर थोड़ा ध्यान देती तो वह कहीं और न जाता।

पुरुष : लेकिन यह वीरेन किसका है?

स्त्री : देशस्थों में से।

पुरुष : वह क्या कहता है?

स्त्री : याने? वह क्या कहने वाला है।

पुरुष : याने वह तेरी ओर आने पर क्या कहता है?

स्त्री : बेचारा वह क्या कहेगा। लेकिन क्या-क्या धमाल बातें करता रहता है। परसों तो बात करते-करते घण्टाभर क्या-क्या बता रहा था।

पुरुष : और तेरा पीरियड?

स्त्री : फायनल इअर के लड़कों का पीरियड था और एक ही लड़का आया था। फिर मैंने उसको जाने के लिए कहा।

पुरुष : कमाल है (पॉज़) वह घण्टाभर बैठा था? एकाध विद्यार्थी के सामने घण्टा भर बात करना याने-

स्त्री : अरे मैं टीचर हूँ और मैं विद्यार्थी से बात करती हूँ।

पुरुष : लेकिन एकाध के साथ इतनी देर बात करना याने...

स्त्री : तू भी क्या ऐसी बात करता है?

पुरुष : लेकिन एकाध विद्यार्थी के साथ इतनी देर तक बात करना याने...

स्त्री : फिर वही। तू देशपाण्डे बाई की तरह बोल रहा है?

पुरुष : हम समाज में रहते हैं।

स्त्री : मैं टीचर हूँ और विद्यार्थी से बात करती हूँ।

पुरुष : तू टीचर है और तू एक पुरुष विद्यार्थी से बात करती है।

स्त्री : (चिल्लाते हुए) पुरुष? वह मेरा विद्यार्थी है-

पुरुष : (शान्ति के साथ) एम.ए. का विद्यार्थी पुरुष नहीं होता?

स्त्री : तू क्या बात कर रहा है?

पुरुष : (ठण्डे दिमाग़ से) क्या बोलता है?

स्त्री : गुस्सा लानेवाली बात करता है।

पुरुष : तू क्यों चिढ़ती है?

स्त्री : याने तू कुछ भी बोलने वाला है क्या?

पुरुष : मैं क्या कहा?

स्त्री : मैंने पुरुष से बात की याने क्या?

पुरुष : क्यों? एम.ए. के विद्यार्थी पुरुष नहीं होते?

स्त्री : अरे, फिर वही क्या लगा रखा है?

पुरुष : तू ही बता, एम.ए. का विद्यार्थी पुरुष नहीं होता?

स्त्री : बार-बार पुरुष क्यों कह रहा है?

पुरुष : क्योंकि एम.ए. का विद्यार्थी पुरुष होता है। और पुरुष के पास जो रहता है वह उसके पास रहता है।

स्त्री : (उपहास के साथ) अच्छा?

पुरुष : मैं वही कह रहा हूँ विद्यार्थी पुरुष रहता है और वह तेरे पास आता है।

स्त्री : ऐसे कई विद्यार्थी आते हैं।

पुरुष : सब डेढ़ दो घण्टे रुकते हैं।

स्त्री : वह उनके काम पर निर्भर रहता है।

पुरुष : कुछ एक घण्टा बैठते हैं।

स्त्री : हाँ।

पुरुष : और वे केबिन में रहते हैं।

स्त्री : क्योंकि स्टॉफ़-म में भीड़ रहती है।

पुरुष : इसलिये तू आयसोलेटेड केबिन में विद्यार्थी के साथ सॉरी पुरुष विद्यार्थी के साथ बात करती रहती है। उसकी देशपाण्डे बाई को अर्थात् समाज को तकलीफ़ होती है। इससे तुझे तकलीफ़ होती है और इन सबसे तुझे झुँझलाहट होती है।

स्त्री : मुझे किस कारण झुँझलाहट हो?

पुरुष : लेकिन देशपाण्डे बाई जैसे लोगों को ऐसा क्यों लगता है?

स्त्री : उसका मुझे कुछ मालूम नहीं लेकिन मैं विद्यार्थी से बोलती हूँ, इसका तुझे कुछ लगता है।

पुरुष : मुझे क्यों कुछ लगेगा?

स्त्री : वह तूझे ही मालूम होगा। तू ही कह रहा है।

पुरुष : मैं कुछ नहीं कहता। तू ही सब कह रही है।

स्त्री : मैं? मैं कहती हूँ? तू ही तो बार-बार पुरुष पुरुष कर रहा है।

पुरुष : हम देशपाण्डे बाई के बारे में बात कर रहे थे।

स्त्री : सच बता? सच बता मैं पुरुष से बात करती हूँ, तो क्या इसका तुझे डर लगता है?

पुरुष : मुझे क्यों डर लगे?

स्त्री : फिर तेरा प्राब्लेम क्या है?

पुरुष : प्राब्लेम, प्राब्लेम क्या रहनेवाला है? (पॉज़) लेकिन इतनी देर तक क्या बात करना?

स्त्री : अब देख बाहर आया।

पुरुष : क्या आया बाहर?

स्त्री : तेरे अन्दर का पुरुष! पुरुषत्व।

पुरुष : भाषण मत देना।

स्त्री : क्या मैं भाषण दे रही हूँ

पुरुष : नहीं तो क्या? कौन विद्यार्थी है जिसे देखकर उसके साथ घण्टे-घण्टे तक बात करना और...

स्त्री : क्या कह रहे हो, वह तेरी तो समझ में आ रहा है क्या?

पुरुष : मैं क्या समझता हूँ उसकी चिन्ता मत कर।

स्त्री : कौन विद्यार्थी है इसे देखने की बात क्यों कर रहा है?

पुरुष : वह कौन है पूछने पर तूने क्या कहा! देशस्थ है कहा। कहा कि नहीं?

स्त्री : तेरा पौरूष अहंकार छिपाने के लिये कोई बहाना मत कर।

(वह अन्दर जाने के लिये मुड़ती है।)

पुरुष : (उसकी ओर देखकर चिल्लाते हुए) मेरी बात करने के पहले इसे ध्यान में रख तू जातीय सोशॉलाजी की प्राध्यापक...

स्त्री : (अन्दर जाते-जाते) तू पुरुष समाज सुधारक डॉक्टर... (वह क्रोध से उसकी ओर देखता है।)

(अंधेरा)

दृश्य पाँचवाँ

पुरुष : (रंगमंच पर प्रकाश/स्त्री के घर के हॉल में वह अकेली दिखती है। उसके सामने एक बॉक्स दीखता है। उस पर माँ देवी की तस्वीर रखी है। बत्ती जलायी है। घण्टी भी दीखती है। बाजू में फार्मस काग़ज़ों का गट्ठर लगा है कॉलेज के लड़कों के पेपर जाँचने का काम चल रहा है।)

स्त्री : मन चित्त में रहे ना देव?

सहारा देकर ले मुझे।

आँचल में सवार ले मुझे

मन बैर करे रे मन से।

(पल के लिये रुकती है। घण्टी बजाती है। पेपर जाँचती है)

तू ही कर्ता तू ही दाता

सब कुछ झूठ रहे रे।

क़दम क़दम पर मन देखे

तेरा नाम काम में रहे।

(क्षणभर रुकती है। घण्टी बजाती है। पेपर जाँचती है। उसे आया हुआ देखती है। सोफ़े पर बैठता है। बूट निकालते निकालते टी.वी. पर चैनेल सर्फ़ करता है। स्त्री उसकी ओर देखती है, पेपर जाँचती है। जप करती है। उसके चेहरे पर नाराज़गी।)

थक गये दब गये

फिर तेरा सहारा

तू ही माता तू ही पिता

उठाकर ले गोद में।

सत सत माँ देवी। ओम शान्ति शान्ति।

(वन्दन करती है। घण्टा बजाती है। ऊदबत्ती बुझाती है। अपना सामान सामने के बॉक्स में रखती है। डिब्बा बन्द करती है। वन्दन करती है। बॉक्स बाजू में रखती है। चारो ओर देखते हुए ऊपर देखकर नमस्कार करती है। पेपर बाजू में हटाती है। उसकी ओर जाती है। उससे लपेटती है।)

स्त्री : (बालों में हाथ फेरती है) काफ़ी बना दूँ?

पुरुष : (त्रस्त होकर) यही पूछनेवाली है क्या?

स्त्री : फिर? अब क्या पूछूँ?

पुरुष : अरे अब झगड़ा मत कर।

स्त्री : (गीली आवाज़ में) झगड़ा नहीं रे (प्रेम के साथ) पूछ रही हूँ। क्या चाहिये तुझे? कुछ खाने को दूँ?

पुरुष : (हार के स्वर में) अब कुछ नहीं चाहिये।

स्त्री : (उत्साह के साथ) मुझे बता दे, तेरे कार्यक्रम का क्या हुआ?

पुरुष : अब पूछती है!

स्त्री : (प्रेम के साथ) अरे अभी तो तू आया है। और देख कितने पेपर जाँचने के हैं। अलावा इसके सप्ताह भी शुरू है। आश्रम में जा नहीं पायी। फिर घर में ही जप कर लेती हूँ। अच्छा मेरी जाने दे। अब बता तेरा प्रेज़ेन्टेशन कैसे हुआ?

पुरुष : (शान्ति से) दे आर इम्प्रेस्ड।

स्त्री : (एकदम उछलते हुए) वाव्! अमेरिका?

पुरुष : (उसे भी उत्साह आता है) उन्हें नाटक भी अच्छा लगा।

स्त्री : वह मल्लिका।

पुरुष : यस मल्लिका। ग्लोबलायज़ेशन।

स्त्री : फिर समझ गये वो?

पुरुष : डार्लिंग समझा दिया। ग्लोबलायज़ेशन। लोकल कल्चर। बॉलीवुड। मल्लिका। लोकल लेंग्वेज़ मराठी। शुरू में जान नहीं पाये। फिर पूछा, यू नो जैकी चेन? फिर वे जान गये और मल्लिका ध्यान में आ गयी। फिर मैंने कहा-ग्लोबल मिक्सड विथ लोकल टु टैल अबाऊट हेल्थ इन इंडिया! डें.... ट ड।ण ऽऽऽ

स्त्री : ख़तरनाक।

पुरुष : यस, अमेरिका। खुश हुई।

स्त्री : चौहान का प्रेज़ेन्टेशन कैसे हुआ?

पुरुष : ओ.के. हुआ।

स्त्री : फिर, फ़ायनल कब मालूम होगा?

पुरुष : बतायेंगे, बतायेंगे। वे अभी गाँव में चार दिन हैं।

स्त्री : होप्स है ना रे!

पुरुष : मुझे तो है और बड़े इम्प्रेस हुए हैं। कार्यक्रम के बाद साफ़ा बाँधा तो इतने खुश हुए की बस। उस बाबा ने तो आकर मुझे गले लगा लिया और वह इवलिन मेरे पास आकर बोली कि तुम्हारा नाटक अच्छा हुआ... (एक्सेंट काढ़ते हुए) 'युअर प्ले वाज़ फ़ेबुलस' कहते हुए फूल भी दिया। (मोबाइल दिखाते हुए) देख, कैसी खुश दिखती है। यह चौहान देख। वह नमस्ते कर रही थी तो यह हाथ में हाथ लेकर शेक हेंड करने चला गया। मैनर्स ही नहीं है और अब यह अमेरिका जानेवाला है। (वह उसे ताली देकर हँसती है।) (उसके चेहरे पर उत्साह उमड़ा है। वह उत्साह से मोबाइल पर फोटो दिखा रहा है।) अब परसों उन्हें खेत पर ले जायेंगे।

स्त्री : क्यों रे?

पुरुष : क्यों याने चौहान आज पार्टी देनेवाला है।

स्त्री : वह दे तो।

पुरुष : मुझे उन्हें गाँव की ब्यूटी दिखानी है (फोटो दिखाते हुए) यह देख यह कैसे खड़ा है।

स्त्री : (बाजू होते हुए) याने दोनों रिश्वत दे रहा है।

पुरुष : कितने गँवारू शब्द का प्रयोग कर रही है। तभी तो मुझे लगा कि अब तक सोशॉलोजी कैसी मारी नहीं।

स्त्री : मारती नहीं। पर सीधे पूछ रही हूँ। इसमें गँवारूपन क्या है?

पुरुष : अच्छा मैं भी सीधे पूछता हूँ। तेरे पी.एच.डी. के वायवा के रेफ़्रियों को खाना खिलाने तो गयी थी?

स्त्री : हाँ, फिर उसका क्या है?

पुरुष : क्या वह रिश्वत देना नहीं था?

स्त्री : अरे कहाँ का सम्बन्ध कहाँ जोड़ रहा है? वह एक आदर देने का व्यवहार था।

पुरुष : हम क्या अन्याय का व्यवहार करते हैं? विदेशी मेहमानों को गाँव की ब्यूटी दिखानी है। ईख के खेत दिखाकर लाल रस पिलाना है। हम अपनी आत्मीयतापूर्ण संस्कृति का प्रचार करते रहते हैं। चौहान तो उन्हें विलायती शराब पिलानेवाला है। हम तो गाँव की ओर शराब ले नहीं जा सकते, नहीं तो और मज़ा आया होता।

स्त्री : अच्छी ख़ातिरदारी की है।

पुरुष : वे हमारे मेहमान हैं। तू भी चल।

स्त्री : कहाँ?

पुरुष : गाँव।

स्त्री : तेरे साथ गाँव में घूमने का याने- वे गोरे लोग और तुम... अच्छा प्रदर्शन होगा।

पुरुष : तू सोशॅलॉजी पढ़ाती है और तूने डॉक्टरेट की है, ऐसा इवलीन और जार्ज को बताया है।

स्त्री : यह भी इंप्रेशन डालने के लिये क्या?

पुरुष : (प्यार से) तू इंप्रेसिव ही है।

स्त्री : (बाजू होते हुए) हमारे पास है क्या? पिछली बार तुम्हारी एक पार्टी में आयी थी तो वह पराडकर आगे-पीछे घूम रहा था।

पुरुष : वह पार्टी मैनर दिखा रहा होगा।

स्त्री : शी। पार्टी मैनर। और मेरे पल्ले का किनारा उस डॉक्टर घाटे को लगा तो झल्लाकर देख रहा था।

पुरुष : उस इश्यू पर हमने बात की है। उसे फिर से रगड़ो मत।

स्त्री : पत्नी को सजाकर ले जाने में शौर्य क्या है? प्रोजेक्ट ठीक लिखो। उसका ग्रामर देखो। प्रोजेक्ट ठीक करो।

पुरुष : यस प्रोफेसर बाई। भाषण करने का एक भी मौक़ा नहीं छोड़ती। मुझे अब कोई बात नहीं करनी है। (पॉज़) ठीक है, यह देख कल चौहान ने पार्टी रखी है, बाई, उसके लिए भर आना। वह घर का ही है। उसकी पत्नी ने भी तुझे लाने के लिए आग्रह के साथ कहा है।

स्त्री : फिर आना ही पड़ेगा। अमेरिका जाने वाले दो डॉक्टर और उनका परिवार साथ देखने मिलनेवाले हैं।

पुरुष : चौहान का और एक मित्र आनेवाला है। वह अमेरिकन टीम का लोकल कन्सल्टेन्ट और रोटरी का मेम्बर है।

स्त्री : कौन रे?

पुरुष : तेरा परिचित है। श्रीकान्त कुलकर्णी।

स्त्री : वह कौन है, ध्यान में नहीं आ रहा है।

पुरुष : तेरे विद्यार्थी के पिता है।

स्त्री : कौन विद्यार्थी?

पुरुष : वीरेन कुलकर्णी।

(पॉज़, वातावरण में असहजता)

स्त्री : एम.ए. का पुरुष विद्यार्थी अब चलता है क्या? (क्रोध से) उस दिन कैसी बात कर रहे थे? (नक़ल उतारते हुए) विद्यार्थी पुरुष रहते हैं। एम.ए. का विद्यार्थी पुरुष रहता है। तभी सोच रही थी, यह पार्टी के लिये क्यों ले जा रहा है। और समय इधर-उधर की बात कर ले जाने को टालते रहते हो। उधर किसी के पूछने पर उसका सिर दुःख रहा है, कहकर मैनेज भी कर लेते हो। और अब? मैं ठीक लगती हूँ। अमेरिका जाने मिलता है इसलिए मेरे पुरुष विद्यार्थी को इम्प्रेस करने के लिए मैं काम आती हूँ क्या?

पुरुष : इस इशू को तू हद से बाहर बढ़ा रही है।

स्त्री : मैं? मैं बढ़ाती हूँ?

पुरुष : मैंने व्यवहार के लिये आने कहा। नहीं आना हो तो रहने दो।

स्त्री : व्यवहार कैसा, सिर का।

पुरुष : अब बहुत हुआ। यह मेल-मिलाप का व्यवहार है।

स्त्री : और काम करने का? फँस गया?

पुरुष : ए बाई, आना नहीं हो तो मत आ। पर खाली भाषण मत दे। रात-दिन मेहनत करते हैं। हम। घण्टे भर में काम पूरा करके नहीं आते। और गोल्ड मेडल लेकर डॉक्टर हुआ हूँ। 'तुम में से हूँ' कहकर अपनी जाति के प्राध्यापकों का फ़ेवर नहीं लिया।

स्त्री : हाँ ना? फिर अब पत्नी की क्या ज़रूरत है।

पुरुष : जनम भर साथ देने का वादा किया है।

स्त्री : ऐसा क्या? दो महिने पहले जब ट्रिप गये थे तब वादे याद नहीं आये क्या?

पुरुष : ये देखो। उस समय भी मैंने तुझसे पूछा था-

स्त्री : पूछा था न (नक़ल करते हुए) आती हो ना? मेरे रहते दोस्तों के साथ सिली जोक्स नहीं कर पाते (रुककर) विद्यार्थी से बात की तो कितना बड़ा इशू बनाया।

पुरुष : बार-बार वही कह! तेरे पी.एच.डी के वायवा के दिन मुझे लेकर क्यों गयी थी?

स्त्री : अरे, कहाँ की बात करते हो? और अब उसकी क्या ज़रूरत है। तू हमारे सबका परिचित था इसलिये तुझे चलने कहा था।

पुरुष : फिर मैं यही शर्ट पहनूँ और वही पेंट पहनूँ, इसका आग्रह क्यों किया था? पी.एच.डी तेरी, गाईड तेरे, फिर उनकी पत्नी के लिये साड़ी क्यों?

स्त्री : अरे वह जेस्चर था।

पुरुष : तुम करो तो जेस्चर और हम करते हैं वह क्या (मुँह का शब्द बाहर नहीं निकालता) हमारा भी यह कल्चर जेस्चर है। मेडिकल जेस्चर टू अमेरिका कह इसे। ओ के?

(वह मोबाइल देखते हुए बैठता है। वह उसकी ओर देखती है। दोनों में शान्ति)

(अंधेरा)

दृश्य छठा

(सुबह का समय। चीज़ें बिखरी पड़ी हैं। वह काउच पर लेटी है। अलसाया शरीर झटकते वह आता है। चीज़ों की ओर देखकर त्रस्त होता है। उसे सँवारने का प्रयत्न करता है। उसके पास जाकर बैठता है। वह उसे टालकर करवट बदलती है। वह उठता है। फिर थोड़ा सँवारने जैसा करता है। फिर उसके पास आकर बैठता है। उस पर हाथ रखता है, वह मुँह पर तकिया लेती है। वह पड़ा हुआ पेपर उठाकर पलटता है और बाजू में रखता है? फिर उसके पास बैठता है। उसे छूता है। पर वह कोई प्रतिसाद नहीं देती।)

पुरुष : कितनी देर ऐसी लेटी रहोगी?

स्त्री : (शान्ति से) क्या?

पुरुष : उठनेवाली नहीं हो क्या?

स्त्री : किसलिये?

पुरुष : किसलिये याने क्या।

स्त्री : कॉलेज देर से है।

पुरुष : कॉलेज न हो तो जल्दी उठती नहीं क्या?

स्त्री : टॉयलेट होकर आये?

पुरुष : नहीं।

स्त्री : फिर तू जा। मैं उठकर क्या करूँ?

पुरुष : क्या केवल इसके लिये ही उठते हैं?

स्त्री : तूने चाय ली?

पुरुष : नहीं।

स्त्री : फिर पी ले। अलमारी में पतीली है। चाय के डिब्बे में चाय। शक्कर के डिब्बे में शक्कर। फ्रिज में दूध। एक कप पानी लेकर उसे उबाल। उसमें शक्कर डाल। ठीक तरह से हिला। फिर दूध डाल और-

पुरुष : तुझसे रेसिपी नहीं पूछी थी।

स्त्री : फिर?

पुरुष : तू उठेगी नहीं?

स्त्री : क्यों?

पुरुष : पूछ नहीं सकता?

स्त्री : ऐसा मैंने कहाँ कहा?

पुरुष : तुझे सुबह-सुबह क्या हुआ है?

स्त्री : अमरीकी बाई के साथ क्या बात कर रहा था।

पुरुष : कब?

स्त्री : रात में।

पुरुष : क्या बात कर रहा था?

स्त्री : याद कर।

पुरुष : कुछ विशेष हुआ याद नहीं आता। तू ही बता।

स्त्री : (नकल उतारते) मॅडम, वी आर मराठाज़, यू नो मराठा?

पुरुष : (मुस्कराते हुए) उसे क्या समझता था?

स्त्री : न समझने को क्या। तू था ही न। चौहान भी था। वह बता रहा था कि वी आर टॉप मोस्ट इन हिन्दूज़। यु गिव मनी टू चव्हाण ऑर पाटिल, मराठाज़ विल बी देयर नो अदर। वी विल रेन द नॉलेज।

क्या पाटिल? फिर आपने ही ताली दी। फिर बोले आनन्दराव पाटिल, बोले नाऊ वी विल बी ब्राह्मिन्स! चिअर्स।

पुरुष : अरे हमें चढ़ गयी होगी।

स्त्री : (क्रोध में) यह सब बोलते समय चौहान मेरी ओर देख कैसे बात कर रहा था।

पुरुष : उसे जरा ज़्यादा हुआ था।

स्त्री : और क्या? तो मॅडम यू आर क्रिश्चियन, वी आर क्षत्रिय, वी विल रेन, इट विल बी लकी 'के' फॉर द वर्ड ('के' इज किंग) 'के' एव्हरी व्हेअर। फिर आप की आपस में सन्धियाँ (पॉज़) अरे तुम डॉक्टर लोग। क्रिश्चियन की स्पेलिंग सी से शुरू होती है, 'के' से नहीं। इतना भी तुम समझ नहीं पाते?

पुरुष : जाने भी दो।

स्त्री : जाने भी दो क्या? तुम लोग डॉक्टर और चापलूसी?

पुरुष : रिलॅक्स। इतना एक्साईट मत हो। मन सम्हालना इतना ही।

स्त्री : तू इसे इतना ही कहते है? और किसलिए मन रखना होता है?

पुरुष : फिर क्या किसी कॉलेज में मास्टर बन कर अपना जीवन बिता दूँ?

स्त्री : अपना काम करो। और मास्टर की बात करने की ज़रूरत नहीं।

पुरुष : क्यों नहीं? तुम प्राध्यापक लोग प्राचार्य को सब्ज़ी लाकर देते हो। हमने ज़रा उससे बात की तो कितना ड्रामा।

स्त्री : अरे लेकिन उसकी कोई सीमा?

पुरुष : सीमा? कैसी सीमा? क्या हम गाँव में गोबर उठाते रहे? अभी थोड़ा कमाने लगे तो कितनी हाय तोबा?

स्त्री : श्शी हाय तोबा कौन करता है?

पुरुष : तुम ही कर लेती हो। हमारा समय ठीक नहीं चल रहा था इसलिये...

स्त्री : कमज़ोरी का दोष समय पर मत डाल।

पुरुष : कमज़ोर कहने की ज़रूरत नहीं। मैं कुलीन हूँ।

स्त्री : यहाँ भी ले आये अपनी कुलीनता।

पुरुष : तू अपना देशस्थी ढंग अपने विद्यार्थी को देखते हुए लाती नहीं है क्या?

स्त्री : मैंने किया इसलिए ऐसा नहीं कि तू भी करें।

पुरुष : हाँ? क्यों हमारा देखा नहीं जाता?

स्त्री : ओह शट अप। आय ॲम युवर वाइफ़। मैं ऐसा क्यों सोचूँ? और बार बार क्यों उठाते हो जाति को।

पुरुष : कितना भोला चेहरा करके बोलती हो, किसको लगेगा... मीठी मीठी बात कर... मुझे मालूम है तुम्हारा देशस्थी ढंग।

स्त्री : अरे बार-बार वही जाति का सुनकर--

पुरुष : मैं सीधे बोलता हूँ इसलिए दीखता है और तू न बोलते हुए धीरे-से परदे के पीछे। और जाति के उद्देश्य से कोई निकालता नहीं। वह आती ही है। जाति ने ही तय किया है कि नॉलेज कौन ले और कौन न ले। जिन्हें लाभ हुआ है, उन्हें जाति जाति कहते रहने में क्या बिगड़ता है? जाति के समूह ने फायदे उठाये हैं ही। ऐसा कहने में क्या बिगड़ता है कि नॉलेज जाति के परे जाता है। (पॉज़) इतने शौक से प्राध्यापक बनने निकली हो। मेरे साथ शादी करने पर कन्फ़र्म हुई। तू कुछ भी करे तो वह न्याय का व्यवहार... बता ना मैं क्या बुरा कर रहा हूँ? डाका डालता हूँ? किसी को सताता हूँ? बोल ना? (वह उसकी ओर देखता है। वह कन्धे उचकाती है। वह त्रस्त होता है।)

ऐसा नीचे मत दिखाना। तू इसे भूलना मत कि तेरे पी.एच.डी. का गाईड उसके उपनाम से फ़ायनल किया हुआ था। और तूने तेरे गाईड की पत्नी को जिस जेस्चर में साड़ी दी थी उसी जेस्चर से मैं उस अमरीकी बाई के सामने गया। दैट्स ऑल। (पॉज़) और तुझे क्या नहीं दिया? तेरी नौकरी के लिये तूने जो पैसे तय किये, वे सब क़िस्त से तेरे कॉलेज में भर दिये। कर्जा लेकर घर लिया। उसके पहले तेरे साथ शादी की। अलग-अलग तरह से सेक्स कर तुझे एंटरटेन करता हूँ...

स्त्री : श्शी... क्या बात करते हो।

पुरुष : मेरे कारण लज्जा आती है?

स्त्री : कहाँ की क्या बात कर रहे हो?

पुरुष : अब मेरे साथ बात करोगी नहीं?

स्त्री : ऐसा तुझे लगता है?

पुरुष : तुझे लगता होगा कि मुझे अपनी लज्जा ल.... और मैं खुद का तिरस्कार करूँ। सब छोड़कर घर में बैठूँ। डिस्पेन्सरी में बैठूँ। दोपहर में सो जाऊँ।

स्त्री : अंट संट करने की अपेक्षा यह अच्छा।

पुरुष : ऐसा नीरस फीका खाकर जीवन बिताने के लिये अगर मैंने ग्रांट नहीं ली तो कोई तो लेगा ही। लॉबी का व्यवहार छोड़कर सब करने की बुद्धि मेरे पास है। भले ही तू पी.एच.डी. हो गयी है फिर भी शिक्षा संस्था को घूस न देने के लिये नौकरी को तलाड़ने के गट्स तेरे पास है क्या? बताती रहती हो अभिमान से कि संस्था मराठों की है, हम मराठे हैं। अपने आय को दूर रख सकती हो क्या? नहीं। क्यों?

उसके लिये हिम्मत लगती है। मैं कहता हूँ छोड़ दे सब। हमारे पास खूब पैसे हैं। हम सीमा के बाहर जाकर करते हैं वैसा तू मत कर। छोड़ दे नौकरी और (उपहास के साथ) तेरी परम्परा को शोभनेवाला ज्ञान से काम करा चल। समाजशास्त्र पर एक सॉलिड लेख लिख। (पॉज़) जमता नहीं इसीलिये ऐसे रिलेशन्स मेंटेन करती हो, मान लो। बदमिज़ाजी मत दिखा। एक दूसरे की सहायता से जितना बनता है वह करेंगे। नॉलेज इंडस्ट्री में थोड़ी आयडेन्टिटी मिलती हो तो लेट्स फ़क सम होल्स। (चिढ़ती क्यों हो?)

(दीर्घ शान्ति)

अंधेरा

दृश्य सातवाँ

(दोनों बेड पर लेटे। सीने तक चद्दर ओढ़ी है। सहवास के बाद का वातावरण)

पुरुष : हमें ऐसा क्यों होता होगा रे?

स्त्री : याने?

पुरुष : सेक्स करते समय मज़ा क्यों नहीं आता?

स्त्री : आता नहीं यह सच है। केवल थककर सो जाते हैं।

पुरुष : केवल धांधालयाँ होती है। कॉन्सन्ट्रेशन भी नहीं होता। मन में बार-बार कुछ और आता है।

स्त्री : मुझे भी तेरे जैसा ही होता है।

पुरुष : कॉन्सन्ट्रेशन के लिये कुछ तो करना होगा।

स्त्री : क्या-क्या करके देखा। कुछ हुआ नहीं।

पुरुष : प्रयत्न करना होगा।

स्त्री : सच है।

पुरुष : तू कुछ तो सुझा।

स्त्री : कुछ सूझता नहीं।

पुरुष : विचार करके तो देखना चाहिये।

स्त्री : मेरा दिमाग़ काम नहीं करता।

पुरुष : दूसरे के चमड़े का रंग हमें भूलना आना चाहिये।

स्त्री : दूसरा कैसे बोलता है, इसको हमें बाजू में रखना चाहिये।

पुरुष : आगे के उपनाम से ही मेरे मन में यह विचार आता है कि वह मुझसे नीचे का है या ऊपर का। नीचे का हो तो अच्छा लगता है। अगर वह ऊपर का हो तो मुझे हलकापन लगता है।

स्त्री : मुझे तो आगे का उपनाम हममें से हो तो ही अच्छा लगता है।

पुरुष : कुछ उपनाम सुनते हैं तो लगता है हमें पीछे धकेला गया है।

स्त्री : उपनामों के सुनते ही टिड्डी दल की याद आती है।

पुरुष : मैं कुआँ लगता हूँ।

स्त्री : मैं नाव जैसी लगती हूँ।

पुरुष : तू कुआँ क्यों नहीं होती?

स्त्री : तू नाव क्यों नहीं बनता?

पुरुष : कुएँ को सुरंग लगाता हूँ।

स्त्री : नाव में दरार पड़ती है।

पुरुष : सुरंग लगाने पर दरार पड़ेगी ही।

स्त्री : दरार से पानी आयेगा।

पुरुष : पानी फूटेगा।

स्त्री : बाँध डाल।

पुरुष : कैसे बाँध डालूँ? ज़मीन टूटी है, पत्थर तड़के हैं।

स्त्री : सो जा।

पुरुष : किसलिये।

स्त्री : पानी को रोकने के लिये। क्या स्वामी की वह कहानी मालूम नहीं? शिष्य की परीक्षा लेनी थी। उन्होंने बताया उस शिष्य को, खेत की ओर आनेवाली बाढ़ का पानी रोकने के लिये। मिट्टी कम पड़ने लगी। पत्थर मिल नहीं पा रहे थे। वह क्या करता, खुद मेड़ बनकर लेट गया...

पुरुष : इसी इतिहास को बार-बार रटते रहना और हम लेटते रहें?

स्त्री : क्यों? फिर तेरे लिए कौन लेटेगा?

पुरुष : तू?

स्त्री : मैं क्यों?

पुरुष : पत्नी हो।

स्त्री : मेरी रात बीतेगी।

पुरुष : दूसरे दिन सो जाना।

स्त्री : जम नहीं पायेगा। सर्दी की तकलीफ़ है।

पुरुष : फिर मुझे ही लेटना पड़ेगा?

स्त्री : तू तो खेती बाड़ी में काम करनेवाला। तुझे वह सम्भव है।

पुरुष : हमेशा हम ही?

स्त्री : फिर छोड़ देंगे।

पुरुष : ठीक है। छोड़ देंगे। मुझे अब गद्दी पर ही नींद आती है और पूरी रात उस पानी में बिता दूँ।

(वह उठती है। सँवरने लगती है।)

पुरुष : उठी क्यों?

स्त्री : फिर क्या करूँ? (वह बाल बनाती है)

ऐसी बात करते रहना याने तेरे नाटक में काम करने जैसा लगता है, कुआँ क्या, पेंट क्या, नाव क्या, दरार क्या?

पुरुष : हम तो मन की ही कह रहे थे। शरीर अपने चिपके उपनाम से और अपने पर स्टैप लगाने वाली चमड़ी के रंग से बेज़ार होते हैं।

स्त्री : (कपड़े ठीक करते हुए) हमें कुछ तकलीफ़ भी उठानी नहीं है। और अपने को चिपकने वाला भी कुछ नहीं चाहिये।

पुरुष : बीच का रास्ता ढूँढना है।

स्त्री : (अचानक रुककर) हम ऐसा करें क्या? हम ऐसी जगह जायें जहाँ हम अपना फिजूल फेंक सके।

पुरुष : और कुछ नया आकर चिपकेगा तो?...

स्त्री : अब बीच-बीच में बाधा मत डाल।

पुरुष : तू समाजशास्त्री। तुम्ही बताओ क्या करूँ?

स्त्री : हम भीड़ में घुसेंगे। भीड़ में घुसने के बाद खुद को फेंका जा सकता है।

पुरुष : खुद को फेंकना?

स्त्री : याने अपना उपनाम भूल सकते हैं।

पुरुष : भीड़ में ऐसा होता है?

स्त्री : ऐसा मत बोल जैसे तेरी समझ में कुछ न आता हो। तूने कहा था भीड़ का चेहरा नहीं होता। भीड़ में घुसने के बाद हमें अपना उपनाम याद नहीं रहेगा और पूछेगा भी नहीं कोई अपनी जाति।

पुरुष : फिर इतनी भीड़ कहाँ मिलेगी?

स्त्री : पूना में।

पुरुष : (अच्छा न लगकर) वहाँ? वहाँ कौन किसे पूछता है? वहाँ के घरों के बोर्ड पढ़े हैं क्या?

स्त्री : अरे, कोई पूछनेवाला नहीं इसीलिये तो हम वहाँ जाते हैं।

पुरुष : पर वहाँ तुम्हारे लोग अधिक हैं।

स्त्री : रे बाबा फिर इसको वहाँ मत निकाल और अब पूना वैसा नहीं रहा है।

पुरुष : पर पूना को आखिर के ऑप्शन के-प में रखेंगे। इसके बदले ऐसा करें क्या? मुम्बई जायेंगे। वहाँ भीड़ की कमी नहीं है?

स्त्री : पर मुझे लोकल से डर लगता है। उसमें घुसने के लिए जगह नहीं रहती। चढ़ते समय अपनी जूती छूट गयी तो?

पुरुष : थोड़ा ख़तरा तो लेना चाहिए। यहाँ से वहाँ जाना मतलब होगा ही।

स्त्री : पर इतना उठना, जाना और उतने में जूती खोजने में सब समय चला जायेगा। बिना तकलीफ़ की रेडीमेड भीड़ चाहिये।

पुरुष : अब रेडिमेड भीड़ तुझे कहाँ मिलेगी?

स्त्री : रहती है न। अपने बिग बाज़ार में कितनी रहती है।

पुरुष : उस बिग बाज़ार में! वहाँ लोग स्कीम्स देख के जाते हैं। कोई स्कीम न हो तो कौन आयेगा?

स्त्री : (सोचते हुए) यह देख। हम मॉल में जायेंगे। खालिस मॉल में। वहाँ ज़्यादा स्कीमें नहीं रहती पर भीड़ रहती है।

पुरुष : बढ़िया आयडिया है। तुझे वह मॉल अच्छा लगा था। वहाँ से क्या क्या लायी थी। लेकिन वहाँ सब महँगा रहता है।

स्त्री : अब थोड़ा ख़र्च करना ही पड़ेगा। सब कैसे कम दाम में या एक पर एक फ्री में होगा?

पुरुष : वहाँ कितनी लाईट रहती हैं ना? हमारे दस गाँवों के लिये काफ़ी होंगी वहाँ इतनी बिजली ख़र्च होती हैं।

स्त्री : यहाँ अब तेरा गाँव मत निकाल। अब बहुत हुआ। चकाचक हटती हुई सीढ़ियाँ-महक-सिनेमा थिएटर भीड़ ही भीड़ हमें चाहिए।

पुरुष : दुकानों को देखते देखते और ब्राण्डेड माल हाथ में लेते लेते कौन हैं हम, ये भूल जायेंगे। हमें अपने उपनाम क्या हैं, ये भी याद नहीं आयेंगे। चकाचौंध... जगमगाहट... महक...

स्त्री : (उसके पीछे) चकाचौंध... जगमगाहट... महक। वहाँ क्या-क्या नहीं रहता। हम अपनी ओर देखेंगे ही नहीं। सभी के साथ सरकते जायेंगे... कभी क़तार में तो कभी फैल के। अपनी ओर देखना नहीं और आगे का भी हमें देखना सम्भव नहीं। क्योंकि आँखें चकाचौंध होकर रहेंगी। और आनन्दराव अपनी चप्पल सम्भालना। नीचे देखकर चलना। बड़ी फिसलन रहती है। लोग निरन्तर फर्श पोछते रहते हैं।

पुरुष : तू पागल है। मैं वहाँ चप्पल पहनकर कैसे आऊँगा। मैं शूज़ पहनूँगा।

स्त्री : पर अब मैं कुछ तय नहीं कर पाऊँगी। मुझे मैचिंग चप्पल पहननी है लेकिन ऐसी जो फिसले नहीं।

पुरुष : इतनी मुश्किल उठाने के बदले ऐसा किया तो?

स्त्री : अब क्या? मॉल कितना सुन्दर दिखने लगा है।

पुरुष : मेरे पास एकदम बढ़िया आयडिया है।

स्त्री : अब कोई नया आयडिया नहीं चाहिये। मैं कॉन्सन्ट्रेट करती हूँ। हम उस मॉल में गये थे। (माल में पहुँचने का अभिनय) देख, वह मुझे सेल्यूट कर रहा है। थैंक यू (वह अपनी दुनिया में)।

पुरुष : पर वहाँ कब पहुँचने का?

स्त्री : पूना जाने में कितना समय लगता है।

पुरुष : रास्ते कितने ख़राब हो गये हैं।

स्त्री : नाम मात्र के लिये सुपर हाय वे है।

पुरुष : फिर मॉल को ही इधर ले आयें तो?

स्त्री : (वह स्तब्ध होकर देखती है। शान्ति। एकदम आनन्द का कुछ मिलने का भाव) अजीबो ग़रीब आयडिया है।

पुरुष : गाँव में लाने का।

स्त्री : तेरे गाँव में?

पुरुष : यस।

स्त्री : वहाँ जगह कहाँ है?

पुरुष : जगह ही जगह। हमारे खेत में। आम के डेरे जैसे पेड़ पर।

स्त्री : आम के पेड़ पर मॉल?

पुरुष : अब बीच में कुछ मत बोल। आय वॉन्ट टु बिल्ड अ मॉल आन द टॉप ऑफ़ द डेरे जैसे मँगो ट्री। चार डेरे जैसे पेड़ों पर एक मॉल। कम्प्यूटर का इस्तेमाल करेंगे। झट से बना देंगे। पेड़ में आम लगेंगे। उन्हें तोड़ने कम्प्यूटराइज़्ड मशीन ले आना। फिर मॉल। अरे, वह देख चार स्तरीय हाय वे तैयार हो रहा है। अपने कामवाले भागधारी कैसे आनन्दित हुए, देख। उन्हें बुलडोज़र पर पानी मारने का काम मिल रहा है। सभी के घर में हमने केवल जोड़ा है। फिर लड़के टी.वी. देखते बैठेंगे। एक-दूसरे को अड़ंगा नहीं लगायेंगे और हाँ, मॉल के ओपनिंग के लिए हम पूजा करेंगे। हमारे घराने का पुजारी बुला लेंगे। देख, शहनाई बज रही है। इमारत फूलों से सजी है। दीपों की मालाएँ फैली हैं।

स्त्री : आनन्द-

पुरुष : शु ऽऽ डिस्टर्ब मत करना।

स्त्री : अरे लेकिन मॉल कैसे बँधायेंगे?

पुरुष : इसमें क्या मुश्किल है। कुलकर्णी-जोशी आर्किटेक्ट एण्ड कम्पनी को बुलायेंगे। वे उनमें भेजे का उपयोग करेंगे। वह उन्हें जम जायेगा। नहीं तो अब तक वे मेंड पर खड़े रहकर डिज़ाइनिंग का काम करते आये हैं। बाँधने को, करने को हमारे लोग हैं ही। धूप में खड़े रहकर, कष्ट सह कर, जल कर, पसीना बहाकर काम तो ये ही करेंगे। अरे वह देख अंजु हेगड़े। अब वह धोती में नहीं है पेन्ट में है। और वह श्रीया कालोजी देख, हारमोनियम कितना बढ़िया बजाता था। सुर तैयार करता था अब मॉल के ऐंट्रन्स पर वॉचमैन बनकर खड़ा है। और वह राज की सोना बाई देख, सफ़ेद टी शर्ट पहनकर आयी है। तेरे चाचा के घर में पीछे के दरवाज़े से आकर बर्तन माँजती थी। देख यहाँ पसीना बहाती है लेकिन ए.सी. में स्वीपिंग करते हुए। पिछवाड़े के ताक में रखे बिना कान के कप से कूड़ेखाने के पास बैठकर चाय पीती थी और उस सोना बाई का लड़का देख ग्रेज्युएट हुआ है पर कोका कोला के केन्स कन्धे पर लेकर जा रहा है।

स्त्री : ऐ, मुझे भी साथ ले ना।

पुरुष : अरे आना। तू भी है मेरे साथ ही। पर रुक जा, अब पहले मैं जाता हूँ। अब तक तुम ही आगे-आगे जाती रही हो- चल, चल जल्दी आ। स्लायडिंग स्टेअर्स पकड़ने हैं...

स्त्री : मुझे अपनी माँ की याद आती है। उसे भी ऐसे ही बारबार तुरन्त जाना पड़ा।

पुरुष : तय हुआ ना अब, अनावश्यक यादों को जुगाड़ना नहीं। (वह उसका हाथ मज़बूती से पकड़ती है)

स्त्री : तेरा हाथ कितना चिपचिपा हुआ है।

पुरुष : कहाँ (हथेली जाँचता है।) अरे हाँ ना। ए.सी. फुल नहीं है। ऐ उधर कौन है रे... ए.सी. फुल करो। देख मेरी ओर कैसे आदर से देखते हैं। बचपन में बैलगाड़ियों की दौड़ में हमें परास्त किया इसलिए चौहान कितना घमण्ड में रहता था। अब देख मेरी ओर कैसे आदर से देखता है। यह जीवन है।

स्त्री : यहाँ कैसे भूले खूद को?

पुरुष : दूसरी ओर देखकर।

स्त्री : फिर क्या होगा?

पुरुष : हमारे न होने का भ्रम होगा।

स्त्री : देख देखें सरकती ट्रालियाँ- बजते कम्प्यूटर्स फैले सैकड़ों पदार्थ-रंगीन चित्र-पोस्टर्स और उस पर चमकते चेहरे कोने कोने में पड़े व्हिज्युअल्स...

पुरुष : वह देख, खुला सीना बारीकी से देख- उसके निपल्स वह देख, कैसे बाल बिखराते हुए आ रहा है और देख उसकी लो वेस्ट निकर-

स्त्री : मुझे अब एक्साइट होने लगा है।

पुरुष : बाहर रात है पर यहाँ सूर्य का प्रकाश है।

स्त्री : मुझे यहाँ का प्रकाश भाता है।

पुरुष : आसपास देख कितनी भीड़ है। भीड़ अपनी ही ताल में है।

स्त्री : वह ठीक है, हम भी उसी ताल में रहेंगे।

पुरुष : चायनीज़ केलेण्डर का समय पास आ रहा है।

स्त्री : आनन्द भोगने का क्षण निकट आया है। आनन्द, अब मुझे केवल मैं ही दिखती हूँ रे।

पुरुष : अरे तेरे लिए अच्छा ही है। तेरी माँ देवी अपनी ओर निहारने को कहती है। वह देख, सामने के परदे की मल्लिका मेरी आँखों में घुसती है।

स्त्री : मुझे अब माँ देवी दिखायी देती है। आनन्द (हाथ में लेते हुए) परसो ही उन्होंने मुझे प्रसाद दिया है। केलेण्डर फ़ॉलो करो। रहेगा। बहुतों को अनुभव हुआ है।

पुरुष : हम जैसे ही इस मॉल में आये हैं, वह बहुत मेल खाता जा रहा है।

स्त्री : माँ देवी ने बताया है, 'न' से शुरू होने वाले शब्द का जप करते रहना।

पुरुष : नाचता-गूँजता जीवन।

स्त्री : यह शब्द बहुत बड़ा लगता है।

पुरुष : नीला नीला जीना।

स्त्री : 'नीला नीला जीना' बहुत कठिन लगता है रे। जप कैसे करे?

पुरुष : (विचार करते हुए) फिर तो, नावेल लाइफ़'

स्त्री : (उसके पीछे) नावेल लाइफ़।

पुरुष : और आसान करता हूँ नावल लाइफ़।

स्त्री : वाह! नावल लाईफ। माँ देवी को खूब भायेगा। नावल लाईफ। माँ देवी ने प्रसाद दिया है।

पुरुष : यह मॉल हमें महाप्रसाद देगा।

स्त्री : भक्तों की कामना पूर्ण करने की दैवी शक्ति इस महाप्रसाद में है।

पुरुष : अब मेरा कॉन्सन्ट्रेशन हो रहा है।

स्त्री : मगन हो रही हूँ मैं, तू भी मगन हो जा। आनन्द, आ रहा है अपनी नयी लाईफ। अब हमें आँखें बन्द करने की ज़रूरत नहीं। पूरे आसमत के ही हम आँखें मूँद रहे हैं।

(दोनों तल्लीन। घूसर प्रकाश। 'ये भीगे होठ तेरे' गाना शुरू होता है।)

(परदा)

अपने ही कल्पित अरण्य में भटकती कविता

मदन सोनी

जिन विभिन्न विक्षेपों से शिव की रचना हुई है, उनमें से गंगावतरण में आकार लेता उनका विक्षेप, पृथ्वी पर गंगा के अवतरण की घटना (जोकि इस आख्यान के परिप्रेक्ष्य में पृथ्वी पर अन्य के अवतरण की घटना है) से अविनाभाव सम्बन्ध रखता है : न इस विक्षेप के बिना गंगा का अवतरण सम्भव है, न गंगा के अवतरण के बिना वह विक्षेप सम्भव है, जो शिव में तब तक अव्यक्त रहे अन्य की सिद्धि है।

पहले, ज़रा इस शब्दावली पर ग़ौर करें :

मृगया, मृग, वाष्प, कामिनी, वेणि, पारिजात, श्वेत, हतयौवना, वसुन्धरा, व्योम, गगन मण्डल, गणिका, समीर, समिधा, अश्व, अश्वारोही, अश्वारूढ़, शय्या, रथ, अरण्य, विद्युल्लता, व्याध, मन्द हास, निष्पर्ण तरुवर, आचमन, भित्ति, भिक्षा, त्रिविक्रम, रुद्राक्ष, खड़ाऊँ, स्वेद-कण, इष्ट देवता, नयन, अनावृत्त, सुमन, मेनका, यज्ञ, उच्चैश्रवस, क्लान्त, महागिरि, महामत्स्य, रिपु, ऊर्ध्वगामी, प्रत्यंचा, चन्द्रिका, रेणु, शर, शरविद्ध देह, प्रक्षेप, मीनाक्षी, स्फटिक, श्वान, यामिनी, सरिता, कंकण, मदिरा, गरुड़, मलय गिरि, नाद, कपार, अस्खलित, आशीष, अग्निशिखा, परानिवृत्ति, संवत्सर, अन्तःपुर, राजकुमार, निरुक्त, आखेट, शिखा, तर्पण, डाह, केश, गात्र, स्वर्ण-मुद्रा, गाछ, काठ, वलय, स्तुतिपाठ, मन्त्रोच्चार, हवनकुण्ड, घुँघराले अयाल, जंघा, भुजाएँ, अंगवस्त्र, कण्ठहार, वक्र दृष्टि, रण-क्षेत्र, रक्तरंजित वस्त्र, मणिबन्ध, कुल, गोत्र, शीत स्पर्श, निशा, उन्मत्त गज, गवाक्ष, प्रदक्षिणा, रति, रति-संकेत, देह गन्ध, उष्ण अश्रुबिन्द, नेत्र, आद्रता, नभ, स्थावर, मुखाकृतियाँ, मंगलाचरण, लास्य, मोहिनी, निर्लिप्तदेह, आकाशगंगा, मुहूर्त, आयुष्य, योजनगन्धा, मन्वन्तर, प्रदक्षिणा, ऊर्ध्वमूल, प्रमाद, गर्भगृह, ग्रहयोग, कस्तूरी, संयुक्ता, तुलसीदल, सन्धिप्रकाश, गोरज, मोरपंख, चक्रव्यूह, कुण्डल, अभिमन्त्रित, उत्तरीय, वृश्चिक दंश, तिमिर, नभ, देवप्रिया, मणि, विवस्त्र देह, देहमण्डल, स्वर्गारोहण, सिंगारदान, नभशायी, कुलदेवी, चिदाकाश, मत्स्यांगना, उच्छ्वास, स्वर्णांकित, अन्तःपुर, दीपमाला, स्वप्नपाश, करुणानिधान, कृपानिधान, निश्चेतना, रक्तवर्णी, तृणदल, रत्नजड़ित शस्त्र, वृष्टि, मद्यपात्र, अभय मुद्रा, शंख, चक्र, पद्म, निर्माल्य, चरणामृत, चन्दन, कुमकुम, कलश, आम्रकुंज, उद्गीथ, हवनकुण्ड, पुरोहित, इन्द्रासन, विरहिणी, त्रिलोक, मंगल स्पर्श, कंकाल...

कहाँ हैं हम? किस देशकाल में? किन्हीं इतिहासों में? किसी पौराणिक या मिथकीय देश-काल में? कौन हैं हम? उस देशकाल के बाशिन्दे, दर्शक/श्रोता/पाठक?

क्या शिरीष की कविता की यह शब्दावली हमें, इन तमाम अर्थों में 'डिसओरिएण्ट' नहीं करती? हमारे अन्तर्बाह्य अवस्थिति-बोध, दिशाबोध को धुँधलाती, विचलित नहीं करती? यह अकारण नहीं कि इन कविताओं

में 'भटकाव' के अभिप्राय प्रचुर मात्रा में हैं : 'दिग्भ्रमित मेघ; 'घना मेघ/ निर्जन पथ पर'; 'सुर-ताल से भटका हृदय'; 'घाट से दूर/गहरी धारा तक बह आया/माटी का दिया'; 'दिग्भ्रमित अश्वारोही'; 'मन... अपना-अपना/प्रलय खोजते/भटक जाता है'; 'आखेट पर अकेला राजकुमार/पथ भटकना चाहता है अब'; '...समय/ धूसर मटमैले कटे-फटे/ काग़ज़ों की तरह/उड़ता फिरता हवा में'; 'सूर्य की एक किरण/केदार के किसी सुर को खोजती/भटकती है पृथ्वी पर'; 'एक पदचाप/परिचय के द्वार से उस तरफ़/मँडराती है'; 'देवलोक की दिग्भ्रमित स्मृति'; 'इतना भ्रम फैलता है/दसों दिशाओं में/कि एक पात्र/अपरिचित गली में/ढूँढता फिरता है अपना घर'...।

भटकाव के ये अभिप्राय कविता की काया पर उभर आये उस 'डिसओरिएण्टेशन' के महज़ संलक्षण (सिण्ड्रोम), या अनुभाव हैं, जो इस कविता में आद्यन्त और गहरे व्याप्त है। और यह 'डिसओरिएण्टेशन' सिर्फ़ स्थलपरक ही नहीं कालिक भी है : एक समय का, सहसा, किसी दूसरे समय से सामना। इस दृष्टि से 'उच्चैःश्रवस' कविता विशेष रूप से दृष्टव्य है, जिसमें उच्चैःश्रवस और महामत्स्य के द्विविभाजन में रूपायित पौराणिक समय का एकल स्वत्व भटककर खुद को एक रेगिस्तानी पोखर से व्यंजित पार्थिव समय ('अब मन होता है') में पाता है। लेकिन यह सिर्फ़ उस पौराणिक समय का ही 'डिसओरिएण्टेशन' नहीं है, बल्कि दोनों समयों ('कल्प' और 'मन') का यह परस्पर सामना उस तीसरे समय की रचना करता है जिसमें ये दोनों समय 'डिसओरिएण्टेड' हैं, जिनका निरूपण करता 'दिग्भ्रमित अश्वारोही' 'दिशाएँ गिनता है/अदृश्य पर्वतों से मार्ग पूछता है'।

यूँ देखा जाए तो यह सम्भवतः कविता-मात्र का ही एक फलन या प्रभाव है। यद्यपि हम उस काव्यशास्त्र से परिचित हैं, और ज़्यादातर उससे आक्रान्त प्रतीत होते हैं जो यह दावा करता है कि कविता हमें हमारे देश-काल से आबद्ध करती है, हमें हमारी अन्तर्बाह्य अवस्थिति का बोध कराती है। सिर्फ़ यह काव्यशास्त्र ही नहीं, बल्कि 'कविता' के नाम पर ऐसी विपुल भाषिक संरचनाएँ भी हैं जो इस काव्यशास्त्र से परिचालित और उसकी पुष्टि करती प्रतीत होती हैं। लेकिन वस्तुस्थिति क्या इसके ठीक विपरीत नहीं है? क्या कविता, अपने श्रेष्ठतम क्षणों में, हमें एसी स्थिति में - जैटलैग की-सी ऐसी स्थिति में - नहीं ले जाती जहाँ हम अपना पूर्व-अर्जित और पूर्वानुमेय दिशा-ज्ञान, समय और स्थिति का अपना रूढ़ बोध खो देते हैं? जहाँ हम बेख़ुदी की-सी अवस्था में पहुँच जाते हैं? जहाँ अनुभूति और तर्क-बुद्धि, यथार्थ और कल्पना, सुषुप्ति, स्वप्न और जागृति, संवेदन और संज्ञापन, जैविक और अजैविक, मनुष्य और मनुष्येतर के बीच की विभाजक रेखाएँ धुँधला जाती हैं? जहाँ हम सारे दिशा-सूचक संकेतों को (स्वयं कविता के भीतर मौजूद ऐसे संकेतों को) संशय की दृष्टि से देखने लगते हैं? कविता सृष्टि की मूलभूत 'अराजकता' को ढँकते व्यवस्था के, सभ्यता और संस्कृति के, आवरण को रन्ध्रिल/पारदर्शी बनाकर हमें उस 'अराजकता' में झाँकने, उसके स्पन्दनों को अनुभव करने की गुंजाइश देती है। वह हमें गुमराह करती है; भटकाती, प्रसंग-च्युत करती, अप्रासंगिक बनाती, अप्रासंगिक की ओर ले जाती है। वह हमें 'वैकुण्ठ' के ऐश्वर्य, सुरक्षा, आश्वासन और

उम्मीद के लोक से विस्थापित कर 'कैलाश' के बीहड़ में छोड़ देती है। वह हमें उस रसायन का स्वाद चखाती है जो आह्लाद और मृत्यु के आसवों से मिलकर बनता है। इस अर्थ में वह हमेशा ही 'व्यवस्था-विरोधी' होती है (और 'व्यवस्था' शब्द के सिर्फ़ राजनैतिक अर्थ में ही नहीं)।

हालाँकि कविता के ये श्रेष्ठतम क्षण, हर समय और भाषा में बहुत दुर्लभ होते हैं। ज़्यादातर कविता के मामले में, यह सिर्फ़ 'डिसओरिएण्ट' होने का ही अनुभव होता है, अगर होता है तो; हम भटका हुआ महसूस करने के बावजूद अपनी दुनिया में ही भटका हुआ महसूस करते हैं, जिससे स्वयं वह कविता हमारी दुनिया के ठोस संकेतों के माध्यम से हमें जोड़े रखती है। और इसीलिए आश्वस्ति और उम्मीद का एक तत्त्व हमारे उस अनुभव को सन्तुलित करता रहता है - आश्वस्ति यह कि हम अन्ततः अपने ही देश-काल में हैं, और उम्मीद यह कि हमारा भटकाव दरअसल एक युक्ति है - हमें हमारे देशकाल में मानव-स्थिति का, उसमें हमारी वास्तविक अवस्थिति का बोध कराने की। और कविता अन्त में इस आश्वस्ति और उम्मीद की पुष्टि करती है, जो उसमें हमारे विश्वास का एक स्रोत होती है। क्योंकि हम जानते हैं कि हमें गुमराह करती प्रतीत होने के बावजूद यह कविता स्वयं गुमराह नहीं है।

शिरीष की कविता उपर्युक्त तमाम अर्थों में तो हमें 'डिसओरिएण्ट' करती ही है, वह एक क़दम आगे जाती है : वह हमें हमारी दुनिया से भटकाकर एक सर्वथा अजनबी देश-काल में भटकने के लिए छोड़ देती है - अनाश्वस्त और नाउम्मीद। उसमें हमारी रोज़मर्रा दुनिया के संकेत लगभग नहीं हैं; जो संकेत उसमें हैं, वे हमें, हमारी उद्विग्नता को बढ़ाते इस अहसास की ओर ले जाते हैं कि कविता सिर्फ़ हमें ही 'डिसओरिएण्ट' नहीं कर रही है, वह स्वयं भी 'डिसओरिएण्टेड' है, और भटकाव उसके लिए कोई युक्ति या साधन नहीं, बल्कि गन्तव्य है। मसलन, कविता से पहले हम इस शब्दावली को ही लें जिसे हमने ऊपर उद्धृत किया है। हम जितना ही अधिक अपने देश-काल में बद्ध होने, अपने स्व में स्थित (स्वस्थ) होने (या ऐसी बद्धता और स्थिति के भ्रम में होने) के साथ इस शब्दावली में प्रवेश करते हैं, 'डिसओरिएण्टेड' होने का यह अनुभव उतना ही गहरा होता है, इस अनुभव से जुड़ी उद्विग्नता, और सही दिशा, अवस्थिति तथा समय का बोध जगा सकने वाले संकेतों के लिए हाथ-पैर मारने की हमारी कोशिश भी उतनी ही उत्कट होती है। और चूँकि ये संकेत विपुल मात्रा में - आज शायद पहले के किसी भी समय की तुलना में कहीं अधिक - उपलब्ध हैं (या उपलब्ध होने का भ्रम देते हैं), इसकी गुंजाइश बढ़ जाती है कि हम और अधिक 'डिसओरिएण्टेड' होने की सम्भावना से युक्त इस कविता की स्पेस में प्रवेश करने से पहले उसके दरवाज़े से ही, उसे परिवेष्टित करती इस शब्दावली से ही, बाहर, दूर निकल जाना चाहें।

यह पहला आत्महन्ता जोख़िम है - अपने पाठक से वंचित हो जाने का - जो यह कविता उठाती है।

शिरीष की कविता में यह शब्दावली इतनी सर्वातिशायी, इतनी प्रभावी, इतनी आक्रान्तकारी, इतनी अनिवार्य है कि इससे पहले कि ये शब्द अपने पद-संयोजनों, बिम्ब-संयोजनों के, वाक्य-विन्यास, बन्ध-विन्यास के अंग बनकर प्रकट हों, इसके पहले कि ये अपने अर्थ-विक्षेपों, अर्थ-मुद्राओं, अर्थ-भंगिमाओं में, अपनी

अर्थ-छवियों, श्रुतियों या ध्वनियों में अनुप्राणित होकर उभरें, इसके पहले कि ये काव्य-देह के अंगों के रूप में क्रियाशील हों - कविता को देश-काल में अनुक्षितिज (हॉरिज़ोण्टल) की बजाय अनुलम्ब (वर्टिकल) विन्यास देते ये शब्द अपने प्राचीन, पारम्परिक, शास्त्रीय (पौराणिक/मिथकीय), तत्सम चरित्र के साथ, अपनी भव्यता, ऐश्वर्य, ठाठ, विलास, लालित्य, और जब तब अपनी अलौकिकता या अतिक्रामिता के साथ, निरे शब्दों के रूप में, यहाँ तक कि महज़ अपनी स्वनिम (फ़ोनेटिक) काया के रूप में, खुद को व्यक्त करते हैं, एस्सर्ट करते हैं। वे, ज़ाहिर है, अपने आप में अर्थहीन नहीं हैं, लेकिन वे अर्थ की उस व्यापकता या बहुनिष्ठता में अपने अर्थ को विलीन कर देने से इनकार करते हैं जिसमें उनके सम्भावित पर्यायवाची साझा करते हो सकते हैं (मसलन, 'वसुधा' या 'वसुन्धरा' शब्द अपने अर्थ को उस अर्थ में विलीन करने से इनकार कर देगा जिसमें मसलन 'धरती' या 'ज़मीन' शब्द साझा करता है)। दूसरे शब्दों में, वे अपनी व्यक्तिवाचक पहचान को अपनी जातिवाचक पहचान में घुला देने से इनकार करते हैं, और इस अर्थ में हमेशा, पूरी तरह विजातीय बने रहते हैं। वे जॉर्ज ऑरवेल द्वारा लेखकों को दी गयी (खुद ऑरवेल के - उनके १९८४ के - सन्दर्भ में विडम्बनापूर्ण लगती) इस सलाह के विपरीत आचरण का संकेत करते लगते हैं कि अर्थ को अपना शब्द चुनने की गुंजाइश दी जानी चाहिए। यहाँ शब्द अर्थ का अनुसरण नहीं करता, अर्थ का पुंजीभूत उत्पादन करने वाले अधिकरणों, शक्ति-केन्द्रों, विचारनीतियों की सेवा में खुद को नियोजित नहीं करता। यहाँ अर्थ शब्द द्वारा छोड़े गये पैरों के भंगुर निशान के रूप में उभरता है।

और इस तरह ये शब्द, अन्ततः, अपनी अनन्यता में पढ़े जाने के प्रबल आग्रह के साथ-साथ उस निकाय (कविता) से रिश्ता बनाने की प्राथमिक शर्तों का निर्धारण भी करते हैं जिसके अंग के रूप में वे प्रकट होते हैं। वे एक ऐसी कविता की रचना करते हैं जिसकी काया, उन्हीं की तरह, अपने अर्थ से अविभाज्य है; जिसका अर्थ उसके पैरों के उन निशानों के रूप में उभरता है, जिनका अनुसरण करते हुए हम सिर्फ़ उस कविता तक पहुँच सकते हैं।

ये शब्द हमारे आधुनिक आवास में उस परित्यक्त (पठन और सन्तति-विस्तार से वंचित) और विलुप्त होते महाकाव्यात्मक काव्य-संकुल (पोएटिक कॉम्प्लैक्स) के विलुप्त होते स्मृति-चिह्न जैसे हैं, जिसमें ईश्वर या देवताओं के नायकत्व में कहे जाने वाले क़िस्सों के साथ-साथ उनके इर्दगिर्द विकसित, उनसे अनुप्राणित धीर, वीर, उदात्त, धीरोदात्त आदि मनुष्यों के नायकत्व में कहे जाने वाले क़िस्से भी शामिल हुआ करते थे; एक ऐसा काव्य-संकुल जिसके विशाल परिसर में अलौकिकता और इहलौकिकता अक्सर एक-दूसरे से टकरा जाते थे, एक-दूसरे को अन्तरव्याप्त करते थे, परस्पर संसर्ग करते थे; जिसकी आबादी की वंशावली नारायण और नर के, देवत्व और नृतत्व के संकरण से विकसित होती थी।

लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण और रेखांकित करने योग्य तथ्य यह है कि ये शब्द एक काव्य-संकुल के अवशेष हैं, उस दुनिया के नहीं जिसमें यह काव्य-संकुल अवस्थित रहा होगा। जिस समय में इनका प्रयोग कविता में होता था उस समय इनका इस काव्य-संकुल से बाहर की दुनिया से अगर कोई सम्बन्ध रहा भी

होगा, तो वह सम्भवतः उससे अधिक न रहा होगा जितना स्वयं उस दुनिया का उस काव्य-संकुल से रहा होगा। सिर्फ़ यह नहीं कि ये आज की दुनिया की आम बोलचाल की भाषा के शब्द नहीं हैं, ये उस दुनिया की आम बोलचाल की भाषा के भी नहीं रहे होंगे जिसमें यह काव्य-संकुल आबाद हुआ करता था। अपने अर्थोन्मीलन के लिए ये उस दुनिया की नहीं, बल्कि उस काव्य-संकुल की आर्थी पारिस्थितिकी (सिमैण्टिक इकॉलॉजी) पर निर्भर करते रहे होंगे। यह आज की अधिकांश कविता की शब्दावली से भिन्न स्थिति है जिसकी आर्थी पारिस्थितिकी हमारी दुनिया की उस आर्थी पारिस्थितिकी से बहुत भिन्न नहीं है जिसमें यह कविता लिखी और पढ़ी जाती है, और इसीलिए इस कविता की शब्दावली अपने अर्थोन्मीलन के लिए इस दुनिया के उन सन्दर्भों पर कहीं अधिक निर्भर करती है जिनसे यह कविता अनुप्राणित होती है।

इस तरह शिरीष की कविता की यह पदावली, और अन्ततः स्वयं यह कविता, हमें हमारी वर्तमान अवस्थिति से, सामयिकता, समकालीनता से, और इन्हें निबद्ध करती, आधार और गति प्रदान करती सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक राग- और विचार-सरणियों से विचलित करती है; हमारे समक्ष प्रसंग से भटकने का, जब-तब हमें इहलौकिकता-निरपेक्ष (डि-सेक्युलराइज़) कर देने का ख़तरा पैदा करती है। ये पद इस काव्य-भवन के ऐसे वातायन हैं जो हमारे देशकाल की ओर, हमारे तत्काल की ओर नहीं खुलते। इस दृष्टि से यह पदावली आपको इस कविता के प्रति विकर्षित या विरत भी कर सकती है, उसके साथ रिश्ता न बनाने, न बना सकने की सबसे पहली शर्त का निर्धारण भी कर सकती है।

लेकिन ये वातायन दरअसल किसी अन्य (मिथकीय/पौराणिक) देशकाल की ओर भी नहीं खुलते; वे किसी अन्य प्रसंग में हमारा पुनर्वास नहीं करते। वे हमें प्रासंगिकता का निकष माने जाने वाले प्रसंग-मात्र से उन्मूलित, विस्थापित करते हैं। ये वातायन दरअसल किसी भी समय की दुनिया की ओर नहीं खुलते। यह शब्दावली जिस काव्य-संकुल का अवशेष है, उसमें वह कोई इज़ाफ़ा, कोई बढ़त, कोई उपज नहीं करती; उसका पुनराविष्कार, पुनराख्यान, व्याख्या, नवीकरण या आधुनिकीकरण नहीं करती। वह हमें उस पारिस्थितिकी से विस्थापित कर जिससे हमारी अधिकांश कविता की रचना होती है, उस पारिस्थितिकी की ओर ले जाती है जिसकी रचना कविता से होती रही है। वे, मानो, दरवाज़े पर अंकित इस चेतावनी की तरह हैं कि उसके अन्दर की दुनिया की निर्मिति के हेतु उससे बाहर की दुनिया की निर्मिति के हेतुओं से सर्वथा भिन्न हैं; कि वे, वस्तुतः, हेतु नहीं हैं; कि उस समेत किसी भी निर्मिति के हेतु, वस्तुतः, उस निर्मिति के उपोद्पाद (बायप्रॉडक्ट) हैं; कि वे निर्मिति के हेतु नहीं, हेत्वाभास हैं; और अन्ततः यह कि दरवाज़े के उस तरफ़ जो स्पेस है, वह दरवाज़े के इस तरफ़ की स्पेस के मुक़ाबले बहुत विपुल, बहुत व्यापक, अत्यन्त इन्द्रिय-समृद्ध, और आतिथ्यपूर्ण होने के बावजूद ऐसी स्पेस नहीं जिसमें (मानसिक/भावनात्मक स्तर पर) रहा, बसा जा सके। रहने-बसने के सन्दर्भ में वह एक ही भूमिका निभाती है : जब हम उससे बाहर, दरवाज़े के इस तरफ़ की उस स्पेस में लौटते हैं जिसमें हमें लगता है कि हम रहते-बसते हैं, तो हम इन

क्रियापदों ('रहना' और 'बसना') को इनके अर्थों के भीतर विस्थापित, भटकता हुआ पाते हैं; 'डिसओरिएण्टेड'।

ऊपरी तौर पर, यह शब्दावली कविता में एक क़िस्म के भाषिक भार या दबाव (लिंग्विस्टिक लोड) को बढ़ाती लगती है। यह भार इस शब्दावली के मात्रात्मक अतिरेक की वजह से उतना नहीं जितना उसके गुणात्मक गौरव की वजह से अनुभव होता है; उसकी भव्यता, ऐश्वर्य, ठाठ, विलास, लालित्य की वजह से; उसके अर्थ-गौरव की वजह से; उसमें हल्के-फुल्केपन के उस अभाव की वजह से जो उसके आम बोलचाल की ज़ुबान में शामिल न होने के कारण है। यह भाषिक भार भाषा को प्रतिरोध देने की कविता की नैसर्गिक क्षमता को चुनौती देता लगता है।

लेकिन क्या वाक़ई ऐसा है?

यहाँ, पृष्ठभूमि के तौर पर, बेहतर होगा कि हम कविता और भाषा के सम्बन्ध, या भाषा के प्रति उसकी प्रतिरोधक क्षमता को समझने के लिए किंचित विषयान्तर का सहारा लें।

सामान्यतः, भाषा के साथ कविता-मात्र के रिश्ते में एक उद्विग्नता होती है। कविता उसी तरह एक भाषिक प्रजाति है, जिस तरह साहित्य की अन्य विधाएँ और मानविकी के विभिन्न शास्त्र, वाचिक मीडिया, आदि से लेकर रोज़मर्रा वार्तालाप, गालियाँ, 'गॉसिप', झूठ, शाप और आशीष, प्रवचन और उपदेश आदि अन्तहीन संरचनाएँ हैं। लेकिन भाषा के साथ कविता के और इन अन्य भाषिक संरचनाओं के रिश्ते में एक गम्भीर अन्तर दिखायी देता है। साहित्य की अन्य विधाओं को किसी हद तक अपवाद की तरह लेते हुए कहा जा सकता है कि इन अन्य संरचनाओं का भाषा के साथ एक तरह का उपयोगितावादी, व्यावहारिक, औपचारिक, उदासीन सम्बन्ध होता है। वे एक क़िस्म की व्यवस्थापरक (प्रो-सिस्टम) संरचनाएँ हैं जो भाषा का, उसकी सतह पर दिखायी देती व्यवस्था के स्तर पर, उपयोग करना ही बेहतर समझती हैं। वे भाषा की अन्दरूनी शक्तियों से, अराजकताओं, विक्षोभों से भरी उसकी अन्दरूनी 'डाइनैमिक्स' से, ज़्यादातर तो अपरिचित ही होती हैं, और अगर परिचित होती भी हैं, तो उनका अधिकतम उपयोग करने में ज़्यादातर न सिर्फ़ अक्षम होती हैं, बल्कि अनिच्छुक भी होती हैं, क्योंकि यह 'डाइनैमिक्स' उनकी व्यवस्थापरकता को ख़तरे में डाल सकती है।

दूसरी ओर भाषा के साथ कविता का रिश्ता अत्यन्त प्रगाढ़ भी होता है, और अत्यन्त पेचीदा, समस्यापरक भी। कविता भी अपने अस्तित्व के लिए भाषा पर निर्भर करती है। यही नहीं, बल्कि उसकी जड़ें भाषा की उक्त अन्दरूनी 'डाइनैमिक्स' में बहुत गहरे फैली होती हैं; वह उसकी अन्दरूनी शक्तियों का अधिकतम दोहन करती है। वह भाषा से जितना ग्रहण करती है, उतना ही भाषा की गढ़न को समृद्ध भी करती है। लेकिन यह रिश्ता सिर्फ़ मैत्री, और परस्पर सहयोग का का नहीं है; यह सहिष्णुता का - सहने का - रिश्ता भी है। अपनी 'अनन्यपरतन्त्रता' की आकांक्षा में कविता जिस पहली सत्ता को बाधा के रूप में

अनुभव करती है, वह भी भाषा ही है। यह वह निज़ाम है जिसमें न तो रहे बिना कविता का कोई दूसरा ठौर है और न ही जिसके क़ायदे-क़ानूनों, परिपाटियों आदि का उल्लंघन किये बिना कविता का वह अस्तित्व-मात्र सम्भव है जिसके लिए किसी ठौर की ज़रूरत होती है। और इस विरोधाभास की मारक विडम्बना इस बात में है कि एकसाथ परिग्रह और अपरिग्रह, दोनों के विषयरूप इस निज़ाम की रचना जिस कल्पना-शक्ति के हाथों की गयी होती है उसमें सबसे अधिक साझा स्वयं कविता करती है। वह एक ओर तो कविता का अधिष्ठान और उपादान है, लेकिन, दूसरी ओर, स्वयं कविता उसमें, अपनी हर आवृत्ति के साथ, नये अधिष्ठानों और उपादानों का योग करती चलती है। काव्य-रूढ़ियाँ या कवि-समय इसी योग का फल हैं, जिनकी इन्तिहा भाषा में इस क़दर है कि शायद समूची भाषा को ही एक तरह से काव्य-रूढ़ि कहा सकता है। इस काव्य-रूढ़ि के रूप में भाषा अनुभवों, पर्यवेक्षणों, विचारों, अनुभूतियों आदि के एक ऐसे सामान्यीकृत (कॉमनसेंसिकल) निकाय के रूप में उभरती है जिसके भीतर वह हर कवि हमेशा एक क़िस्म की संवृति-भीति ('क्लास्ट्रॅफ़ोबिया') और तज्जन्य उद्विग्नता अनुभव करेगा, जिसके स्वत्व में, और इसीलिए जिसकी काव्यानुभूति में, कोई अनन्यता होगी, क्योंकि यह सामान्यीकृत निकाय ऐसी हर अनन्य काव्यानुभूति को चरम प्रतिरोध देता है।

ऐसे में कवि के पास एक ही विकल्प होता है कि वह भाषा के इस निकाय में बने रहते हुए भी (जोकि उसकी अनिवार्य विवशता है) इस निकाय को निरन्तर प्रतिरोध दे। इस प्रतिरोध का एक अधिक मूलगामी रूप वह है जहाँ कविता भाषा के साथ एक सर्वथा अन्तरिम, संयोगजन्य, अस्थायी सम्बन्ध बनाकर उसमें स्थायी रूप से रहती है। मानो भाषा एक संक्रमण-स्थल ('ट्रांज़िट स्टेशन') हो और कविता वहाँ किसी भाषेतर मुल्क से आयी एक प्रवासी हो। इस संक्रमण-स्थल और प्रवास की विडम्बना इसमें है कि कविता न तो इस स्थल की संस्कृति में कभी पूरी तरह घुलती है और न ही कभी इसको छोड़कर कहीं जाती है, क्योंकि वह इसी स्थल में अपने अन्तिम गन्तव्य की पूर्वापेक्षा करती है (बल्कि यह पूर्वापेक्षा उसकी प्रवास-चेतना का अंग होती है) - उस पाठक की पूर्वापेक्षा जो स्वयं भी, अपनी अनन्यता के साथ, अपने भीतर इस स्थल के एक प्रवासी होने के बोध की सुप्त सम्भावना को समाहित किये होता है। कविता इस भाषा के शब्दों का नितान्त स्वैराचारी इस्तेमाल करती हुई, उनके सामान्यीकृत अर्थों को, उनके 'कॉमन-सेंस' को ठुकराती हुई, उनमें उन अर्थों का प्रक्षेप करती है जिनकी जड़ें कवि के स्वत्व के अँधेरे बीहड़ में होती हैं। इस तरह कविता भाषा के निकाय के समक्ष उसको भंग करने का, उसकी क़िलेबन्दी को रन्ध्रिल बनाने का और इस तरह उसमें विजातीय प्रतीत होते अर्थों की घुसपैठ की सम्भावना का ख़तरा पैदा करती रहती है। यह स्थिति भाषा में कविता के आवास को, मानो, एक अप्रत्यक्ष, अनौपचारिक 'घेटो' (ghetto) में बदल देती है। अधि-भाषा ('मेटा-लैंग्विज') में।

इस सन्दर्भ में शिरीष की यह शब्दावली, अपनी काव्य-प्रजातीय आनुवंशिकी ('एक महाकाव्य शब्द-शब्द बहता है/शिराओं की अँधेरी रिक्तता में') के नाते, भाषा के साथ इस कविता के सम्बन्ध को एक

अनूठा रूप देती है। भाषा के साथ उपर्युक्त क़िस्म का अन्तरिम, अस्थायी सम्बन्ध बना कर उसमें स्थायी रूप से रहने की बजाय वह इस रहन की परम्परा से निर्मित उस अप्रत्यक्ष, अनौपचारिक 'घेटो' (अधि-भाषा) में, उसके साथ वैसा ही अन्तरिम, अस्थायी सम्बन्ध बनाकर स्थायी रूप से रहती है। एक तरह का अधि-'अधि-आवास' (मेटा-'मेटा-ड्वेलिंग' या मेटा-'मेटा-घेटो') : वह उस अधि-भाषा में, एकसाथ, रहते हुए भी नहीं रहती, और न रहते हुए भी रहती है - ठीक उसी तरह जैसे स्वयं यह अधि-भाषा भाषा में रहते हुए भी नहीं रहती, और न रहते हुए भी रहती है। वह इस अधिभाषा में अपनी पहचान को पूरी तरह घुलाये बग़ैर उसकी स्थायी प्रवासी बनी रहती है; उसके शब्दों में अपने कवि के अँधेरे बीहड़ में उत्पन्न अर्थों का प्रक्षेप कर उन शब्दों का अपभ्रंश गढ़ती हुई।

या, एक भिन्न उत्प्रेक्षा का सहारा लेकर हम शायद कह सकते हैं कि यह महाकाव्य या प्राचीन काव्य-परम्परा के आसव के गहरे उन्माद के निषेक ('इन्सेमनैशन') से जन्मी, अपने स्नायुओं में उस उन्माद के वंशाणुओं को धारण किये, आधुनिक काव्यभूमि पर सन्निपात जैसी अवस्था में भटकती चेतना है - उन वंशाणुओं के ऐसे विलक्षण उत्परिवर्तनों (म्यूटेशन्स) में प्रतिबिम्बित होती हुई जिनमें वह काव्य-परम्परा बारबार, रोलाँ बाख़्त का पद लेकर कहें तो, एक क्षणिक प्रणति ('पासिंग सेल्यूट') के लक्ष्य के रूप में झलकती और लुप्त होती रहती है।

और अब कुछ बिम्ब :

> नीली निष्कम्प लौ से कण-कण पिघलती काया; आकाश पर पसरे अवसाद से रचे धनुष का वक्री आरोह और अवरोह; निष्पर्ण तरुवर की कंकाल छाया में ठहरी समाधि पर गीली हथेलियों की छाप; सुगढ़ सतरंगी काग़ज़ में लिपटी रिक्ति; गर्भ से बहता पिघला लावा, उठता धुआँ; अभागी देह पर खिलता अन्तिम सुमन; एक उदात्त सरिता की प्रत्यंचा से छूटे विद्युल्लता के ऊर्ध्वगामी शर; गगन-मण्डल से जब-तब उल्का जैसी गिरती, चित्र की तरह बिखरती स्फटिक जैसी कायाएँ; अनन्त के नीले घड़े से बूँद-बूँद रिसती नीली ओस; कण्ठ में स्वर्ण-मुद्रा जैसी झूलती पृथ्वी लिये उड़कर आता और एक पैर सूर्य पर और दूसरा चन्द्रमा पर रख रुकता सुनहरा गरुड़; पिछले चक्र से निष्कासित व्योम की किसी खोह में पड़ी पीली क्लान्त देह एकत्र कर पृथ्वी पर उतरता ग्रीष्म; आकाश पर तनी डोर टटोलता उड़ता एक अन्धा पक्षी; नीली किनार के सूती वस्त्र से छाया करती पृथ्वी; शिराओं में अग्नि भर शय्या त्यागता सूर्य; एक बुझे हुए भयभीत सलेटी पथ पर चलता हुआ प्रेम; सबसे वाचाल रंगों वाले धागे से उधड़े वस्त्रों की सिलाई करता विदूषक; शून्य पर झरती निशा में, नीले कसीदे की गढ़न वाले पंख फैलाये ठहरता, पृथ्वी के गहरे नीले कुसुमपर डोलता, अपनी गन्ध की लिपि पढ़ता, फूल पाखरू चन्द्रमा; एक अपरिमित ऊँचाई से त्रिकाल की शिला पर झरता एक उष्ण अश्रुबिन्द; दर्पण में सहसा उभरता एक निर्जन दोराहा - शान्त सरिता की दो भुजाएँ; पाँच शीघ्रकोपी ऋषियों की ज्यौनार में देह परोसता यजमान; सरोवर की शान्त सतह पर डोलती पंखुड़ी, काले रेशम पर क्षीर-चम्पा का ज्योति-वलय; कभी सतह पर उभरती, कभी स्वप्न में, चाँदी से मढ़ी लाल मछली; अपनी हरी शिराओं में पृथ्वी के गर्भ की शाश्वत अमावस का काला, और नभ पर उड़ते बादलों का श्वेत लेकर बना रुधिर लिये हुए गहरे नीले नद के तट तना एक वृक्ष; अपने नृत्य के सम पर सृष्टि; महासागर की छाती पर पैर रखता रात

का अन्तिम प्रहर; वसुन्धरा की देह पर पसरती एक अभिमन्त्रित नीली रात; प्रतिक्षण सूर्यास्त की प्रतीक्षा करती क्लान्त छाया; क्लान्त देह पर मालकौंस का गाढ़ा लेप; सीलन और काई से पटी चौखट में फटे चिथड़े-सा उलझा रह गया आकाश का एक छोर; कुछ न घटने का बहता हुआ तरल शून्य; अघटित कथाओं की स्मृतियाँ लेकर कुछ न घटने के तरल शून्य के एक तट से दूसरे तट तक दौड़ता फिरता अश्वारोही; कुछ न घटता देख ऊब कर चली जाती हुई मृत्यु; लुप्त सरिताओं के उघड़े गर्भ में पड़ी सुघड़ मुखाकृतियाँ; शिशु की तरह घुटनों के बल चलता मन; मरुस्थल की नाभि पर नाचता सूर्य; अपनी वेणि में उलझे नद और शिखर सुलझाती चन्दन से लिथड़ी धरा; कुछ राख जैसी झरती और कुछ स्वर्णांकित प्रश्न-चिह्न जैसी दमकती देह; अपने औघड़ स्वामी के पैर पखार, सुला कर, परदा खींच कर द्वार पर, निवृत्त हो, अकेला, लाल-हरी गोटियों से चौपड़ खेलता काल; 'नख-शिखान्त नीला/एक पक्षी/नीले पर्वत पर/ जिसकी छाया/ नीले जल में अविचलित// एक नीली विद्युत-रेखा/ गहरे नीले आकाश पर/ पसरती है क्षणार्ध भर// नीली तरल दृष्टिहीनता/ भरती है दृश्य में/ जिसकी चौखट भी समाहित हो जाती है/ और कुछ न होने से/और कुछ भी न दिखने से/ इस नीले में'; 'साँवली देह पर पड़ता धूप का आयत।/हल्के काले और गहरे बैंगनी से उभरा वह रंग जो अधरों पर खुला है, धूप की चौखट में नीला/ मध्य रात्रि का खिला कमल'; 'काम सरोवर में लहराती थी मोहिनी की निर्वसन, निर्लिप्त देह।/साँझ के सूर्य से सुनहरी हो गयी मुद्राओं का/ अपर्याप्त, अस्तव्यस्त अंगवस्त्र/कमलिनी के पत्ते-सा सतह पर डोलता था'; 'एक हरा पत्ता/पीले चन्द्रमा की एक किरच/और एक मत्स्यांगना/अपने काम-काज तज के/अन्धकार की एक शाखा पर/ मिलते हैं बीतती रात/और सूर्योदय पर वापस चले जाते हैं...

हम देखते हैं कि यह एक 'देखती हुई' कविता है। यह अत्युक्ति न होगी कि हिन्दी में शमशेर के बाद सम्भवतः कोई कविता इस क़दर बिम्बधर्मी नहीं है। और बिम्ब-प्रवण भी। चक्षु इस कविता की संकेन्द्रिक (कॅण्सेण्ट्रिक) ऐन्द्रियता का केन्द्र है। छूने, चखने, सूँघने, और सुनने के अगर कोई वलय इस कविता में बनते हैं, तो वे सब अन्ततः इसी केन्द्र की ओर अभिसरण करते हैं; उन सभी का पर्यवसान देखने में, दृश्य में, छवि में होता है (मसलन, 'क्लान्त देह पर मालकौंस का गाढ़ा लेप')। कविता में इन बिम्बों के विराट परिमाण को देखते हुए, ऊपर उद्धृत बिम्ब उस परिमाण का महज़ एक छोटा-सा संकेत - 'टिप ऑफ़ आइसबर्ग' - भर हैं, और कई कविताएँ आद्योपान्त मात्र एक बिम्ब में विन्यस्त हैं। और 'देखती हुई' कहने में (जैसाकि मैंने ऊपर कहा है) जिस गतिशीलता का भाव है, वह इन बिम्बों की ख़ासियत है : ये गतिशील बिम्ब हैं; कविता में घटित होते हुए, स्पन्दनशील दृश्य; बाहर और अन्दर से ठहरे हुए दृश्य ('स्टिल लाइव्स') नहीं (जैसाकि उनकी मेरी उपर्युक्त प्रस्तुति से लग सकता है)।

यह भी एक किंचित विरोधाभास-सा है कि जहाँ, एक ओर, अपने भीतर श्रुति के विषय (ध्वनि) की उदात्त और परिष्कृत संरचना (संगीत) के अभिप्रायों (यथा, मालकौंस, हंसध्वनि, केदार, राग, सुर, ताल, सम आदि) की आवर्ती उपस्थिति के बावजूद, और इस तथ्य के बावजूद कि ये संगीत-रचनाओं को सृष्टि-प्रक्रिया की अनूठी बन्दिशों में बाँधने की कोशिश करती हैं, स्वयं ये कविताएँ ध्वनिपरक या ध्वनिप्रवण नहीं हैं; वहीं, दूसरी ओर, इनकी बिम्बपरकता और बिम्बप्रवणता के बावजूद, रंगों, रंगतों, प्रकाश और अन्धकार के आवर्ती अभिप्रायों और चित्रमयता के बावजूद (जिनकी भी इन कविताओं में प्रचुर उपस्थिति है, जैसाकि हम, मसलन,

ऊपर के उद्धरणों में ही देख सकते हैं) इनमें चित्र के औपचारिक अभिप्राय लगभग नहीं हैं। लेकिन यह अनुपस्थिति ही शायद वह अवकाश रचती है जिसे ये कविताएँ अपनी चित्रमयता से, या, कम-से-कम चित्र हो जाने की अपनी आकांक्षा से भरती हैं।

क्या इसलिए कि चित्र में 'डिसओरिएण्ट' होने की सम्भावना, भाषा के मुक़ाबले ज़्यादा होती है? भाषा में दिशा का, रास्ते का, कम-से-कम एक भ्रम तब भी बना रहता है; उसमें आदि, मध्य और अन्त के बिन्दु होते हैं; पड़ाव चिह्नित होते हैं। चित्र हमें किसी भी दिशा से प्रवेश की, कहीं भी, कितनी ही देर तक ठहरने की गुंजाइश देता है, और इसीलिए 'दिशा' का उसमें तत्त्वतः कोई अर्थ नहीं होता; वह दिशाहीन होता है।

कहा जा सकता है कि तब भी, ये चित्र अन्ततः भाषा से ही तो निर्मित हैं; वे भाषा की 'व्यवस्था' के भीतर ही तो अवस्थित हैं। अपनी चित्रात्मकता में वे भले ही हमें किसी भी छोर से प्रवेश की गुंजाइश देते हों, लेकिन क्या हमारा हर प्रवेश भाषा के दिशा-निर्देशों का अनुसरण करने को बाध्य नहीं होता? और, वैसे भी, क्या बिम्बधर्मिता भाषा-मात्र का एक स्वाभाविक लक्षण नहीं है? 'पेड़' शब्द या 'लड़की जा रही है' जैसा सरल-सा वाक्य भी अन्ततः हमारे मन में छवि ही तो जगाता है।

निश्चय ही। लेकिन इस तरह के शब्द या वाक्य या ज़्यादातर सायास गढ़े गये भाषिक बिम्बों द्वारा जगायी गयी छवियाँ हमारे देश-काल में अभिविन्यस्त होती हैं। भाषा और उसके द्वारा उद्बुद्ध छवियों के बीच एक तरह की रूढ़िजन्य सजातीयता होती है। यह सजातीयता ही भाषा में हमारे विश्वास और व्यवहार का आधार होती है; उसकी दुनिया के आभासी होने के बावजूद, उसमें रहते हुए हम अपनी वास्तविक दुनिया में होने जैसा, सहज, 'एट होम' महसूस करते हैं - कुछ-कुछ उसी तरह जैसे मुद्रा ('करेन्सी') पर अंकित वचनवद्धता उसमें हमारे विश्वास का आधार होती है; उसका स्वामित्व हमें, उसके अनुपात में, वस्तुओं के स्वामित्व का बोध कराता है।

लेकिन शिरीष की कविता के अधिकांश बिम्बों में, ऐसी कोई सजातीयता, कोई आश्वासन नहीं है। इनमें से अधिकांश बिम्बों का कोई सादृश्य हमारी उस दुनिया के दृश्यों से नहीं हैं जिसे हम 'यथार्थ' कहते हैं। ये 'यथार्थ' दुनिया के दृश्यों से विनिमेय नहीं हैं। ये जिन शब्दों से बुने गये हैं, भाषा से उन शब्दों के अर्थ लेने के बावजूद अपनी संरचना में स्वायत्त और अनन्य हैं, या केवल उस कविता के प्रति उत्तरदायी हैं जिसका वे अंग हैं, और जो, इस तरह, स्वयं भी अपनी संरचना में स्वायत्त और अनन्य और केवल अपने प्रति उत्तरदायी है। यही, भाषा में इन कविताओं के आवास का द्वैध है : भाषा के भूगर्भ से ही अपनी प्रतिरोधक क्षमता अर्जित कर, भाषा का प्रतिरोध करते हुए भाषा में होना। और अगर, इन कविताओं में अन्वेषित दुनिया के सन्दर्भ में, ऊपर के वाक्य में 'भाषा' की जगह 'दुनिया' शब्द रख दिया जाए, तो शायद यह उससे ज़्यादा असंगत अनुवाद न होगा, जितना स्वयं भाषा इस दुनिया का अनुवाद है। होने का यह ढंग, अकबर इलाहाबादी के शब्दों में, शायद, कुछ-कुछ इस तरह का है कि 'दुनिया में हूँ, दुनिया का तलबगार नहीं हूँ/बाज़ार से निकला हूँ, ख़रीदार नहीं हूँ'।

लेकिन हम बिम्बों की चर्चा कर रहे थे, और इस सन्दर्भ में, ग़ालिब का स्मरण अप्रासंगिक न होगाः 'दिल मत गँवा, ख़बर न सही, सैर ही सही/ ऐ बेदिमाग़, आईना तिमसालदार है।' क्या ये अन्तहीन बिम्ब इस कविता को, और उसके अवबोध में आकार लेती दुनिया को, एक 'तिमसालदार आईने' में नहीं बदल देते? अन्तहीन छवियों से भरा हुआ आईना। अन्तहीन, विविध, परस्पर भिन्न, और जब-तब एक-दूसरे को प्रति(-)बिम्बित करती छवियों से निर्मित दुनिया। ऐसी दुनिया 'डिसओरिएण्ट' कर सकती है, बेख़बर कर सकती है। तब भी उसमें 'सैर' तो की ही जा सकती है, भटका तो जा ही सकता है।

ऊपर मैंने जिस 'अनन्य' पद का प्रयोग किया है, उसे इन कविताओं के सन्दर्भ में अनिवार्यतः रेखांकित करने के लिए मैं उसके स्थान पर अनन्वय पद का इस्तेमाल बेहतर समझता हूँ। यह पद भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित अर्थालंकार के अन्तर्गत 'अनन्वय अलंकार' से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि शिरीष की कविता के सन्दर्भ में इस पद का प्रयोग मैं इस अलंकार के अर्थ में नहीं कर रहा हूँ, परिप्रेक्ष्य के तौर पर यहाँ इस अलंकार की थोड़ी-सी चर्चा आवश्यक है।

शब्दकोषों के अनुसार अनन्वय वह अलंकार है 'जिसमें किसी वस्तु की तुलना उसी से की जाए - और उसको ऐसा बेजोड़ सिद्ध किया जाए जिसका कोई और उपमान ही न हो' (मसलन, आकाश आकाश की तरह था)। इसी के साथ, शब्दकोषों के ही मुताबिक़, 'अनन्वय' का अर्थ 'सम्बन्ध का अभाव' भी है। यह दूसरा अर्थ हमें यह कहने की गुंजाइश देता है कि 'अनन्वय अलंकार' के पीछे सक्रिय दृष्टि उससे 'अलंकृत' वस्तु में किसी भी अन्य वस्तु से 'सम्बन्ध का अभाव' देखती है। लेकिन अगर इसे अलंकार की सीमा से आगे ले जाकर वस्तु-जगत-मात्र के सन्दर्भ में देखा जाए, तो यह 'देखने' का प्रश्न नहीं रह जाता, बल्कि इस जगत के यथार्थ दृश्य को उपस्थित करता प्रतीत होता है : यह जगत विषमताओं से निर्मित है; उसमें किसी भी चीज़ का किसी भी दूसरी चीज़ से कोई सम्बन्ध, कोई सादृश्य नहीं है; हर वस्तु अपने में अद्वितीय है।

तब फिर 'अनन्वय' में 'अलंकार' किस चीज़ में है? वह दरअसल अलम्-करण के स्वाँग में है; आप दरअसल अलंकार रचते नहीं हैं, रचने का बहाना करते हैं, और यह बहाना ही अलंकार का रूप ले लेता है। आप किसी वस्तु की अनन्यता, अद्वितीयता, विषमरूपता में अन्यता और समरूपता का, और इस तरह उसकी अलंकरणीयता का आभास पैदा कर - उसकी अविभाज्यता में उपमेय और उपमान के विभाजन का भ्रम पैदाकर - उसकी अनलंकरणीयता को उभारते हैं। आप एक ऐसा अलंकार गढ़ते हैं, जो वस्तु को अलंकृत करने के क्षण में ही उसे अनलंकृत करता है; उसे ढँकने के क्षण में, ढँकने की प्रक्रिया में, ही उसे उघाड़ता है। यह वस्तु की अन्यथा अलक्षित दिगम्बरता (न्यूडिटी) को स्वयं उसी से अतिरंजित कर उसे दृष्टि के केन्द्र में लाना है। भाव के आवरण से अभाव का अनावरण।

अब अगर हम देखें कि अनन्वय और अन्वय परस्पर विलोम हैं, और इस नाते अनन्वय से इतर सारे अर्थालंकार (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि) भी अन्वयमूलक और अनन्वय अलंकार के विलोम हैं, तो स्वाभाविक ही यह कहा जा सकता है कि अन्वय के पीछे सक्रिय दृष्टि इस जगत की मूलभूत विषमरूपता पर

समरूपता, सम्बन्ध, सादृश्य, साहचर्य (जोकि 'अन्वय' के शब्दकोषीय अर्थ भी हैं) आदि का आरोपण है और ये सारे अन्यवयमूलक इतर अर्थालंकार इस आरोपण की उपज हैं। वस्तुतः यह आरोपण ही है जिस वजह से इन्हें 'अलंकार' कहा जाता है। इस शब्द में ही यह विवेक निहित है कि यह वाणी का, वस्तु का, 'अलम्(त्रअतिरेकी)-करण' है, स्वतः-वाणी, स्वतः-वस्तु नहीं है। सौन्दर्य का स्रोत कवि-कल्पना के इस चमत्कार में ही है कि वह दो सर्वथा अद्वितीय, विषम, असम्बद्ध, वस्तुओं के बीच सादृश्य रच देती है।

इस तरह हमें यह सूत्र हाथ लगता प्रतीत होता है : अन्वय के बरक्स अनन्वय त्र सादृश्य के बरक्स स्वाँग। यद्यपि सादृश्य के विधान में कल्पना ही होती है, लेकिन यह कल्पना सर्वथा निराधार नहीं होती : वह उपमेय और उपमान के गुण-धर्मों के बीच सादृश्य पर आधारित होती है (भले ही ये गुण-धर्म भी कल्पित ही क्यों न हों)। जबकि स्वाँग में उपमेय और उपमान चूँकि एक ही होता है, उसमें सादृश्य की गुंजाइश नहीं होती, आप सादृश्याभास से यह गुंजाइश (प्ले) रचते हैं - मानो, हवा में गाँठ लगाते हुए।

प्रसंगवश यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और इनके भेदोपभेद अनूठे नवाचारों के साथ हिन्दी की अधिकांश कविता में आज भी प्रयुक्त होते हैं, अनन्वय अलंकार और उसके नवाचार न सिर्फ़ आज की कविता में, बल्कि प्राचीन कविता में भी लगभग दुर्लभ हैं (विनोद कुमार शुक्ल की कविता, आधुनिक कविता के सन्दर्भ में, इसका सम्भवतः अकेला अपवाद है, जिस पर इस सन्दर्भ में मैंने अपनी पहली पुस्तक कविता का व्योम... में अपेक्षाकृत विस्तार से चर्चा की है)। क्या कारण हो सकता है? एक तो निश्चय ही यही है कि इन अनन्वयेतर अलंकारों में चमत्कार की, सौन्दर्य की, कवि-कल्पना के निवेश, या आविष्कार की सम्भावना अधिक होती है। लेकिन एक अन्य कारण क्या यह नहीं हो सकता कि यह सादृश्यमूलक ('रिप्रेजेण्टेशनल') कल्पना हमारी विश्वदृष्टि में ही संक्रमित और रूढ़ हो गयी हो? कि वह महज़ सौन्दर्य-दृष्टि (सौन्दर्य को उत्प्रेरित करने वाली दृष्टि) न रह जाकर हमारी नैतिक दृष्टि बन गयी हो? कि अन्वय, यानी सम्बन्ध, साहचर्य, युक्तिसंगति, कार्य-कारण, सहवर्तिता आदि विश्व के हमारे अवबोध (पर्सेप्शन) का अंग बन गये हो? मापदण्ड, तुलना, व्यवस्था आदि के उत्प्रेरक?

जो भी हो, लेकिन जब हम कविता के स्वरूप की ओर ध्यान देते हैं, तो पाते हैं कि हमारी अधिकांश कविता के साथ समस्या यह नहीं है कि 'अनन्वय' या 'सम्बन्ध का अभाव' उसकी आलंकारिकता का अंग नहीं है, समस्या यह है कि वह उसकी तत्त्व-दृष्टि का अंग नहीं है। अन्वयपरकता (सादृश्य या वस्तुओं के बीच सम्बन्ध का भाव) इस कविता की आन्तरिक सौन्दर्यान्विति या अलंकरण के उपकरण मात्र के रूप में नहीं, बल्कि कविता की तत्त्वदृष्टि के रूप में उभरती प्रतीत होती है। परस्पर असम्बद्ध वस्तुओं/स्थितियों के बीच सादृश्य या सम्बन्ध की कल्पना कर वह सिर्फ़ अपने अलंकार नहीं गढ़ती, बल्कि इस कल्पित सादृश्य/सम्बन्ध की पदावली में ही वस्तु-जगत का निरूपण भी करती है। इस प्रक्रिया में कविता के अंगराग और अंगों के बीच, साधन और साध्य के बीच, सौन्दर्य-दृष्टि और तत्त्वदृष्टि के बीच कोई फ़र्क नहीं रह जाता। उसके अन्दर रची गयी दुनिया में ऐसी कोई अद्वितीयता नहीं होती जिसके आधार पर आप उसके

बारे में अनन्वय की पदावली में बात करते हुए यह कह सकें कि 'यह कविता इस कविता की ही तरह है'; ऐसा आप, ज़्यादा-से-ज़्यादा, सिर्फ़ उसकी शाब्दिक संरचना के बारे में ही कह सकते हैं।

शिरीष की कविता इसी नुक़्ते पर हमारा ध्यान सबसे ज़्यादा आकर्षित करती है। अनन्वय उसकी आलंकारिकता का अंग नहीं है; वह उसकी विश्वदृष्टि है। प्रथमदृष्ट्या वह अत्यन्त अलंकार-गझिन, और इस अर्थ में अत्यन्त अन्वयपरक है। लेकिन जहाँ एक ओर, उसकी उपमाओं, रूपकों आदि को गढ़ने वाले साहचर्यों ('असोशिएशन्स') की जब-तब लगभग अतीन्द्रियता को छूती कल्पना उसकी इस आलंकारिकता को कुछ इस क़दर असामान्य रूप से अद्वितीय बना देती है कि आप, मसलन, उसकी उपमाओं को 'अनुपम उपमा' जैसा कुछ कह सकते हैं, वहीं दूसरी ओर वह अपनी समग्र अन्विति में इस अन्वयपरकता के बरअक्स ऐसे रूपाकार, दृश्य, घटनाएँ, संघटनाएँ रचती है जो अपने में सर्वथा अद्वितीय, अनुपम हैं। और इस अनन्वयपरक अन्वयपरकता और विशुद्ध अनन्वयपरकता का सन्निधान ('जक्स्टपॅज़िशन') कुछ ऐसी 'इकॉनॉमी' के साथ किया गया है कि वे एक आसन्न किन्तु लम्बित संसर्ग की सम्भावना के साथ एक-दूसरे को विमोहित ('सेड्यूस') करती लगती हैं। इस तरह ये कविताएँ हमें सम्बन्ध और सम्बन्धाभाव की सरहदों के बीच के उस मुबहम इलाक़े (एक तरह की 'नो मेन्स लैण्ड') में ले जाती हैं जिसका अस्तित्व सिर्फ़ कवि की कल्पना में है; एक स्वाधीन, स्वायत्त इलाक़ा - कुछ-कुछ तारकोव्स्की की स्टॉकर के उस 'ज़ोन' की भाँति जिसका अस्तित्व सिर्फ़ स्टॉकर की कल्पना में है। ऐसा इलाक़ा जो खुद भी 'डिसओरिएण्टेड' है, और जहाँ सम्बन्धों की दुनिया से आया पाठक भी 'डिसओरिएण्टेड' महसूस करता है। न सिर्फ़ 'डिसओरिएण्टेड' बल्कि, 'ज़ोन' की ही भाँति, एकसाथ तबाही और जीवन के स्पन्दनों से, 'बिटर-स्वीट हैप्पीनेस' से युक्त।

'डिसओरिएण्ट' करते इस मुबहम इलाक़े में उभरते रूपाकारों, दृश्यों, घटनाओं, संघटनाओं को जिस एक प्रत्यय से सटीक ढंग से चिह्नित किया जा सकता है, वह है इडिऑस (*Idios*)।

सामान्य तौर पर, कविता की विश्वसनीयता का स्रोत उसके जिन आकर्षणों में देखा जाता रहा है, उन्हें तीन प्रत्ययों में समेटा जा सकता है : एक उसका नैतिक - राजनैतिक, सामाजिक - औचित्य (ईमानदारी, प्रामाणिकता, प्रतिबद्धता आदि); दूसरा, भावात्मक औचित्य (उसकी रस-रुचिरता, भावनात्मक शक्ति, सौन्दर्यपरक आकर्षण आदि); और तीसरा, उसका तार्किक औचित्य (हमारे विवेक या न्याय-बुद्धि को उत्प्रेरित कर सकने की उसकी क्षमता आदि)। किंचित सरलीकरण का जोख़िम उठाते हुए कहा जा सकता है कि ये प्रत्यय मूलतः अरस्तू के काव्यशास्त्र के इथॉस, पैथॉस और लोगॉस को प्रतिध्वनित करते हैं। ये प्रत्यय अपनी समन्वित शक्ति के साथ जिस आदर्श कविता की रचना करते हैं, वह हमारी आलोचना का सपना रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस आदर्श (=दर्पण) में उभरता सन्तुलन जिस चीज़ का प्राणाधार है वह संस्कृति है। वह एक साझा संसार है। उसमें सार्वजनीनता, सर्वनिष्ठता, सामान्यता, संरचनात्मक समन्विति, सन्तुलन, संगति, सामंजस्य, स्वस्थमनस्कता, संरक्षण आदि प्रधान मूल्य हैं। इन लगभग सभी मूल्यों की प्रतिध्वनि हम हिन्दी आलोचना के प्रथम पूर्वज आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के काव्यशास्त्र (विशेष रूप से

'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचिष्यवाद' पर केन्द्रित उनके विमर्श) में सुन सकते हैं, और सारी प्रगतिशीलता और 'नये प्रतिमानों' की वकालत के बावजूद यही मूल्य पदान्तर और प्रकारान्तर से, आज तक तत्त्वतः लगभग जस-के-तस बने हुए हैं। यह काव्यशास्त्र काव्यानुभव की विशिष्टता, व्यक्तिनिष्ठता में विश्वास तो करता है लेकिन उसी हद तक जिस हद तक उस अनुभव में स्वयं को सामान्य-साध्य, सामान्य-विनियोज्य, लोकोन्मुख बनाने की सामर्थ्य हो। इस तरह वह विशेष या अनन्य को सामान्य, समान, अभिन्न, अन्वय, साहचर्य आदि के अधीन कर देता है।

नतीजतन, इस काव्यशास्त्र में कविता और उसके पाठक, दोनों के सन्दर्भ में सर्वथा निजी, अनन्यनिष्ठ, अनन्यविनियोज्य, वि-जातीय, वि-शिष्ट, वि-लक्षण के लिए, दूसरे शब्दों में, उस चीज़ के लिए लगभग कोई जगह नहीं रह जाती जिसे हम इथॉस, पैथॉस और लोगॉस के बरक्स इडिऑस जैसा कुछ कह सकते हैं - नितान्त स्वमूलक, निजी, अलग, भिन्न, विशिष्ट, विलक्षण (ग्रीक भाषा में *Idios kosmos* वह विश्व है जो सर्वथा निजी अनुभवों और ज्ञान के आधार पर विकसित है, और जो *Koinos Kosmos*, यानी साझा विश्व का विलोम है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि 'ईडियट' और 'इडियोसिन्क्रटिक' का उत्स भी 'इडिऑस' में है, और यही 'इडिऑस' चेतना के विक्षेपों, जैसेकि 'स्किज़ोफ्रीनिया', स्वप्न, सरसामी आदि में भी प्रतिबिम्बित होता है। और 'डिसओरिएण्टेशन' में भी)।

शिरीष की कविता ऐसा ही इडिऑस कॉस्मॉस रचती है, जहाँ, मसलन, एक क्षिप्र धारा पर डोलती नौका केवल अनुपस्थित के भार से डगमगाती है; जिसमें अदृश्य पर्वतों से मार्ग पूछता है अश्वारोही'; जिसमें 'उदार एक सरिता बहती है/ऐसे कि नहीं बहती हो जैसे/तट पर उसके चलता है कोई/ऐसे कि नहीं चलता हो जैसे//...कोई छाया है/जो देह को ढकेलती है/ऐसे कि निश्चल खड़ी हो जैसे'; 'जहाँ स्वप्न/सृष्टि के पथ पर चलते है'; जहाँ 'अन्यमनस्क अग्नि/अन्न को आँच देना भूल जाती है/पानी ठहरता नहीं पात्रों में'; जहाँ अग्नि की एक नीली लपट की आँख से पानी झरता है; जहाँ 'अन्धकार के ताप से तपता है जल'; जहाँ जीवन जाता भी नहीं/और मृत्यु आ चुकी होती है'; जहाँ 'चित्र के वृक्ष की छाया में/चीथड़े पहने एक काया/एक छाया/वर्षा के छद्म से बचती दिखती है'; जहाँ स्वप्न को हाथ बढ़ाकर छुआ जा सकता है; जहाँ 'रेत के कण में,/अन्तःकरण में/जो भी कामना/कभी, कहीं किसी के भी संग/बनाने की रही हो यदि/उसी कामना से रची नौका/मरुस्थल के गर्भ में रेंगती सरिता पर/प्रेम की छायाओं को/पार लगाने बढ़ती है''; और जहाँ एक गंगा में दो गंगाएँ और एक बनारस में तीन बनारस हैं :

एक अविराम स्वप्न के विस्तृत अवकाश में पसरी
जागृत पगडण्डी के दोनों ओर
बहती हैं नदियाँ
एक गंगा
और

एक गंगा

गर्भ में इन नदियों के
बसे हुए हैं जीते-जागते
दो नगर
एक बनारस
और
एक बनारस।

इन नगरों की छायाएँ हैं
तट पर
घाट पर
कभी-कभी
आकाश पर।

यह तीसरा बनारस है
विरल और पैरों तक
जल में डूबा।
यहीं इसकी प्रजा रहती है
जो मृत्यु को
किसी नटिनी की तरह
जीवन की तनी हुई रस्सी पर चलता देख रही है
सतत।

यहीं
अपने औघड़ स्वामी के पैर पखार कर
उसे सुला कर
परदा खींच कर द्वार पर
और इस तरह निवृत्त होकर
काल

चौपड़ खेल रहा है अकेला
लाल-हरी गोटियों से।

यहीं
हर चित्र में उकेरी मुखाकृतियाँ
धुँधली हो जाती हैं
चिता से उठते धुएँ से
और हर उकेरे चित्र के काग़ज़ पर बसी होती है
अभी-अभी जाये शिशु की
देह-गन्ध।

ये अप्रत्याशित, अपूर्वानुमेय, असंगत संगतियाँ हैं। 'सर्रियल' घटनाएँ। स्पष्ट ही ये प्रदत्त के निरूपण नहीं हैं, न ही किसी साझा भव या अनुभव के हिस्से हैं। अगर हम इन बिम्बों को अपनी अभिविन्यस्त ('ओरिएण्टेड') अवस्थिति के परिप्रेक्ष्य में देखें, तो ये निश्चय ही एक विक्षिप्त दृष्टि की, 'स्किज़ोफ्रीनिया', स्वप्न, सरसाम की अवस्था की उपज हैं; भाषा के सार्वजनीन भण्डार से उठाये गये शब्दों से गढ़ी गयी एक सर्वथा निजी ज़ुबान का कृतित्व जो भाषा के सम्प्रेषणात्मक स्वत्व में संश्लिष्ट उसके असम्प्रेषणीय अन्य को स्पन्दित कर देता है। यह 'इडिऑस' ही इस कविता के प्रत्यायन की विधि ('मोड ऑफ़ पर्सुएशन') है। इसी के सहारे वह पाठक को अपने 'कॉस्मॉस' में आमन्त्रित करती है - उस 'अरण्य' में जो काल की परिधि से बाहर बसा' है। यह निश्चय ही यह कोई आकर्षक प्रलोभन नहीं है, क्योंकि इससे आकर्षित होकर, इस 'कॉस्मॉस' में प्रवेश करने पर आप एक ऐसे दरवाज़े के चित्र के सामने होते हैं जो, रहस्योद्दीपक ढंग से, हल्का-सा खुला हुआ है; और जब आप उस नीम-खुलेपन से, 'परिचय के उस पार मँडराती पदचाप' से, विमोहित होकर उस दरवाज़े को खोलने की कोशिश करते हैं, तो फिसलकर उसके दूसरी तरफ़ पहुँच जाते हैं - स्वयं अपने उस इडिऑस, अपने उस 'सबआल्टर्न' स्वत्व के समक्ष जो अब तक आपके ही अन्दर उपेक्षित, सुसुप्त, निष्क्रिय पड़ा हुआ था। यह इडिऑस कॉस्मॉस एक प्रति-'यूटोपिया' है - उस 'युटोपिया' का प्रतिलोम जिसे गढ़ने की कोशिश हर तरह की व्यवस्था करती है, जिसमें आपकी 'दैहिक, दैविक, भौतिक' लालसाओं की सन्तृप्ति, उनकी समस्याओं के समाधान, का आश्वासन निहित होता है। इस 'कॉस्मॉस' में लालसाओं से मुक्ति की सम्भावना है - उनके मर जाने के अर्थ में नहीं, बल्कि उनके लिए आपके मर जाने के अर्थ में। तब भी वह एक (-)'युटोपिया' है क्योंकि यह मृत्यु हमेशा आपकी सम्मोहित प्रतीक्षा के लक्ष्य पर बनी रहती है - सुधीर चन्द्र का पद इस्तेमाल कर कहें तो, एक 'असम्भव सम्भावना' के रूप में।

सम्भवतः इसीलिए यह कविता, पहली ही नज़र में, अस्थाने/असामयिक ('आउट ऑफ़ प्लेस') प्रतीत होती है। वह जिस देश-काल में लिखी जा रही है, उससे और उसके प्रभावी विक्षेपों से प्रतिकृत, प्रतिश्रुत नहीं है, या उसके राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रश्नों से विमुख है; उसका विग्रह जिन शाश्वत प्रतीत होते भावों और संचारियों में विन्यस्त और उनसे अनुप्राणित है, उनके न सिर्फ़ कोई वर्तमान या ऐतिहासिक सन्दर्भ उसमें नहीं हैं, बल्कि, जैसाकि हमने ऊपर संकेत किया है, बावजूद इसके कि उसकी शब्दावली स्पष्ट तौर पर पौराणिक या मिथकीय प्रतीत होती है, उसमें उन भावों और संचारियों के पौराणिक या मिथकीय सन्दर्भ भी नहीं हैं। इन तमाम अर्थों में वह सन्दर्भ-च्युत है। और इस अर्थ में, हम चाहें तो कह सकते हैं, वह नैतिकता-निरपेक्ष है। यह नहीं कि वह नीति-अनीति, न्याय-अन्याय के प्रश्नों के प्रति उदासीन है, उलटे इन प्रश्नों से वह बिंधी हुई है। उदासीन वह इन प्रश्नों के उन सन्दर्भों, विधियों और न्यायाधिकरणों के प्रति है जहाँ ये प्रश्न इन सन्दर्भों आदि को न सिर्फ़ अतिक्रान्त नहीं कर पाते, बल्कि इनकी सापेक्षता में सिमट, सिकुड़कर रह जाते हैं; इनके बदलने के साथ बदलते जाते हैं। शिरीष की कविता इन प्रश्नों को 'ग़म-ए-हस्ती' के उस स्तर पर उठाती है जहाँ ''शम'अ हर रंग में जलती है सहर होने तक''। ज़ाहिर है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह नियतिवादी है, लेकिन जहाँ वह उन मानव-स्थितियों के प्रति बेख़बर नहीं है जो 'नियति' की तरह व्यापती हैं, वहीं वह उस प्रतीयमान नियति को बेधकर हस्ती और सम्भवन (जिसमें स्वयं इस बेधक कविता का होना शामिल है) की उस विडम्बना और विद्रूप को उजागर करती है जहाँ मानव-स्थिति और मानव-नियति एक दूसरे के अनुवाद प्रतीत होते हैं। और यह रेखांकित करना आवश्यक है कि इन कविताओं का हासिल यह परस्पर अनुवादेयता का बोध नहीं, उसे प्रतिबिम्बित करती, उससे प्रतिबिम्बित होती उक्त विडम्बना और विद्रूप हैं:

मैं चला
हज़ार वृक्षों की छाया से लिथड़ी एक दिशा,
विरह होगा अन्त पर
यह जान कर

जाता जो
सुनहरे सरोवर से सटी
दूसरी दिशा
विरह ही होता अन्त पर
यह भी जानकर
- 'विधाता'

जो त्याग कर राग
चले गये थे कहीं अज्ञात
और जो साँझ पड़े
लौट आये थे रंगशाला में
दोनों नहीं जानते थे
किसे क्या मिला
- 'निर्णय'

सब आते
आधी कुम्हलायी
गेंदे की सस्ती मालाओं जैसे
फूल कम
सूत अधिक।
पैरों के अँगूठे से ठण्डी पड़ती काया को
काया से अधिक अपनी छाया को
दिलासा देते लौट जाने की बेला
लौटने का पथ
मन में गुनते, बुनते
इस ठौर न आने का प्रण करते।

लौटता है कौन लेकिन
और
आता ही कौन है यहाँ।
- 'दो कोस'

जैसे कोई आता है यहाँ तक
वैसे ही जाता है पार यहाँ से

जो कुछ राख-सा था तप्त
वही सब पानी है
जैसे उस पर रखता था पैर
वैसे ही इस पर रखता है पैर

पैर रखना ही
पैर रखना है

देह को धकेल देना ही
देह को धकेल देना है

यहाँ होना ही
पार यहाँ से
– 'गंगा' ३, उच्चारण

अस्तित्व की इस विडम्बना और विद्रूप का, और – जैसाकि मैंने ही शिरीष की कविता पर अन्यत्र टिप्पणी करते हुए कहा है – 'होने के परिताप' और उसके 'धर्मनिरपेक्ष अध्यात्म' का बोध ही इन कविताओं का स्थायी भाव है। और यह स्थायी जिन संचारियों, उद्दीपनों और अनुभावों में रस-ध्वनित होता है उनमें रिक्ति, शून्यता, निस्सारता, विरक्ति, निस्पृहता, निर्वेद, निरुद्देश्यता, निरुद्देश्य प्रतीक्षा, अकेलापन, एकाकीपन, उपेक्षा, अकिंचनता, अनुपलब्धि, अवसाद, ऊब, अनिद्रा, विस्मृति, भय, आशंका, पश्चाताप, स्वेद, आखेट, घाव, विलाप और आर्तनाद आदि शामिल हैं। और मृत्यु का तीखा बोध भी, जो 'देह पर अपनी अन्तिम बूँद तक झरती मृत्यु'; 'पथ पर काँच की किरचों जैसी बिखरी पड़ी मृत्यु'; 'प्रत्येक श्वास, प्रत्येक उच्छ्वास के साथ बाहर उलीचा जाता जीवन'; 'नीली लौ में पिघलती काया'; 'रेत में, राख में बदलती देह'; घटती, विलीन होती देह'; 'बेसुध गठरी (देह) को सधे हाथों उठाती मृत्यु'; 'कुम्हालाती दूब'; 'अन्त की गाँठ पड़ा अनन्त का धागा'; 'मरणासन्न अश्व, मृत अश्वारोही'; 'अपने मृतकों का विलाप करती पृथ्वी'; 'कभी न लौटने के लिए किसी के जा चुके होने की पैरों से लिपटती गन्ध'; 'पत्तों की तरह झरते स्वप्न' जैसे अन्तहीन अभिप्रायों में व्यंजित होता है।

यह अकारण नहीं कि 'नीला' इन कविताओं में आवर्ती पद है। इस रंग की उन चित्रों में बहुत प्रभावी उपस्थिति है जिन्हें यह कविता गढ़ती है, या जिनमें वह रूपायित होती है। अनुलम्बता (ऊपर आकाश, नीचे समुद्र), विस्तार, अवसाद, विभ्रम, रहस्य, खुलापन और स्वतन्त्रता जैसे अर्थों को व्यंजित करता यह रंग

कविता में जहाँ प्रगट होता है, वहाँ वह इनमें से किसी न किसी अर्थ का तो निवेश करता ही है, लेकिन इससे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि कविता में ये सारे अर्थ इस क़दर गझिन हैं कि उसमें यह 'नीला', अपनी अनुपस्थिति के बावजूद झिलमिलाता रहता है।

अपने स्वभाव में अस्तित्व की अवतलता (कॉन्कैविटी), विषाद, न्यूनता की ओर उन्मुख, यही वे सारे भाव हैं जो, अपने स्वभाव में उत्तल (कॉन्वैक्स) उस ऐश्वर्यपूर्ण, भव्य, विलासमय प्रतीत होती शब्दावली में आरेखित हैं जिसे हमने इस निबन्ध के आरम्भ में उद्धरित किया है। भाव और भाषा के बीच समता के रूढ़ अनुबन्ध को तोड़ती, और अन्ततः अस्तित्व के मर्म में पैठे अन्तर्विरोध की ओर इंगित करती एक कविता है 'निर्णय' जो इस विषमता का बहुविध आख्यान गढ़ती है। इस कविता से एक पंक्ति लेकर कहें तो, यह शब्दावली 'निस्पृह की अंजुरी में पड़ते वैभव के आभूषण' जैसी है। और अगर इस निबन्ध के आवर्ती अभिप्राय की ओर एकबार फिर रुख करें, तो क्या ये भाव और भाषा - 'निस्पृह की अंजुरी' और 'वैभव के आभूषण' - भी एक-दूसरे के सन्दर्भ में 'डिसओरिएण्टेड' नहीं हैं? और क्या इसीलिए 'जो त्याग कर राग/चले गये थे कहीं अज्ञात/और जो साँझ पड़े/औट आये थे रंगशाला में/ दोनों नहीं जानते थे/ किसे क्या मिला'? निस्पृहता और स्पृहा की इस एकल विडम्बना में साझेदारी ही अस्तित्व का वह अन्तर्विरोध है, जिसकी ओर मैंने ऊपर संकेत किया है।

अपने अर्थ के लिए ये कविताएँ शब्द पर उतना नहीं, जितना वाक्य पर निर्भर करती हैं; कुछेक कविताएँ तो लगभग दो-एक वाक्यों में विन्यस्त हैं। और ये वाक्य, अक्सर, लम्बे, मिश्र, संश्लिष्ट, विशेषण-बहुल और पेचीदा होते हैं; अर्थ की एक अपेक्षाकृत विस्तृत और किंचित भूलभुलैयानुमा स्पेस रचते हुए। उदाहरण के लिए : 'हिमशिला से ठोस, काल के एक त्रिभुज में, पिंजरे में जैसे नीला पक्षी, मेरी वह देह, निर्विकार, निःशब्द, निराकार, गहन अन्धकार में काँपती है भय से, और उस भीति के अस्थि-मज्जा तक धँसे होने का अभिनय भी हो सके, ऐसी मुखमुद्रा, जो लाये से न ला पाऊँ, उसके न आने से अकुलायी मेरी वह देह, जो शिरच्छेद के बाद गज दो गज चले डगमग, काँपती है चलते-चलते।' ('मृगया')। लेकिन हम देख सकते हैं कि यह वाक्यपरकता, वाक्यों की संश्लिष्टता और जटिलता, और वाच्य का भूलभुलइयानुमा, 'डिसओरिएण्टिंग' विन्यास आदि ये सारी चीज़ें, वस्तुतः, स्वयं इस कविता द्वारा रचे गये वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में, मानव-स्थिति (या मनुष्य की गति) के लक्षण बन जाते हैं।

जिस अन्तर्विरोध का मैंने ऊपर ज़िक्र किया है, वह बहुत मारक और रक्तरंजित है; हिंसा से ओतप्रोत। इस क़दर कि लगता है जैसे ये कविताएँ हिंसा को सृष्टि या अस्तित्व के उत्प्रेरक बल ('लिबिडो'?) की तरह देखती हैं। उदाहरण के लिए हम ये दो कविताएँ देखें (जिनमें पहली उनके पिछले कविता-संग्रह रेत है मेरा नाम से है) :

एक निस्तेज सूर्य का
उदय होता है

अन्तिम प्रहर तक छूटा न हो
सुरा का संग जैसे
वैसे डोलता है पथ पर

अपनी असहाय रश्मियों के जाल में
असहाय
पृथ्वी पर प्रकाश की जगह एक
पीला अवसाद उलीचता रहता है वह
रात एक बाघिन की तरह
उस पर घात लगाये बैठी रहती है

अचानक आकाश का एक कोना
रक्त से भर जाता है!
- 'अचानक', पर यह तो विरह

अपने एक छोर से
रिक्त होती जाती है वह
रिस-रिसकर
वसुन्धरा के कपाल पर

हिंसक अरण्य
उस अन्धकार को सोख लेता है
अपनी जड़ों से

देवताओं के आसन
फिर पवित्र हो जाते हैं,
सूर्य के ध्वज से सुनहरे अरण्य
अपनी परिधि पर

हरे बिरवे देख इठलाते हैं

अपनी अमर्त्य काया लेकर
यामिनी फिर उभर आती है,
रससिक्त, सम्पृक्त और
अपने वध के लिए
प्रस्तुत

– यामिनी

हम सहज ही देख सकते हैं कि इन दोनों ही कविताओं की विषय-वस्तु नितान्त साधारण और चिरपरिचित है : कहा जा सकता है कि पहली कविता में जाड़ों के एक दिन के आदि से अन्त तक का, और दूसरी कविता में रात के बीतने और फिर से घिरने का वर्णन है। लेकिन इन कविताओं की (जैसेकि इस उपाधि के योग्य किसी भी कविता की) आविष्कारशीलता इनकी इन विषय-वस्तुओं में नहीं, बल्कि इन्हें रंजित करने वाली उस दृष्टि में, इनके अवबोध की उस विधि में है जो इन्हें अद्वितीय शक्ल प्रदान करती है, और जो इन विषयों के अनुभव की साझा दुनिया (संस्कृति) में अब तक अनुपस्थित रहे एक अनन्य अन्य का समावेश करती है : शराब के नशे में चूर लड़खड़ाता, अपनी 'असहाय रश्मियों' में बँधा, और 'प्रकाश की जगह असहाय अवसाद उलीचता सूर्य; (रात के) अन्धकार का रक्त की तरह वसुन्धरा के कपाल पर रिसना, उस रक्त को हिंसक अरण्य का अपनी जड़ों में सोखना, रात का हर रोज़ अपने वध के लिए प्रस्तुत होना.. .। यह दृष्टि, या अवबोध की यह विधि, पाठक को अनुभव के जिस धरातल पर, सृष्टि या अस्तित्व के जिस बोध तक ले जाती है, उसमें इन कविताओं की विषय-वस्तु एक 'डिस्पोज़ेबल' साधन से ज़्यादा कुछ नहीं रह जाती।

लेकिन हम हिंसा की चर्चा कर रहे थे, और इसे हम दोनों ही कविताओं में लक्ष्य कर सकते हैं – इस दिलचस्प संयोग के साथ कि पहली कविता में यह 'बाघिन की तरह घात लगाये बैठी रात है' जो सूर्य का वध करती है, और दूसरी में यह सूर्य है जो हर रोज़ रात का वध करता है। यह हिंसा अस्तित्व (मात्र मानवीय अस्तित्व नहीं, बल्कि अस्तित्व-मात्र) के साथ वह दोहरा, और नैतिक रिश्ता बनाने की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है, जिसके तहत कविता उसे अभिस्वीकृत भी करती है और उसकी नितान्त निजी, अनन्य व्याख्या करती हुई उसका अन्यथाकरण करती भी करती है। विभिन्न कविताओं में अलग-अलग सन्दर्भों में घटित होती यह हिंसा, दरअसल इन कविताओं के मर्म में अन्तःसलिल संवेग है, जिसे हम, इन विभिन्न सन्दर्भों के माध्यम से, कविता की धमनियों और शिराओं में स्पन्दित होता महसूस करते हैं। इस तरह ये कविताएँ सृष्टि या अस्तित्व के नैसर्गिक चक्र को अक्सर आखेट, मृगया, शर, प्रत्यंचा, वध, रक्तपात, रक्त से

लिथड़ी तलवार आदि से, और कुल मिलाकर अस्तित्व को 'अरण्य' से, रूपांकित करती हैं - अरण्य, जिसमें ईश्वर, देवता, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, मनुष्य, पशु, पर्वत, सरोवर, वृक्ष, फूल, पत्तियाँ आदि सभी एक-दूसरे का शिकार करते, एक-दूसरे का शिकार होते, एक-दूसरे से रास्ता पूछते हुए, ख़ानाबदोशों की तरह भटकते हैं।

लेकिन इन सबसे पहले स्वयं यह कविता ख़ानाबदोश है, अपने ही रचे इस अरण्य में, इन्हीं की तरह शिकार करती, शिकार होती, भटकती, इन सबसे रास्ता पूछती हुई, और हमें (पाठक को) शिकार होने, शिकार करने, भटकने, रास्ता पूछने के लिए आमन्त्रित करती हुई। यह कविता - जो 'स्टाकर' भी है, और 'ज़ोन' के अन्तरतम 'कक्ष' का वह दरवाज़ा भी जिसके सामने यह 'स्टाकर' हमें ले जाकर छोड़ देता है।

चार गद्य रचनाएँ

आस्तीक वाजपेयी

अन्तिम अरण्य : तकनीक और दृष्टि

१.

फीनिश संगीतकार सिबेलियस की महान टेपियोला की संरचना थोड़ी अजीब है। शुरूआत से ही केवल एक धुन संगीत की बुनावट पर हावी रहती है और अन्त तक ऐसा ही रहा आता है। चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) का आभास होता ज़रूर है पर अन्त में आकर वह धुन या थीम की खामोशी में विलीन हो जाती है।

निर्मल वर्मा के आख़िरी उपन्यास 'अन्तिम अरण्य' की बुनावट भी सिबेलियस के टेपियोला की तरह की है। पूरा उपन्यास अलग-अलग धुरियों पर घूमता है : आख्याता और मेहरा जी, मेहरा जी और मुरलीधर, आख्याता और तिया आदि ऐसी ही कुछ धुरियाँ हैं। इन सभी धुरियों का कोई क्लाइमेक्स नहीं है। जैसे उपन्यास के अन्त में जब मेहरा जी नहीं रहते, एक किरदार के बार-बार यह पूछने पर कि वे आख्याता के क्या लगते थे, वह खुद से पूछता है : उनका मेरे साथ क्या सम्बन्ध है ? निर्मल वर्मा किसी भी नतीजे पर पहुँचने से बचते हैं ताकि पाठक खुद अपने नतीजे बना सके और लेखक के आरोपित नतीजों को ढोने पर मजबूर न हो। एक हद तक तो हर पाठक लेखक के विचारों को ढोता ही है पर निर्मल वर्मा अपनी पाठक पर उस बोझ को कम कर देते हैं। एक तरह से इससे उस पाठक को कठिनाई भी होती है जिसे पके-पकाये नतीजों को किताब से आँखों की चम्मच डालकर बिना संकोच खाने की आदत पड़ गयी है। ऐसे पाठक के सामने यह उपन्यास मुश्किल पैदा कर सकता है।

२.

'अन्तिम अरण्य' में इनर्शिया है। इस अँग्रेज़ी शब्द के लिए हिन्दी शब्दकोश में जड़त्व और निष्क्रियता दिये हुए हैं जो मुझे उचित नहीं लगे लिहाजा इस लेख के लिए मुझे इनर्शिया ही ठीक लगा। 'अन्तिम अरण्य' में इनर्शिया इसलिए है क्योंकि वह पूरे उपन्यास के किरदारों पर प्रकृति हावी रहती है। हावी रहने का अर्थ यह है कि यहाँ किरदारों की आन्तरिक सच्चाई का एक महत्वपूर्ण आयाम प्रकृति है। जब आख्याता पहली बार अन्ना जी या निरंजन बाबू से मिलने जाता है या जब वह तिया के साथ पहाड़ के नीचे पानी भरने जाता है या जब मेहरा जी अपने स्मृतिभ्रंश के कारण भटक जाते हैं और अन्यों द्वारा अलग-अलग जगहों पर पाये जाते हैं, घटना का मुख्य आयाम या कहें स्वयं घटना ही प्रकृति बन जाती है। उपन्यास पढ़ने के बाद आपको इस बात पर भले ही कोई भी दावा करने में संकोच हो कि मेहरा जी ने तिया की माँ को मारा

था या नहीं पर यह बताने में आपको कोई परेशानी नहीं होगी कि उपन्यास की कोई घटना कहाँ घट रही है। यहाँ मज़े की बात यह है कि हर पाठक प्रकृति का वर्णन अलग तरह से करेगा पर सबको यह पता होगा कि वह जगह जहाँ कोई घटना घटी है, कहाँ थी। इसका आशय यह है कि अपने उपन्यासों में प्रकृति की केन्द्रियता होने के बावजूद निर्मल वर्मा अपने पाठक को उसे अपनी तरह से देखने की स्वतन्त्रता देते हैं।

प्रकृति निर्मल वर्मा के इस उपन्यास में एक किरदार है, एक ऐसा किरदार जो बाकी किरदारों की तरह ही सम्पूर्ण अनुभव से बचता है। सम्पूर्ण अनुभव का अर्थ वह अनुभव है जो पाठक और लेखक दोनों के लिए एक-सा हो। इससे उपन्यास में ऊब उत्पन्न होती है।

३.

इस उपन्यास की लय का रहस्य इस बात में है कि इसके प्रकृति समेत सारे किरदारों में जितना सामर्थ्य या जितनी उनमें सम्भावना है, वे उससे कुछ कम ही प्रकट करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जैसे जीवन में हमारी सामर्थ्य की समूची सम्भावना को हमारे संयम के कारण प्रकट होने का अवकाश नहीं मिल पाता वैसे ही निर्मल वर्मा के प्रकृति समेत सभी किरदार अपनी सामर्थ्य की सम्भावना को अपने संयम में बाँधकर रखते हैं।

अन्ना जी उपन्यास की सम्भवतः सबसे कम अन्तर्मुखी किरदार हैं। सबसे अधिक बेबाक। वे जिस तरह अपने, तिया और मेहरा जी के बारे में बताती हैं वैसा उपन्यास में कहीं और नहीं होता। पर वे भी तिया के बारे में ज़्यादा बात तिया से नहीं, आख्याता से करती हैं। आख्याता मेहरा जी के पास इतना समय रहने और उनके अतीत में दिलचस्पी लेने के बाद भी अपनी ओर से मेहरा जी से कुछ नहीं पूछता। वह उतना ही जानकर रह जाता है जितना मेहरा जी उसे खुद बताते हैं। वह उन्हें जानने और न जानने के बीच उसी तरह असमंजस में फँसा रहता है जैसे तब जब वह प्रकृति के सामने होता है। आख्याता के लिए मेहरा जी मानो प्रकृति का ही रूपक हैं।

'अन्तिम अरण्य' के किरदारों को खुद की सच्चाई पर यकीन नहीं है इसलिए वे दूसरे की या प्रकृति की सच्चाई को चुनौती देने या उसे इस तरह समझने से बचते हैं कि वे उससे बेहतर हो सकते हैं। विवेक के इस रूप को महान रूसी प्यानो वादक एमिल जाइलिल्स को सुनकर समझा जा सकता है। उनके बजाने में शक्ति का भाव है, ओज़ है लेकिन सुनने वाले को (कम-से-कम इस सुनने वाले को) उसकी जो बात प्रभावित करती है वह यह है कि वे जितना तेज़ या ऊँचा बजा रहे होते हैं इससे कहीं ज़्यादा तेज़ और ऊँचा बजा सकते थे। अगर वे चाहते तो वे एक्सेलेरेन्डो को ज़्यादा तेज़ कर सकते थे, रिटार्डेन्डी को ज़्यादा धीमा। उनकी तकनीक में यह सामर्थ्य थी पर वे तकनीक का उपयोग संगीत की उनकी अपनी विशिष्ट दृष्टि को उद्घाटित करने के लिए करते थे, आत्म प्रदर्शन के लिए नहीं। निर्मल वर्मा के किरदारों के बारे में हम कह सकते हैं कि वे उन्हें रचते हुए अपनी शक्ति या सामर्थ्य का इसी विवेक से इस्तेमाल करते हैं। किसी

भी बड़े कलाकार वे जाइलिल्स हों या निर्मल वर्मा, की कलाकृति में कला कौशल या तकनीक कलाकार की जीवनदृष्टि के अधीन सक्रिय होती है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व पाठक या श्रोता को महसूस नहीं होता।

४.

निर्मल वर्मा अपने उपन्यास में चरित्रों की आपसी बातचीत या उनकी सोच का विवरण देते समय बहुत कुशलता से बीच में ही कहीं प्रकृति का वर्णन करने लगते हैं, इससे इस बातचीत या सोच का समूचा वर्णन करने को वे स्थगित करते जाते हैं। अपनी बात पूरी हो पाए, इससे पहले ही आख्याता उपन्यास में कई स्थानों पर प्रकृति के विषय में सोचने लगता है या फिर उपन्यासकार प्रकृति का वर्णन करना आरम्भ कर देता है।

उपन्यास के इक्कीसवें पन्ने पर जब आख्याता मेहरा जी से बात करने के बाद बाहर निकलता है तो उसके कमरे के रास्ते तक हवा के एहसास का वर्णन कर या तारों और पेड़ों के बारे में लिखकर निर्मल वर्मा आख्याता की अनिश्चित मनःस्थिति को महफूज़ बनाये रखते हैं।

डॉक्टर सिंह और आख्याता का पहला संवाद भी इसी तरह की 'प्राकृतिक' अनिश्चितता के घेरे में आ जाता है। उनके क्लब से बाहर निकलते ही प्रकृति का वर्णन उस प्रसंग को मानो किसी हद तक रूपान्तरित कर देता है, उसमें अनिश्चितता की बयार को प्रवाहित कर देता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण उपन्यास के अन्त में आता है जब अस्थियों को विसर्जित करते हुए आख्याता अपने और मेहरा जी के सम्बन्ध में सोचता है। उपन्यास में उसी समय निर्मल वर्मा, नदी और फिर कौओं का वर्णन करते हैं। सम्भवतः इन मार्गों से वे यह दर्शाने की चेष्टा करते हैं कि मनुष्य केवल अन्य मनुष्यों से ही नहीं बल्कि प्रकृति से भी सार्थक संवाद करता है। हमारे जीवन की तरह ही इस महान उपन्यास के किरदारों के जीवन में भी सच्चाई किसी एक के द्वारा परिभाषित नहीं होती। वह ऐसा होने से निरन्तर बचती रहती हैं। जिन्हें अपनी और अपने समय की सच्चाई पर कुछ अधिक ही यक़ीन हों, वे इस उपन्यास को समझ सकेंगे, इस पर मुझे रह रहकर शक होता है।

विनय पत्रिका

मैं जब भी कोई किताब पढ़ता हूँ तो कोशिश करता हूँ कि उस किताब से कुछ लिखने की विधि के बारे में भी सीख पाऊँ।

मुझे 'विनय पत्रिका' पर बोलना है और मैं शुरुआत में ही कह देना चाहता हूँ कि मुझे ब्रज भाषा बहुत नहीं समझ आती। मैंने इस किताब का हिन्दी-ब्रज द्विभाषिक संकलन पढ़ा है। ऐसी स्थिति में, मैं यह कह लेना चाहता हूँ कि किताब की मेरी समझ बहुत अच्छी तो नहीं होगी।

मैंने इस किताब को अभी पहली बार पढ़ा है। 'रामचरितमानस' को पढ़े कई साल हो चुके हैं और तुलसीदास की एक खूबी जो सब से पहले समझ में आती है, वह है कि भाषा अगर उच्चारित की जाए तो ज़्यादा समझ में आती है। ज़ाहिर है इसीलिए 'रामचरितमानस' का जगह-जगह पाठ भी होता रहता है और उसे लोग ज़्यादा उद्धृत भी करते रहते हैं। हम ब्रज की तुलना में अवधि को आसानी से समझ लेते हैं। तुलसीदास की कई खूबियाँ असाधारण हैं। सबसे ज़्यादा शायद यह कि वे दो अलग-अलग बोलियों की लय के उस्ताद हैं। इस विशेषता का इस स्तर का कोई दूसरा उदाहरण याद नहीं आता।

विनय पत्रिका रामचन्द्र के प्रति तुलसीदास की श्रद्धा का वर्णन है। लगातार राम की स्तुति के बीच में तुलसीदास इस सिद्धान्त को उद्धृत करते हैं कि संसार भ्रम है, जैसे -

'हे हरि। यह भ्रम की अधिकाई।

देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय-सन्देह न जाई।'

या

'राम-कृपाभव-निसा सिरानी, जागे फिरिन डसै हौं।

यहाँ एक विडम्बना यह देखी जा सकती है कि इसी पद में बाद में वे राम के बारे में कहते हैं-

'स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी,

चित्त कंचनहिं कसै हो।'

वे राम के श्याम रूप की प्रशंसा कर रहे है। अगर संसार मिथ्या है तो श्रीरामचन्द्र जी के रूप की प्रशंसा करने का क्या औचित्य है या किसी के भी रूप की प्रशंसा करने का।

योगवाशिष्ठ में राम को ऋषि वशिष्ठ समझाते हैं कि कर्म में संलग्न होकर ही संसार रूपी माया का और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

विचार सागर में (जो अद्वैत के सिद्धान्त को समझने की एक महत्वपूर्ण किताब है) बताया जाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान की अनुभूति अहंकार को होती है। इसलिए कर्म और अहंकार को जोड़कर देखा जाता है। तुलसीदास ने लिखा है कि 'करम-कलाप परिताप पाप-सने सब'। यानि तुलसीदास तो कर्म को ही पाप से सना मान रहे हैं। जिन राम की वे इस पूरी किताब में प्रशंसा करते रहते हैं, उनके बारे में किताब के दो सौ उहंत्तरवें पद में लिखते हैं-

'राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को ?''

यदि उनको यह प्रश्न पूछना पड़ रहा है तो इसका अर्थ है कि ऐसा अभी तक नहीं हुआ है। वे इस कर्म को साध कर ही शायद संसार से मुक्त होना चाहते है। वे उसे अभी तक साध नहीं पाये हैं लेकिन कोशिश कर रहे हैं।

यदि ऐसे देखा जाए तो लगता है कि तुलसीदास के राम की प्रशंसा करने में और उसी समय संसार को मिथ्या कहने में विरोधाभास नहीं है। वे लिखते हैं-

'बिनु तव कृपा दयालु! दास-हित! मोह न छूटै माया।'

अब किताब की संरचना के बारे में सोचा जाए तो लगता है कि एक स्तर पर यह किताब उपमाओं का व्यायाम है। लगातार श्रीरामचन्द्र की प्रशंसा एक हद के बाद थोड़ी दोहरावपूर्ण जान पड़ती है। लेकिन इस दोहराव में भी एक ऐसा कौशल छिपा है जो आजकल लेखकों में नहीं दिखता : ज़्यादातर समय तुलसीदास की उपमाएँ प्रकृति से उठायी हुई होती हैं। यह तो नहीं पता कि तुलसीदास जी सबसे बड़े रामप्रेमी और रामभक्त थे या नहीं पर इसमें कोई शक नहीं है कि वे एक बहुत ऊँची कोटि के प्रकृति-प्रेमी अवश्य थे।

चिड़िया, पेड़, पत्ते, फूल, गिलहरी, ज़मीन, नदी का पानी इत्यादि को इस क़िताब में नये-नये रूपों में देखा गया है और इस प्रक्रिया में उन्हें रूपान्तरित होते भी देखा जा सकता है।

यह भी दिलचस्प बात है कि राम की भक्ति के बीच तुलसीदास के नये शब्दों या कहें ऐसे शब्दों का इस्तेमाल करने का कौशल दिखता है जिन्हें आमतौर पर इस सन्दर्भ में इस्तेमाल नहीं किया जाता। वे राम को यहाँ भी 'मानस' की तरह ही ग़रीब नवाज़ कहते हैं। पद १६१ और १६३ इसके उदाहरण हैं। इस शब्द का ज़्यादातर इस्तेमाल अल्लाह के सन्दर्भ में होता रहा है। इसका अर्थ तब कुछ और होता होगा पर तुलसीदास को किसी भी शब्द के प्रचलित अर्थ से उसे हटाकर दूसरे सन्दर्भ में इस्तेमाल करने में कोई मुश्किल पेश नहीं आती। यह भी उनके महाकवि होने का प्रमाण है। महाकवि के सामने शब्द अपने पुराने अर्थ अपने आप त्याग देते हैं।

वे लिखते हैं -

'कोह-मद-मोह-ममतायतन जानिमन,

बात नहि जाति कहि ग्यान-विग्यान की।

मुझे यह लगता था कि यह विचार कि क्रोध, मद, मोह आदि का ज्ञान-विज्ञान से मूलभूत द्वन्द्व एक पश्चिमी सिद्धान्त है लेकिन ज़ाहिर है तुलसीदास के यहाँ यह पहले से है। यह ग़लती मेरी थी।

राम की भक्ति को साधन बनाकर तुलसीदास मनुष्य स्वभाव, प्रकृति, दर्शन और ख़ुद अपनी ख़ामियों की विस्तार से व्याख्या करते हैं। यदि कोई कमतर लेखक होता तो भक्ति एक विचित्र और बनावटी रूप ले लेती लेकिन तुलसीदास के लेखन की शक्ति के ताप में भक्ति वाकई पवित्र बन जाती है। मैं धार्मिक पवित्रता की बात नहीं कर रहा हूँ क्योंकि वैसे भी मुझे पता नहीं है कि धार्मिक पवित्रता क्या होती है और न ही मुझमें इस विषय को लेकर जिज्ञासा है। यहाँ मैं प्रयत्न की सच्चाई और लेखन में हर क्षण कुछ महत्वपूर्ण होने की सम्भावना की बात कर रहा हूँ। इस किताब में क्लाईमेक्स का विचार नहीं है। अन्तिम पदों में तुलसी विनय पत्रिका को विषय बनाकर श्रीरामचन्द्र की स्तुति करते हैं। अन्त तक वे इस भक्ति के सहारे

इस भक्ति की माया से मुक्त होने की कोशिश करते हैं। इस किस्म के नये-नये भाषिक आविष्कारों और छवियों से भरी किताब को पढ़कर एक विस्मय की भावना भी उत्पन्न होती है। इसमें लेखक की मेहनत दिखती है जो लगातार उसके साथ रहती है। बहुत कम पद ऐसे हैं जिन्हें कमज़ोर कहा जा सके।

मुझे यह भी लगता है कि एक ऐसे समय में जब ज़्यादातर लेखक उत्कृष्ट कविताएँ, उपन्यास या कहानियाँ लिखने की जगह राजनीति पर टिप्पणी करने में लगे हुए हैं, एक शताब्दियों पुराने कवि की किताब किसी भी दल या विचारधारा से सम्बद्धता स्थापित किये बिना आज भी प्रासंगिक है। जीवन को और लेखन को समझने में कारगर है। महान कलाकारों की चीख मानव मानस के अन्तहीन गलियारे में अनन्त काल तक गूँजती है। तुलसी यह भी बताते हैं कि कोरे काग़ज़ों, एक मेज़ और एक कलम के सहारे भी राम मिल सकते हैं।

पुरस्कार प्राप्ति पर वक्तव्य

मैं साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली की चयन समिति के सभी सदस्यों का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस पुरस्कार के लिए चुना है। पुरस्कार बहुत अजीब होते हैं। जब तक ये मिलते नहीं तब तक उन पर कभी ध्यान नहीं जाता और अब जब मिल जाता है, अच्छा लगता है। शायद यह किसी भी किस्म की ख्याति के लिए सही है। ख्याति का स्वभाव ही मनुष्य को बरगलाना होता है क्योंकि उससे यह भ्रम पैदा हो जाता है कि हम अपने समय में बहुत महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं, जबकि सच्चाई यह होती है कि उस काम से कुछ महत्वपूर्ण नहीं कर रहे होते जो हमारे पहले दूसरे कर गये हैं। यह सही है कि हो सकता है हमने अपने अग्रजों से ज़्यादा चालाकी से लोगों को तंग किया हो। इसे ही शायद परिष्कार कहा जाता है। हिन्दी के लिए यह पुरस्कार मिलना सुखद भी है और मन में संशय भी पैदा करता है। यह कहानी संग्रह के लिए उदयन वाजपेयी की 'सुदेशना' को नहीं मिला, उपन्यास के लिए रेणु की 'मैला आँचल' को नहीं मिला और कविता संग्रह के लिए मुक्तिबोध की 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' को नहीं मिला। यह सही है कि मुक्तिबोध का संग्रह मरणोपरान्त प्रकाशित हुआ था फिर भी पुरस्कार मिलना चाहिए था। मेरे अनुसार ये तीनों लेखक पिछले पचास सालों में इन विधाओं का परिष्कार करने वाले सबसे महत्वपूर्ण लेखक हैं। मैंने इन तीनों से सीखा है और इस तीनों को साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत क्यों नहीं किया, यह आश्चर्यजनक है। लेकिन यह भी सच है कि जो मुझे सच लगता है, वह दूसरों को न लगता हो।

मेरे जन्म का सुखद सौभाग्य यह है कि मैं इस कदर ग़लत होता रहा हूँ कि मुझे ग़लतियों से नफ़रत नहीं होती है।

मेरी अपने पिता की सबसे पुरानी यादों में से एक यह है कि वे बाग़ीचे में कुर्सी लगाकर छुट्टी के दिन सुबह से शाम तक पढ़ रहे होते थे। उन्होंने मुझे और मेरे भाई को बहुत ही छोटी उम्र में ढेर सारी किताबें पढ़कर सुनायी थीं और धीरे-धीरे हम उनके प्रोत्साहन से पढ़ने भी लग गये थे। मुझे कभी भी अपने एक ठीक-ठाक लेखक होने का गुमान नहीं रहा, लेकिन एक अच्छे पाठक होने का गर्व महसूस होता रहा है। साहित्य हमें कई ऐसी दुनियाओं से रूबरू कराता है जिनसे शायद हम अन्यथा रूबरू नहीं हो पाते। साहित्य हमें हमारी टुच्ची-सी ज़िन्दगी की क़ैद से मुक्त कर अन्य जीवन जीने का मौक़ा देता है। इसलिए यह और भी ज़रूरी हो जाता है कि जो संस्थाएँ साहित्य को प्रोत्साहन देने या किसी उत्कृष्ट साहित्यकार को सम्मानित करने के लिए पुरस्कार देती हैं, वे उन कवियों, लेखकों, विचारकों को पुरस्कार दें जो न केवल अच्छा लिखते हैं बल्कि अलग तरह से लिखते हैं। स्थापित मन्तव्यों को तोड़ते हैं। मैंने जिन तीन लेखकों का पहले ज़िक्र किया है, उन्होंने अपनी विधाओं में सिर्फ़ अच्छा काम ही नहीं किया है, बल्कि नये किस्म का काम किया है। मुक्तिबोध के पहले किसी ने अपने चित्त के भूचाल को कविता में बिना किसी दूसरे विषय के सहारे केवल भूचाल मात्र की तरह प्रस्तुत नहीं किया था। या यह कहना बेहतर होगा कि मुक्त छन्द की कविता में नहीं किया था। रेणु के पहले किसी ने अपने क्षेत्र की बोली को इस कदर सुन्दरता से पेश नहीं किया था कि वह बोली वैश्विक लगने लगे। हम यह बात स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के साहित्य की कर रहे हैं। मेरे पिता उदयन वाजपेयी के पहले किसी भी लेखक ने कहानियों में दिमाग के भीतर की हिंसा के विध्वंस के विभिन्न आयामों और इन्सान की बिल्कुल अलग और साथ ही अद्‌भुत और वीभत्स दुनियाएँ कल्पित करने की चेष्टा को रूपायित नहीं किया था। यह बात भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के साहित्य पर लागू होती है। आप सोच रहे होंगे कि मैं बार-बार इस बात पर ज़ोर क्यों दे रहा हूँ कि ये तीनों लेखक एक विशिष्ट काल, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के लेखक हैं। मैं ऐसा इसलिए लिख रहा हूँ क्योंकि मुझे एहसास है कि प्राचीन संस्कृत, ब्रज और अवधी आदि के महान लेखक इन लेखकों से भी कई गुना अधिक नये प्रयोगों को और बेहतर ढंग से साकार कर चुके हैं।

हिन्दी में दिये जाने वाले पुरस्कारों की समितियों का पिछले तीन-चार दशकों से दुर्भाग्य यह है कि जिन लेखकों ने प्राचीन साहित्य को नींव बनाकर काम किया है, उन्हें दरकिनार किया गया है। हर एक को तो, ज़ाहिर है, दरकिनार नहीं किया गया लेकिन जो सबसे अलग तरह से काम कर रहे थे या हैं उन्हें तो बिल्कुल ही। तीन उदाहरण कमलेश, वागीश शुक्ल और उदयन वाजपेयी हैं। ये तो लेखक हैं, विचारकों की बात करें तो नवज्योति सिंह और इतिहासकारों में धर्मपाल हैं।

इसका नतीजा यह है कि आमतौर पर जिन कल्पना-विपन्न लेखकों को हिन्दी में पुरस्कार मिलते रहे हैं, उन्हें ही ज़्यादातर युवा लेखक पढ़ते रहे हैं। हम किसी भी किस्म की प्रतिस्पर्धा से इस क़दर प्रभावित समाज बन गये हैं कि जिन्हें पुरस्कार मिलते हैं उन्हें ही ज़्यादा पढ़ा जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे समय के ज़्यादातर युवा लेखक ऊबाऊ लिखने लगे हैं। आखिर ऊबाऊ साहित्य से प्रेरणा लेकर आदमी

खुद भी ऊबाऊ ही लिखता है। मैं प्रगतिशील लेखक संघ के खिलाफ़ नहीं हूँ लेकिन यह समझता हूँ कि यदि एक लेखक संघ की वर्तमान या भूतपूर्व सदस्यता किसी भी सम्मान या पुरस्कार की अर्हता बन जाये तो इस विचार से प्रगति नहीं आ सकती। न ही इस विचार का वहन करने वालों में शील की उपस्थिति मानी जा सकती है।

मुझे यह नहीं पता कि अन्य भाषाओं में साहित्यिक पुरस्कारों के क्या हाल हैं लेकिन हिन्दी में तो निश्चित ही इनका वामपन्थ की तरफ झुकाव रहा है। लेखक को यदि यह लगने लगे कि एक विशेष विचारधारा के क़रीब आने पर उसे ख्याति प्राप्त होने की सम्भावना ज़्यादा है तो वह सहज ही उसके निकट आ जायेगा। यह सब लेखकों के साथ सही नहीं है पर कुछ के लिए तो होता ही होगा। यह इसलिए ग़लत है क्योंकि आदर्श तो यह होना चाहिए कि लेखक की राजनैतिक विचारधारा से निरपेक्ष होकर उसके साहित्य का सृजन और आकलन हो पाए।

मेरे यह सब लिखने से यह नहीं मानना चाहिए कि साहित्य अकादमी ने अच्छा काम नहीं किया है पर मैं इन बातों पर ज़ोर इसलिए दे रहा हूँ क्योंकि साहित्य अकादमी के सराहनीय कामों का उल्लेख तो कोई और भी कर ही देगा लेकिन जिन बातों का मैं उल्लेख कर रहा हूँ उनके बारे में कोई और शायद न बोले। लेखकों को आश्वस्त हो पाना चाहिए कि उनके लेखन का विश्लेषण उनकी जाति, धर्म, लिंग आदि से निरपेक्ष हो सकता है और उनकी किसी विचारधारा से सम्बद्धता से भी।

बाकी भाषाओं में और हिन्दी की स्थिति में अन्तर हैं। एक यह है कि यह सबसे ज़्यादा बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी भाषा है। दूसरा यह है कि यह भाषा कई कारणों से सबसे ज़्यादा खतरे में है। स्वतन्त्रता के बाद जब हिन्दी को पूरे देश की भाषा के तौर पर लागू करने की बात उठी तो बाकी भाषाओं को बोलने वाले नेताओं ने इसकी पुरज़ोर आलोचना की। इसका नतीजा यह हुआ कि बाकी भाषओं ने अपनी साहित्यिक सम्पदा का पर्याप्त प्रसार किया और इस रास्ते वहाँ पाठक वर्ग बढ़ा और साहित्य का स्तर भी। हिन्दी बोलने वालों में हिन्दी के बिना पूरे देश की भाषा हुए, भाव वैसा ही आ गया। यहाँ आप हिन्दी साहित्य के कॉलेजों के पाठ्यक्रम को देखिए जिनमें सालों साल कोई बदलाव नहीं आता और साहित्य का प्रचार करने का जो आवेग बाकी भाषाओं में आ गया अपने पर आए संकट के जवाब में, हिन्दी में वैसा भी कुछ नहीं हुआ। एक और दिक़्क़त यह हो गयी कि हिन्दी को सबसे ज़्यादा जिस माध्यम से पढ़ा जाता है, समाचार-पत्र, उनमें कुछ को छोड़कर ज़्यादातर में जिस किस्म की भाषा का प्रयोग होने लगा है, उसका स्तर अच्छा नहीं है। नतीजा यह है कि दिन में अगर इन्सान एक बार हिन्दी पढ़ रहा होता है तो वह भी ग़लत-सलत ही होती है। देखिए यह भी दुर्भाग्य है कि पश्चिम में दुनियाभर के उत्कृष्ट साहित्य के अनुवाद पर जिस किस्म का काम होता है, हिन्दी में नहीं होता। साहित्य अकादमी और अन्य साहित्यिक संस्थाओं को उत्कृष्ट अनुवादकों को ज़्यादा प्रोत्साहन देने के बारे में विचार करना चाहिए। अनुवाद का काम लम्बा होता है और अच्छे अनुवाद करने में बहुत समय और शक्ति लगती है। यदि अनुवादक इस काम के सहारे जीविकोपार्जन कर

पाये तभी इस दिशा में बेहतर काम होगा। देश-दुनिया के महत्वपूर्ण साहित्यकारों से बेखबर रहकर ऊँची कोटी की रचनाएँ कर पाना सम्भव नहीं है। हमें अपनी सोच का दायरा बढ़ाने की पूरी कोशिश करनी चाहिए। मैं जो भी लिख पाता हूँ, उसके लिए न केवल हिन्दी के अपने पूर्वज लेखकों का आभारी रहता हूँ जिन्हें पढ़ने का मुझे सौभाग्य मिला बल्कि दुनियाभर के उन लेखकों का भी जिन्हें मैं अँग्रेज़ी के अनुवादों में पढ़ पाया।

अन्त में दोबारा यह कहना चाहता हूँ कि मैं साहित्य अकादमी का बहुत आभारी हूँ। अगर किसी को मेरा लिखा यह वक्तव्य ऊबाऊ लगा हो तो उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

मणि कौल आख्यान

आख्यान की परिभाषा को उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही भीषण रूप से बदला जा रहा था। हिन्दुस्तान में ज़ियाउद्दीन डागर और नसीरुद्दीन डागर जो ध्रुपद गा रहे थे उसके स्वरूप को किसी बन्दिश में बँधा नहीं जा सकता था। शोपाँ ने संगीत को कोई विशिष्ट निर्धारित स्वरूप दिये बिना ही उसमें अपने देश पौलैण्ड और अपनी खुद की धुनों को ५-१० मिनट की छोटी कृतियों में प्रस्तुत करना शुरू किया था। वैन गो आग के खेत और सेज़ान हवा में हिलते-झूलते पहाड़ बना रहे थे। चीन और जापान की बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी की चित्रकला में एकरैखिक आख्यान का स्थगन पहले ही आ चुका था। एकरैखिक आख्यान की बात इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि बहुरैखिक आख्यान, जिसका असाधारण उदाहरण महाभारत है, के बारे में बाद में बात करेंगे।

यह सब बतौर भूमिका इसलिए बता रहा हूँ क्योंकि जिनकी कला के बारे में बात हो रही है वे खुद भी फ़िल्मों से ज़्यादा पेंटिंग और संगीत को उद्धत करते थे। वे उनकी सिनेमाई कल्पना के उद्दीपक थे।

महाभारत में एकरैखिक आख्यान को सम्भवतः सबसे मौलिक रूप से स्थगित किया गया है। मौलिक इसलिए क्योंकि एकरैखिक आख्यान की रीढ़ होती है एकरैखिक समय। महाभारत के आख्यान में एक साथ कम-से-कम तीन से चार समय चलते हैं। क्योंकि फ़िल्म का प्रादुर्भाव पश्चिम में हुआ था इसलिए उस पर आज भी ज़्यादातर एकरैखिक आख्यान का प्रभुत्व है।

एकरैखिक आख्यान के एकरैखिक होने का उद्देश्य उसे समाधान तक पहुँचाना होता है। समाधान की खोज तब होती है जब यह माना जाता है कि प्रकृति या समाज में कोई स्थायी हल सम्भव है। यह केवल वह व्यक्ति मान सकता है जिसे लक्ष्य हो कि समाज या प्रकृति में कोई विकृति है जो उससे (यानि उस व्यक्ति से) निरपेक्ष है : न तो वह व्यक्ति उस विकृति का कारण है और न उसका हिस्सा। यह व्यक्ति मौजूदा विकृति को खत्म कर सकता है, ऐसा उसे प्रतीत होता है। समय के साथ प्रयास करने से एक स्थायी बदलाव

लाया जा सकता है। यहीं से एकरैखिक आख्यान निकलता है। ज़ाहिर है यह विचार सबसे पहले यहूदी धार्मिक दृष्टि में आया था और यही विचार दुनिया के कई महान धर्मों में मिलता है।

जब कला एकरैखिक होने से बचती है, आख्यान थोड़ा ज़्यादा जटिल और समाधान रहित होने की तरफ बढ़ जाता है। आख्यान से यह उम्मीद करना कि सब लोग उसे एक जैसा ही समझेंगे भी कला के सामने बड़ा प्रश्न रहा है। महान कला का गुण होता है कि उसे अलग लोग अलग तरह से समझ पाते हैं, अलग अनुभव कर पाते हैं और वह कलाकृति हर पाठक में अलग भाव उत्पन्न करती है। इसलिए महान कला समाधान देने से गुरेज़ करती है और प्रकृति में समय के बहाव को मानवीय प्रगति के बहाव की तरह देखने से बचती है।

गेब्रिएल गार्सिया मार्क्वुएज़ अपने उपन्यास 'वन हन्ड्रेड इयर्स ऑफ सॉलिट्यूड' के फ़िल्म में रूपान्तरण के प्रति बेहद नाउम्मीद थे। वे सोचते थे कि हर पाठक उर्सुला या ओरिलियानो बुऊन्दिया को अपने विशिष्ट रूप से अपनी कल्पना में रचता है इसलिए हर पाठक के उर्सुला या ओरिलियानो बुऊन्दिया अलग होते हैं। उन्हें एक फ़िल्म के दो अभिनेताओं में बाँधना ठीक नहीं होगा। यह बात तब तो ठीक है अगर आपको लगता है कि किसी उपन्यास का फ़िल्म में रूपान्तरण केवल फ़िल्म के माध्यम से उस उपन्यास के आख्यान को बताना है। एक बात तो यह कि ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि आख्यान का जितना बड़ा हिस्सा किस्सा होता है उससे कहीं बड़ा हिस्सा भाषा होती है। वैसे भी यह विचार एक और स्तर पर ग़लत है क्योंकि जैसे उपन्यास के मौलिक तत्व शब्द होते हैं वैसे ही फ़िल्म के दृश्य और ध्वनि होते है। कोई भी कल्पनाशील फ़िल्मकार किसी उपन्यास का रूपान्तरण नहीं, उसका अपनी विधा में अवतरण करता है। मार्क्वुएज़ की उम्मीद थोड़ी जागती अगर वे खुद को समक्ष पा सकते उस प्रचण्ड उपस्थिति जो थे मणि कौल।

जब मैंने पहली बार उनकी फ़िल्म 'दुविधा' को देखा था, मुझे लगा था कि यह समय को तोड़ने की कोशिश है। मैं आज भी यक़ीन नहीं कर पाता हूँ कि वह फ़िल्म एक कहानी पर आधारित है। वैसा ही 'अषाढ़ का एक दिन' के साथ हुआ। मणि कौल कैमरे के इस्तेमाल और ध्वनि के प्रयोग से समय का रूपान्तरण करते हैं। समय को विचलित करते हैं या उनके शब्दों में कहें 'आन्दोलित' करते हैं। बहुत बार एक लम्बे शॉट में कैमरा रुक जाता है फिर उसी शॉट में चल पड़ता है। इससे समय का प्रवाह बदलता है। कई बार संगीत के प्रयोग से समय को छोटा बनाया जाता है और उसके तुरन्त बाद शोर या खामोशी के प्रयोग से समय को फैला दिया जाता है।

यह तकनीक नयी नहीं है। पाल क्ले ने कैनवास के सफ़ेद का इस्तेमाल कर स्पेस को बड़ा या छोटा किया था इससे भी पहले। महान वीणा वादक ज़िया मोहिऊद्दीन डागर आलाप में समय को लम्बा करके जोड़-झाले में समय को छोटा करने के उस्ताद थे। बल्कि समय को आन्दोलित करने का विचार मणि कौल को सम्भवतः ध्रुपद से ही मिला होगा। ज़ाहिर है कि यहाँ समय के आभास की बात हो रही है किसी वस्तुनिष्ठ समय की नहीं। वैसे भी आइन्सटाईन के बाद तो वस्तुनिष्ठ समय के बारे में कहीं भी बात नहीं

चल रही है। इस तकनीक का सबसे अद्‌भुत उदाहरण है उनकी फ़िल्म 'नज़र' जहाँ एक कमरे के भीतर के स्पेस के इर्द-गिर्द अलग-अलग समय बुने गये हैं।

स्पेस के स्तर पर भी मणि कौल किसी स्थापित निष्कर्ष पर पहुँचने से बचते हैं। वे पर्सपेक्टिव शॉट लेने से बचते है। पर्सपेक्टिव का सिद्धान्त यह होता है कि दो समानान्तर रेखाएँ अनन्त में मिलती प्रतीत होती हैं। यह गणित का सिद्धान्त है। पर्सपेक्टिव शॉट में ऐसा लगता है कि वो क़तारें दूर कहीं मिल रही है या दूर अपने निष्कर्ष पर पहुँच रही हैं। ऐसा मणि कौल करने से बचते है। वे अपने शॉट की धुरी को टेढ़ा बनाकर एक अलग स्पेस पैदा करते हैं। यह मिनिएचर चित्रों से आता है। अगर आप लोगों ने वे मिनिएचर चित्र देखे हों जिसमें शिकार दिखाया जाता है तो आपको पता होगा। उन चित्रों में एक तरफ शेर का पीछा करते घुड़सवार होते हैं, एक तरफ महल में बैठे राजकुमार होते हैं और रानियाँ अलग जनानाख़ाने में रहती हैं। सब एक चित्र में टेढ़ी धुरियों के इस्तेमाल से अपने-अपने स्पेसों में अवस्थित होते हैं। पर्सपेक्टिव में स्पेस एक तरह के निष्कर्ष को प्राप्त होता है और धुरी टेढ़ी करने से स्पेस का विस्तार सम्भव हो जाता है।

फ्रांसीसी उपन्यासकार लुई फर्डिनान्ड सेलीन अपने लिखने के तरीके से लिखे शब्द और उससे जुड़े भाव में अन्तराल पैदा किया करते थे। यहाँ 'भाव' शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ और 'अर्थ' शब्द का नहीं। अर्थ को तो, चाहे वह शब्द का हो या दृश्य का या संगीत या आवाज़ या रंग का अच्छा कलाकार अपने हिसाब से बदलता ही है। जेम्स ज्वाइस (James Joyce) ने 'युलीसिस' में और वर्जीनिया वुल्फ ने 'वेव्स' में शब्द और भाव के बीच कमाल का अन्तराल पैदा किया है। कैमरे के इस्तेमाल से रोशनी और स्पेस में आन्दोलन लाकर मणि कौल दर्शक व श्रोता के लिए फ़िल्म के दृश्य-ध्वनि और भाव में अन्तराल पैदा करते हैं। इस अन्तराल को पैदा करने से द्रष्टा दृश्य के प्रति ज़्यादा सजग हो जाता है। यह इसलिए होता है क्योंकि दृश्य को उसके स्थापित आशय से दूर कर दिया जाता है। भाव को ज़्यादा से ज़्यादा दृष्टा के विवेक पर छोड़ा जाता है, दृश्य को सजग या जीवित बनाकर। इससे होता यह है कि दर्शन क्रियाशील हो जाता है जो पहले निष्क्रिय था। फ़िल्म के सन्दर्भ में दृश्य केवल दृश्य नहीं, ध्वनि भी है। दृश्य के सजग बनने पर वह द्रष्टा को भी ज़्यादा सजग बनने पर मजबूर करता है। इस अतिरिक्त एकाग्रता का असर यह होता कि फ़िल्म देखना उतना निष्क्रिय कर्म नहीं बचता जिसकी हमें आमतौर पर आदत होती है। पढ़ने की आदत की तरह, दूसरों को ध्यान से सुनने की आदत की तरह और खुद का मज़ाक़ उड़ाने की आदत की तरह, सजग सिनेमा को देखने की आदत मुश्किल से डलती है। बल्कि आदत शब्द शायद ग़लत है, इसे रियाज़ कहना चाहिए। सजग सिनेमा देखने का रियाज़ करना होता है।

इस बात से एक प्रश्न यह निकलता है कि क्या फ़िल्म का काम सिर्फ़ मनोरंजन करना होता है या यह एक आध्यात्मिक अनुभव है? मेरे हिसाब से इस द्वैत में तकलीफ़ यह है कि हम फ़िल्मों के बारे में बात करते समय यह याद नहीं रख पाते कि आध्यात्मिक अनुभव से भी तो मनोरंजन हो सकता है। लोगों को अगर कार्लोस फिओन्तिस को पढ़ने में या क्लोड डिब्यूसी को सुनने में मज़ा आ सकता है तो इस किस्म का

सजग सिनेमा देखने में भी आ सकता है। अगर हम मानते है कि जिस काम में मनोरंजन होता है, वह अनिवार्यतः आध्यात्मिक नहीं होता तो दरअसल इस मान्यता की आड़ में हम मनुष्य की सम्पूर्णता का अपमान कर रहे होते हैं। इसमें निहित होता है कि मनुष्य को कुछ नया सीखने या अनुभव करने में आनन्द नहीं मिल सकता। इसमें यह भी निहित है कि अगर हमें किसी कलाकृति के बारे में नहीं पता है तो हमें अनिवार्यतः उससे बचना चाहिए। मेरे अनुभव में इससे उल्टा होता है। कुछ नया सीखने में और जब वह समझ में आ जाए, बहुत आनन्द मिलता है।

कई बार ऐसा भी होता है कि जो उपन्यास आपको अच्छा न लगता हो पर जब उसे मणि कौल जैसा कलाकार दूसरी विधा में अवतरित करता है, वह अच्छा लगने लगता है। 'नौकर की कमीज़' को पढ़कर मुझे कभी उतना मज़ा नहीं मिला जितना मणि कौल की फ़िल्म देखकर। ख़ुद को बेहतर बनाने या ख़ुश रहने का मौका देना पड़ता है। अगर मैं फ़िल्म में वही देखने की कोशिश करता जो उपन्यास में पढ़ चुका था तो बुरी तरह ऊब जाता, शायद पूरी फ़िल्म देखता ही नहीं।

अभी और बात हो सकती है लेकिन यहीं ख़त्म करते हैं।

हम सँवरै दुई बोल

ध्रुव शुक्ल

मलिक मुहम्मद जायसी और विजयदेव नारायण साही के नामों में दोहा और चौपाई का सम्बन्ध है। जायसी का नाम दोहे के प्रथम चरण के जैसा तेरह मात्रिक और साही का नाम चौपाई की तरह सोलह मात्रिक है। जायसी के बारे में कुछ उधेड़-बुन करते साही उन्हें हिन्दी के पहले विधिवत् कवि के रूप में पढ़ने की सलाह देते हैं। जहाँ हिन्दी भाषा सहज काव्य-प्रवाह में बहने लगती है और हिन्दी का अवधी रूप काव्यमय हो उठता है -- साही कहते हैं -- जहाँ भाषा खुद कविता को जन्म देती और प्रौढ़ करती चलती है। साही की दृष्टि में कुजात गांधीवादियों की तरह जायसी भी कुजात सूफ़ी थे।

जायसी का सूफ़ी होकर भी कुजात सूफ़ी होना स्वाभाविक है क्योंकि पद्मावत कोरा सूफ़ी काव्य नहीं है। वह पुरान और कुरआन के बीच एक सेतु रचने का काव्य प्रयास भी प्रतीत होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी जायसी के समय पर निगाह डालते हुए कहते हैं कि -- पण्डितों और मुल्लाओं की तो नहीं कह सकते पर साधारण जनता राम और रहीम की एकता मान चुकी थी। साधुओं और फ़क़ीरों को दोनों दीन के लोग मान की दृष्टि से देखते थे। सर्वप्रिय साधु और फ़क़ीर वे ही हो सके जो भेदभाव से परे दिखायी पड़ते थे। बहुत दिनों तक एक साथ रहते-रहते हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के सामने अपना हृदय खोलने लग गये थे। सामान्य जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली। मुसलमान हिन्दुओं की रामकहानी सुनने को तैयार हो गये और हिन्दू मुसलमानों का दास्तान हमज़ा।

हम अपने बचपन में घर के जेठे-सयानों से सिंहल द्वीप की सुन्दरी की कहानी सुना करते थे। बरसात के दिनों में हमारे गाँव में आल्हा भी गाया जाता तो लगता कि सिंहल द्वीप की सुन्दरी की कहानी आल्हा से काफ़ी मिलती-जुलती है। आल्हा की प्रत्येक गाथा में राजा की बेटी के निकट जाने और उसका हरण करने का उपाय साधु का वेश बनाना ही अपनाया गया है। ये साधू अपने आपको गोरखनाथ की परम्परा का अनुयायी बताते हैं। आल्हा काव्य की रचना उसी समय हो रही थी जिस समय लोग योगमत के प्रभाव में सिद्धियों को पाने की चेष्टा करते थे। यह नाथपन्थी सिद्धों का समय है और यह वह समय भी है जब अरबी घोड़ों की टापें भारत में सुनायी देने लगी थीं, तुर्क आ रहे थे।

आल्हा खण्ड में प्राचीन लोक गाथाओं का ही अनुसरण किया गया है जिसमें देवताओं के वरदानों का फलीभूत होना, रूप-वर्णन सुनकर मोहित हो जाना, चुगलखोरों के छल, चौपड़ के दाँव, टोने-टोटके, मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग, शगुन और स्वप्न विचार और ज्ञानयोग की प्राप्ति आदि उपाय गाथा को रचने में किये जाते हैं। साधन कोई भी अपनाया जाये, नायकों का ध्येय सफल होना ही है। साधुवेश में रनिवास की थाह लेना -- यह कथा रूढ़ि हिन्दी के आदिकाल से चलती हुई जायसी तक चली आयी है। मलिक मुहम्मद

जायसी के पद्मावत काव्य के राजा रत्नसेन सिंहल द्वीप की पद्मावती की खोज साधुवेश में ही करते हैं। साधुवेश में जानकीहरण इसी कथारूढ़ि से प्रेरित है। नारियाँ हरी जाती हैं, फिर उन्हें या तो अग्नि-परीक्षा देना पड़ती है या वे चिता सजाकर सती हो जाती हैं।

शुक जन्मजात दूरदर्शी माने गये हैं। उन्होंने ही राजा परीक्षित को शापमुक्त होने के लिए सात दिनों में भागवत की कथा सुनायी थी। वे लोकाख्यान आल्हा और जायसी के पद्मावत में सुनवाँ राजकुमारी और पद्मावती के दूत बनकर हीरामन नाम से लोकप्रसिद्ध हो गये हैं। इन काव्यों में वे दूरदर्शी दूत के रूप में ही आते हैं। नारी की देह सोनबरन की होनी चाहिए क्योंकि लक्ष्मी भी सोनबरन की प्रसिद्ध है। सो वह आल्हा की सोनवती की है और जायसी की पद्मावती भी सोनबरन की है। उसके हीरामन भी सोनबरन के हैं। हीरामन पद्मावती के इसी सोनबरन का वर्णन राजा रत्नसेन से करते हैं और राजा राग से भरकर बैरागी का वेश धारण करता है। पद्मावत के वीर योद्धा गोरा और बादल हू-ब-हू आल्हा-ऊदल जैसे लगते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी पहले रचे गये लोकाख्यानों को ही पद्मावत की रचना का आधार बनाते हैं -- हौं सब कबिन्ह केर पछि लगा। विजयदेव नारायण साही भी अपनी यह धारणा प्रकट करते हैं कि -- जायसी ने अपनी संवेदना को सर्जनात्मक रूप प्रदान करने के लिए उस युग में परम्परा, रूढ़ि, लोकमानस, दर्शन और संस्कृत-फ़ारसी के बहुत सारे उपलब्ध काव्य-उपादानों का उपयोग किया। इन विविध और कभी-कभी असंगत उपादानों को उन्होंने अपनी भावनात्मक भट्टी में गलाकर एक किया। साही अनुभव करते हैं कि हिन्दू और मुसलमानों पर एक जबर्दस्त करुणा जायसी को आप्लावित कर रही है। इस करुणा की व्यथा जायसी के लिए इतनी भारी है कि उनके पास कबीर की तरह चुनौती और प्रतिरोध की फ़ुर्सत नहीं है।

पद्मावत और जायसी की दुनिया पर मुजीब रिज़वी की किताब बड़े काम की है। वे याद दिलाते हैं कि -- फ़ारसी साहित्य में नैहर और पीहर का रूपक नहीं मिलता। वहाँ तो दुनिया एक सराय और आदमी मुसाफ़िर का प्रचलन हुआ। नैहर और पीहर का प्रचलन भारत में ही सम्भव है क्योंकि मध्ययुग में विवाह सम्बन्ध ही नारी के परदेस गमन का कारण था और ससुराल से लौटना मुश्किल था। इसलिए काव्याभिव्यक्ति में विवाह देहावसान का ही पर्यायवाची है। अपने घर से दूर जाते हुए बिदा के समय पुरजन-परिजन-सहजन हमेशा के लिए छूटते-से लगते हैं। जहाँ नैहर से डोली उठती है और पीहर से उसकी अर्थी ही निकलती है। अज्ञात पिया के घर जाते हुए बाबुल से बिछोह हृदयविदारक है और इसकी व्यंजना में अपूर्व शक्ति है। हम याद करें अमीर ख़ुसरो को --

बाबुल मोरा नैहर छूटो रे जाय

चार कहार मिले मोरी डुलिया उठायें रे

मोरा अपना बेगाना छूटो रे जाय

अँगना तो पर्वत भया देहरी भई बिदेस

लै बाबुल घर आपनो मैं चली पिया के देस

आज भी हमारे हिन्दी अंचलों में बेटी की बिदा पर उल्टे बाजे कुछ देर के लिए बजा दिए जाते हैं, उनकी उल्टी ताल सुनकर हृदय काँपता है और लगता है कि जैसे मृत्यु को नेंग में स्त्री सौंपी जा रही हो। सिर्फ़ इतना ही नहीं, देहरी के बाहर कदम रखती बिटिया पर मखाने भी फेंके जाते हैं और डोली में जाती बेटी बन के बरेदी से कहती है -- हमरे खेलत की धरीं हैं पुतरियाँ, गंगा में दैओ सिराय मोरे लाल।

विजयदेव नारायण साही यह भी कहते हैं कि -- जायसी का प्रस्थान-बिन्दु न तो ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिन्ता का मुख्य ध्येय मनुष्य है -- जो जीवन से सीखता है, सम्बन्ध जोड़ता है, प्रेम करता है, वीरता और कायरता दिखाता है, राज्य स्थापित करता है, छल-कपट से बाज नहीं आता और इस सबके बाद अपनी अपर्याप्तता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो जाता है। अपनी मूल प्रकृति में पद्मावत एक त्रासदी है।

मध्य युग के कवि आक्रांताओं के आगे विवश होते जाते मनुष्य को बार-बार याद दिलाते रहे कि यह जो मानव-तन मिला है, इस तन में समाई समूची सृष्टि अगर देखी-परखी जा सके तो यही तन मानव ब्रह्म ठहरता है जिसमें आत्म जागता है और उस समय के कविगण मनुज रूप ईश्वर की वंदना करते हैं। जायसी कहते हैं -- कीन्हेसि मानुस दिहिस बड़ाई और बाद में तुलसीदास भी यही कहते हैं -- बड़े भाग मानुस तन पावा। काव्यों में यह मनुज रूप अकेला ईश्वर अपनी उस प्रिया को खोजता फिरता है जो उससे दूर है और वही उसका वास्तविक घर है। जायसी का एक सिंहलद्वीप गगन में है और दूसरा धरती पर है। धरती पर पद्मिनी-रूप प्रिया को पाने के लिए सात समुद्र पार करना पड़ते हैं जो देह से बाहर की यात्रा है और उसी प्रिया को देह के भीतर की यात्रा करके पाना हो तो देह में ही बसे सात शरीरों से क्रमशः ऊपर उठने की साधना करना पड़ती है। जब उस प्रिया से मिलन होता है तो सारे छाप-तिलक झर जाते हैं।

जायसी कहते हैं -- सात खण्ड ऊपर कबिलासू। तहँ सोवनारि सेज सुख बासू। जिन नारियों के कन्ता इन रानी सतखण्डा की खोज में साधु होकर सात समन्दर पार चले गये हैं, वे लोकगीतों में बिरहा गाते हुए इन्हें कोसती हैं -- जरियो तो बरियो रे, अरे रानी सतखण्डा हो, तोरे पानों पे परे रे तुसार, तोरे अकेले अरे जियरा बिन, सूनो लागे सकल संसार। वे कहती हैं कि तुम्हारा काम तो पान-फूल से चल जाता है पर पति के घर न लौटने से मेरा संसार तो सूना हो गया है। नागमती का संसार भी कन्ता के बिन सूना है। जायसी कृत नागमती का विरह सहृदय को दो-दो अँसुआ रुलाता है --

> विरह उसे भूखे कौए की तरह खा रहा है, माँस खाकर हाड़ पर चिपटा है। याद करें वह लोक प्रसिद्ध व्यथा -- कागा सब तन खाइयो चुन-चुन खइयो माँस, दो नैना मत खाइयो पिया मिलन की आस। बरसहिं नैन चुअहिं घर माँहा -- मेरे नयन आँसू बरसाकर घर में टपक रहे हैं। नागमती अपने प्रियतम का पता वन पाखियों से पूछती फिरती है --ना पावस ओहि देसरें ना हेवन्त बसन्त। ना कोकिल ना पपीहरा केहि सुनि आवहि कन्त। तुलसीदास के

राम नागमति की ही तरह सीता का पता पूछते फिरते हैं -- हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी .
तुम देखी सीती पिक बैनी। सागर पार किये बिना रामायण भी कहाँ पूरी होती है।

जायसी के पद्मावत में कल्पित सात समुद्र हमारी देह में बसे सात शरीरों जैसे ही हैं। ये हमारी देह में ही हिलुर रहे हैं और इनका पानी भी अलग-अलग स्वाद वाला है। ज्योति के सिंहल द्वीप की ओर शुरू होने वाली हमारी यात्रा क्षार समुद्र से आरम्भ होती है, जो बहुत खारा है और अपनी देह की नौका सबसे पहले इसी में डालना पड़ती है। यही भवसागर, जिसमें हमारे आँसुओं का खारापन रोज़ घुलता रहता है। इस खारेपन को पार करके क्षीर समुद्र में अपनी नौका खेनी पड़ती है। इस सागर की द्रव्यराशि पर मन रीझता है और बटोही भटकता है। इस सागर से पार पाना कठिन है। अगर पार कर लिया तो आगे दधि समुद्र की गहरायी का पता चलता है। जायसी कहते हैं कि शरीर में प्राण दही से भरी मटकी जैसे हैं और मन दृढ़ मथानी है। उस मथानी से प्राण को मथे बिना घी नहीं निकलता, प्रेम की जोत नहीं जलती। आगे उदधि समुद्र आता है जो विरह की ज्वाला जैसा है जैसे वह अपने ही जल को अपनी ही आग में औंट रहा हो। प्रेम की जोत जलाने के लिए जायसी की विरह की आग बिलकुल ऐसी ही तो है, जो अपनी नौका खेती हुई सुरा समुद्र में आकर और अपने ही शरीर को भट्टी बनाकर अपने ही हाड़-माँस को जला देती है। फिर जलते हुए शरीर से टपकती रक्त की बूँदें आँसू बनकर झरने लगती हैं और जब अपने-से अपने को मथता हुआ किलकिला समुद्र आता है तो उसकी लहरें गगनमण्डल की ओर उठती जाती हैं। जायसी कहते हैं कि मृत्यु ही प्रलय है। इस प्रलय से भयभीत हो जाने पर सत डोल जाता है। जिसका खेवा इस सागर को पार कर ले, उसे ही मानसर समुद्र के दर्शन होते हैं -- जब कालिमा पीछे छूटती जाती है और ज्योति का प्रकाश क़रीब आता दीखता है। फिर मानसर ही अपने आपसे कहता है, यह मानसर हमारा मानस ही तो है --

कहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।

भा निरमर तेन्ह पायन परसें। पावा रूप रूप के दरसें।

पाये रूप रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे।

सूफ़ियों के स्वर्ग में रहने वाली यह सतखण्डा पाट प्रधानी रानी महमदनूर की तरह पद्मावत काव्य की नायिका है। भारतीय दर्शन सृष्टि रचना का आदिभूत कारण प्रकृति में खोजता है। सूफ़ियों की यह हक़ीकतुल मुहम्मदिया भी ऐसी ही जान पड़ती है। वासुदेव शरण अग्रवाल ठीक ही कहते हैं कि -- जायसी ने अरूप ज्योति की सलोनी कथा कही है जो सूर्य होकर रत्नसेन के हृदय में विराजती है और अपने पंचभौतिक सौन्दर्य में चन्द्रमा बन जाती है जिससे मिलने के लिए रत्नसेनरूपी सूर्य व्याकुल होता है। अमूर्त ज्योति का मूर्त रूप ही पद्मावती की भौतिक देह है। जो सोलह कलाओं से पूर्ण होकर पद्मावत काव्य की लावण्यमयी नायिका है। जायसी ने वैदिक दृष्टि से यह जान लिया होगा कि यह विश्व अग्नि और सोम का ही रूप है। सिद्ध कवि गुण्डरीपा कहते हैं कि सूरज और चाँद -- इन दोनों पंखों को काटकर ही उस ज्योति से ही यह घर प्रकाशित हो सकता है जो सूर्य-चन्द्र को भी प्रकाशित करती है। हठयोगियों के काया-साधन में सूरज

और चाँद इड़ा-पिंगला ही हैं, गोरी और साँवरी भी यही हैं। यह द्वैत का अंधेरा इन दोनों के समरस हुए बिना दूर नहीं हो सकता।

मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं -- मानुस प्रेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह छार एक मूँठी। एक मुश्तेगुबार होकर रह जाना आदमी की सीमा है और किसी की आँख का नूर हो जाना उसकी असीमता है। काया-साधन कई प्रकार के रहे हैं पर प्रेम के लिए तो हृदय ही है, जो मनुष्य के भावसंसार के साथ उसका विज्ञानकोष भी सम्भालता है। यही वह गर्भगृह है जिसे पद्मावत के अवतरण के चालीस बरस बाद तुलसीदास हृदय सिन्धु कहते हैं जिसमें हमारी मति सीप की तरह किसी मुक्तारूप को पाने के लिए हिलुरती रहती है। जायसी कहते हैं -- पानी माँह समानी जोती। पानिहि उपजै मानिक मोती। -- ईश्वर का घर पानी में है और जल की सूक्ष्मतम अवस्था को श्रृद्धा कहा गया है। यह श्रृद्धा ही सातों भवसागरों से पार उतारती हुई देह को ही देह में ऊँचा उठाती है।

कवि विद्यापति की याद आती है, वे प्रेम में डूबती जाती देह में घटती उस प्रलय को रच सके, जिसके अन्तरतम में जल उमड़ रहा है, देह की धुरी डगमगा रही है और प्राण ऐसे व्याकुल हो रहे हैं जैसे प्रलय का समय हो। देह ऐसे डूब रही है जैसे किसी युग का अवसान हो रहा हो और जिसके घट जाने के बाद अपनी ही देह पर प्रेम की अनुभव भूमि ऊपर उठती हुई दीखती है। प्रेम का वह आकाश दीख पड़ता है जहाँ श्यामघन में समायी प्रिया बिजुरी की तरह उसी में सिहरती है और उसी में समाए चली जाती है। यह प्रेमघन उसी पर बरसकर उसकी देह को कुसुमित होने के लिए ऐसे उत्सुक करता है जैसे फिर कोई नया युग आ रहा हो -- प्रेम में ऐसे ही युग बीतते और आते रहते हैं, प्रेम का अल्त कभी नहीं आता।

मुजीब रिज़वी अपने जायसी अध्ययन के आधार पर यह मानते हैं कि पद्मावत की रचना एक ही समय में नहीं हुई है। प्रारम्भ में यह एक लघु प्रेमाख्यान ही रहा होगा। बाद में जायसी अपने जीवन काल में उसे संशोधित भी करते रहे। मुझे तो यह भी लगता कि उनके जीवन काल के बाद भी उसमें कुछ जोड़ा-घटाया जाता रहा होगा। कहीं-कहीं तो रामचरितमानस से भी साम्य निकल आता है। तुलसीदास जिस --जग सम्भव पालन लयकारिणी अजा-अनादि शक्ति को पहचानते हैं जायसी उसे भंजन, गढ़न, सँवारन कहते हैं। कवि तुलसी कहते हैं -- कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा। और कवि जायसी -- हौं सब कबिन्ह केर पछि लगा। किछु कहि चला तबल देई डगा। यह भी सम्भव है कि शास्त्रों और ग्रंथों का काव्य रस निकालने वाले महाकवि ने जायसी से भी कुछ सीख लिया हो। आखिर दोंनो माँग के खाकर और मसीत में सोकर अपना गुजारा चलाने की तो ठाने हुए थे।

विजयदेव नारायण साही की यह स्थापना बहुत सटीक लगती है कि -- जब दो तरह की पौराणिकताएँ एक-दूसरे का निषेध करके केवल विध्वंस और कट्टरपन को जन्म देती हों, जहाँ इतिहास आंतरिकता के अभाव में वीराने में सुल्तान खड़े करता हो, वहाँ बिना पौराणिकता का आश्रय लिए काल और कालातीत, इतिहास और इतिहासातीत को कैसे जोड़ा जाये। यही समस्या जायसी को वह ट्रैजिक विजन प्रदान

करती है जिसे साही विषाद-दृष्टि कहते हैं। सिंहल-लोकीय काल का विश्लेषण करते हुए साही एक और बात भी कहते हैं कि -- वहाँ कालबोध एक चिरंतन स्थिरता और वैश्विक सामरस्य की तरह अनुभूत होता है। परन्तु दिल्ली-चित्तौड़ की दुनिया में काल भूत-वर्तमान-भविष्य की सीधी रेखा में दीखता है। हर स्थिति और घटना भविष्य की ओर भागती है और इस भविष्य पर किसी का कोई अधिकार नहीं। न रत्नसेन का, न अलाउद्दीन का।

द्वितीया तभी आयेगी, जब उसे आना होगा। वह एक दिन पहले नहीं आ सकती और यदि जादू से लाई जायेगी तो अपराध और विपत्ति का सूत्रपात करेगी। जायसी दो बोल सँवारते हैं। आज फिर ये दो बोल बिखराये जा रहे हैं। काश हम इन दो बोलों को फिर सँवारकर जायसी की तरह कह सकें -- हम सँवरै दो बोल।

कबीर तो अपने प्रतिरोधी स्वर में बार-बार यही कहते रहे कि -- अरे इन दोउन राह न पाई। यह भी कहते रहे कि -- केतिक कहौ कहा नहिं माने, आपहि आप समाना। हम याद करें जब राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का फैसला आया तो दो न्यायाधीशों ने बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही। श्री चन्द्रचूड़ ने कहा कि -- हमारे देश की धरती आक्रमणों और असंतोष की गवाह रही है फिर भी भारत के विचार में उन सभी को स्थान मिला, जिन्होंने अपना महत्त्व साबित किया। जस्टिस श्री नजीर ने यह माना कि -- न्यायालय को ऐसे मामले में न्याय करना है जिसमें सत्य की खोज के दो तरीके एक-दूसरे की स्वाधीनता का हनन करते हैं।

चार सौ साल पहले मलिक मुहम्मद जायसी के कबिलास में इसी न्याय की खोज की विकलता अनुभूत होती है। वहाँ भी दो सचाईयाँ एक-दूसरे की स्वाधीनता का हनन करती आमने-सामने खड़ी हैं और जायसी आक्रमण और असंतोष के बीच भारत के विचार में दोनों का महत्त्व निरूपित करने के लिए व्याकुल हैं। एक का मानता है कि उसका पीहर गगन में और नैहर धरती पर है। दूसरा मानता है कि उसका पीहर धरती पर है और नैहर गगन में है। यह जायसी जैसे एक कुजात सूफी कवि के ही वश की बात थी जो दोंनो के नैहर और पीहर की परस्पर विरोधी दूरियों को पाटने के लिए एक प्रेम-आख्यान रच सका।

कबीर तो कहते ही हैं कि हम वासी उस देश कौ, जँह जाति बरन कुल नाहिं। शबद मिलाबा होय रहा देह मिलाबा नाहिं। तभी तो जायसी अपने शबद मिलावे में दोनों के बोल सँवारते हैं। खुदा करे, भारत के नागरिकों की सूची बनाने वाले लोग जाति-बरन और कुल से ऊपर उठकर इन दो बोलों को बिखरने से बचा सकें।

महाभारतदर्पण : अनुवाद एवं पाठालोचन की भारतीय परम्परा

डॉ. राजकुमार

महाभारत को सभ्यतापरक ग्रन्थ के रूप में देखा जा सकता है। महाभारत धर्म के किसी एक विशिष्ट निश्चित रूप का प्रचार नहीं करता बल्कि सामाजिक नैतिकता को प्रश्नांकित करता है। उल्लेखनीय है कि सामाजिक नैतिकता को लेकर ब्राह्मणिक परिप्रेक्ष्य और ब्राह्मणिक परिप्रेक्ष्यों को चुनौती देने वाली परम्पराओं के बीच लम्बे समय तक वाद-विवाद होता रहा।

-रोमिला थापर (२०१० : १४-१६)

(१)

शास्त्र प्रकाश प्रेस, कलकत्ता से १८२८-२६ में 'महाभारतदर्पण' पहली बार प्रकाशित हुआ। पण्डित लक्ष्मीनारायण ने इसे शुद्ध किया। गार्साद तासी ने इसे उस दौर में छपने वाले हिन्दी के सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक माना और इसके अनुवाद के लालित्य और मूल के समीप होने की तारीफ की।

चालीस साल बाद अमेठी के राजा माधव सिंह के आर्थिक सहयोग से नवल किशोर प्रेस ने इसे दोबारा प्रकाशित किया। तब तक कलकत्ता से छपा यह संस्करण समाप्त हो गया था। पचास रुपये देने पर भी उपलब्ध नहीं था।

नये संस्करण के प्रकाशन से पहले नवल किशोर प्रेस के पण्डित प्यारेलाल और रामरतन बाजपेई ने इसे संशोधित किया। सन् १८७४ में यह तैयार हो गया। ६००० पृष्ठों के इस ग्रन्थ को चार जिल्दों में प्रकाशित किया गया। प्रत्येक खण्ड के साथ इण्डेक्स भी जोड़ा गया। इसकी कीमत १२ रुपये रखी गयी। यह प्रकाशित होते ही हाथों-हाथ बिक गया। ब्रिटिश पब्लिकेशन रिपोर्ट में इसे हिन्दी प्रकाशन जगत की सन् १८७४ में घटित होने वाली सबसे महत्वपूर्ण घटना बताया गया। इसका दूसरा और तीसरा संस्करण सन् १८८३ और सन् १८६१ में छापा गया।

महाभारतदर्पण की सफलता से उत्साहित होकर नवल किशोर प्रेस ने खड़ी बोली में महाभारत प्रकाशित करने की योजना बनाई। खड़ी बोली में 'महाभारत भाषा' सन् १८८६ में आया। खड़ी बोली में महाभारत लाने का काम पण्डित कुंजबिहारी लाल ने शुरू किया और इनके चाचा पण्डित कालीचरण ने इसे पूरा किया। अनुवादकों और प्रकाशक के सहकार से यह बड़ा काम सम्भव हुआ। किन्तु नवल किशोर प्रेस से पहले सन् १८७५ में कलकत्ता से कृष्णचन्द्र धर्माधिकारी ने महाभारत का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवा दिया था।

कुंजबिहारी लाल, मोहन लाल के बेटे और गोकुलचन्द्र के पौत्र थे। कालीचरण गोकुलचन्द्र के पुत्र थे। कुंजबिहारी लाल ने पहले पाँच पर्वों का अनुवाद किया। शेष पर्वों का अनुवाद कालीचरण ने किया। किन्तु उद्योग पर्व का अनुवाद महेश दत्त शुक्ल ने किया। नवल किशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित खड़ी बोली के अनूदित महाभारत को 'महाभारतभाषा' नाम दिया गया। उल्लेखनीय है कि हिन्दी क्षेत्र की भाषाओं के लिए ईसा की दूसरी सहस्राब्दी में 'भाषा' या 'शाखा' शब्द का ही प्रयोग होता रहा है। बाहर से आने वालों ने इस हेतु अवश्य हिन्दुई शब्द का प्रयोग किया है। 'महाभारतभाषा' की भाषा 'शुद्ध हिन्दी' रखी गयी और फ़ारसी-अरबी के शब्दों को यथासम्भव हटा दिया गया। किन्तु उसे तत्सम बहुल अलंकरण प्रधान हिन्दी नहीं कहा जा सकता। इसमें हिन्दी का सहज प्रवाह देखा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु ने १८७३ में लिखा था कि 'हिन्दी नई चाल में ढली'। 'महाभारतभाषा' की हिन्दी और भारतेन्दु की नये चाल की हिन्दी में दिखायी पड़ने वाली समानता का गहन अध्ययन करने की ज़रूरत है। इससे 'नई चाल की हिन्दी' को समझने में मदद मिलेगी। किन्तु फिलहाल यह हमारे अध्ययन का विषय नहीं है। इसलिए इस प्रसंग को यहीं छोड़ देना उचित होगा। चलते-चलते यह उल्लेख कर देना ठीक रहेगा कि 'महाभारतभाषा' के मुख्य पृष्ठ पर लिखा रहता था कि 'संस्कृत महाभारत का यथातथ्य पूरे श्लोक का भाषानुवाद कराया।' ध्यातव्य है कि यहाँ यथातथ्य, श्लोक दर श्लोक समूचे संस्कृत महाभारत का अनुवाद कराने पर ज़ोर दिया गया है। किन्तु 'महाभारतदर्पण' की तरह यहाँ भी यह नहीं बताया गया कि संस्कृत महाभारत का कौन-सा रूप था, जिसका अनुवाद कराया गया।

महाभारत का ब्रजभाषा रूपान्तर काशी नरेश उदित नारायण सिंह की आज्ञानुसार आरम्भ हुआ। इसके पूरा होने में कहा जाता है कि पचास वर्ष लगे। शुरुआत भले ही महाराजा चेतसिंह जी के समय में हुई हो, लेकिन ये पूरा हुआ उदित नारायण सिंह जी के समय में। ये भी उल्लेख मिलता है कि काशी नरेश ने इस कार्य हेतु उस समय एक लाख से अधिक रुपया दिया था। महाभारत के भाषा रूपान्तर को पूरा करने में तीन व्यक्तियों का योगदान था। इन तीनों व्यक्तियों के बारे में उपलब्ध जानकारी का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :-

(१) गोकुलनाथ बंदीजन :-

गोकुलनाथ बंदीजन कवि रघुनाथ बंदीजन के पुत्र थे। शिवसिंह सरोज के अनुसार संवत् १८३४ में इनके मौजूद होने का उल्लेख मिलता है। शिवसिंह सरोज सर्वेक्षण में किशोरीलाल गुप्त ने लिखा है कि ''यह काशी नरेश महाराजा बरिबण्ड सिंह (शासनकाल १७६७-१८२७ वि.), महाराजा चेतसिंह (शासन काल १८२७-३८ वि.) और महाराजा उदित नारायण सिंह (शासनकाल १८५२-६२ वि.) के आश्रय में रहे। इनका चेतचन्द्रिका ग्रन्थ प्रामाणिक माना जाता है। इसके अतिरिक्त 'गोविन्द सुखद बिहार' ग्रन्थ भी बहुत अच्छा बन पड़ा है। चेतचन्द्रिका इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि इसमें काशीनरेश की वंशावली का विस्तृत वर्णन मिलता है। चौरा गाँव, जो पंचकोशी के भीतर है, में इनका घर था। इन्होंने संस्कृत महाभारत का महाभारतदर्पण नाम से

देशभाषा में रूपान्तरण आरम्भ किया। इनकी कीर्ति का सबसे बड़ा आधार महाभारत का महाभारतदर्पण के नाम से किया गया रूपान्तरण ही है।

(२) गोपीनाथ बंदीजन :-

ये गोकुलनाथ के पुत्र थे और इनके संवत् १८५० में मौजूद होने का उल्लेख मिलता है। अपने पिता गोकुलनाथ के साथ महाभारत के रूपान्तर में इन्होंने भी हाथ बँटाया। इनके जीवन का ज़्यादा समय महाभारत के रूपान्तरण में व्यतीत हुआ। यद्यपि इन्होंने शृंगार आदि रसों से सम्बन्धित रचनाएँ भी लिखीं, किन्तु इनकी ख्याति का आधार भी महाभारत का इनके द्वारा किया गया रूपान्तरण ही है।

(३) मणिदेव :-

शिवसिंह सरोज के अनुसार ये संवत् १८६६ में मौजूद थे। इन्होंने गोकुलनाथ और गोपीनाथ के साथ महाभारत के रूपान्तर का कार्य किया। कुछ लोग इन्हें गोपीनाथ का शिष्य मानते हैं। डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने लिखा है कि ''ग्रियर्सन ने इन्हें गोपीनाथ का शिष्य कहा है जो ठीक नहीं है। यह गोपीनाथ के बाप के शिष्य थे।''

महाभारतदर्पण के प्रत्येक अध्याय के पीछे उस अध्याय के रचयिता का नाम दिया गया है। आदि, सभा, वन, विराट और उद्योगपर्व का अनुवाद मणिदेव ने किया है। इनमें से वनपर्व के चार अध्यायों का रूपान्तर इन्होंने नहीं किया। गोकुलनाथ ने भीष्मपर्व के पाँच, द्रोणपर्व के चार और शान्तिपर्व के नौ अध्यायों का रूपान्तर किया है। गोपीनाथ ने भीष्म और द्रोण पर्व के शेष भाग और अश्वमेध, आश्रमवासिक, मुशल एवं स्वर्गारोहण पर्वों तथा हरिवंश पर्व का रूपान्तर किया। शान्तिपर्व के इन्होंने केवल ३० अध्याय लिखे। मणिदेव ने कर्ण, शल्य, गदा, सौप्तिक, ऐशिक, विशोक, स्त्री और महाप्रस्थान पर्वों तथा शान्तिपर्व के शेष प्रायः २२५ अध्यायों की रचना की। वनपर्व के शेष चार अध्यायों में से गोपीनाथ और मणिदेव ने दो-दो अध्याय बनाए। इस हिसाब से महाभारत में इन तीनों महाशयों ने आकार की दृष्टि से बराबर रूपान्तर किया। जान पड़ता है इन तीन कवियों ने महाभारत और हरिवंश को मिलाकर तीन बराबर भागों में विभक्त करके एक-एक भाग का अनुवाद कर डाला।

यद्यपि महाभारत का अनुवाद तीन व्यक्तियों ने मिलकर किया। फिर भी मिश्रबन्धु के अनुसार 'कवित्त शक्ति और रचना शैली इन तीनों कवियों की बिल्कुल एक है।' मिश्रबन्धुओं के अनुसार इन तीन कवियों की मदद के लिए पण्डित भी नियत कर दिए गए थे। किन्तु ये पण्डित क्या करते थे? इनकी भूमिका क्या थी? इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

(२)

'महाभारतदर्पण' के कवियों ने न तो अपने ग्रन्थ की कोई भूमिका लिखी है और न ही इसके रचनाकाल का उल्लेख किया है। मिश्रबन्धुओं ने लिखा है कि उन्होंने मणिदेव के पौत्र शीतला प्रसाद से इसके

बारे में पूछा तो उन्होंने बताया कि महाभारतदर्पण संवत् १८८४ में पूरा हुआ। इसलिए ये मान लेने में कोई हर्ज नहीं कि महाभारत का रूपान्तर संवत् १८८४ में पूरा हुआ। इसके बावजूद ये जानने को कोई ठोस आधार नहीं है कि महाभारत के रूपान्तर का कार्य कब आरम्भ हुआ। मिश्रबंधु लिखते हैं कि 'गोकुलनाथ का कविताकाल अनुमान से लगभग संवत् १८२८ से प्रारम्भ होता है। यही समय इस अनुवाद का आरम्भ समझना चाहिए। इस तरह संवत् १८२८ से १८८४ के बीच महाभारत के अनुवाद का कार्य पूरा हुआ, ऐसा माना जा सकता है। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि ''इस ग्रन्थ के बनने में पचास वर्ष से ऊपर लगे हैं। अनुमानतः इसका आरम्भ संवत् १८३० में हो चुका था और यह संवत् १८८४ में जाकर समाप्त हुआ। इसकी रचना काशी नरेश महाराजा उदित नारायण सिंह की आज्ञा से हुई जिन्होंने इसके लिए लाखों रुपये व्यय किये।'' स्पष्ट है कि रामचन्द्र शुक्ल का अनुमान मिश्र बन्धुओं के साक्ष्य पर ही आधारित है और दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

विचारणीय प्रश्न ये है कि क्या 'महाभारतदर्पण' को संस्कृत महाभारत का अनुवाद कहा जा सकता है? अनुवाद के लिए एक मूल ग्रन्थ चाहिए। प्रश्न ये है कि अठारहवीं सदी में वह कौन सा संस्कृत महाभारत था जिसका अनुवाद किया गया। 'महाभारतदर्पण' के कवियों ने ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया जिससे ये पता चल सके कि किस संस्कृत महाभारत का उन्होंने अनुवाद किया। उल्लेखनीय है कि अठारहवीं सदी में महाभारत के कई रूप प्रचलित थे। इसलिए ये सोचना ग़लत है कि संस्कृत महाभारत का कोई एक रूप था और सर्वत्र उसी का प्रयोग होता था।

ध्यातव्य है कि हिन्दी-क्षेत्र में अभी भी किताब छापने के लिए प्रिटिंग प्रेस का इस्तेमाल नहीं किया जाता था। इसीलिए 'महाभारतदर्पण' का वजूद उस समय एक हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में था। 'महाभारतदर्पण' की हस्तलिखित पाण्डुलिपि काशी नरेश के पुस्तकालय में उपलब्ध है। लेकिन फ़िलहाल इस पुस्तकालय की अवस्था ऐसी है कि उसे देख पाना असम्भव हो गया है। 'महाभारतदर्पण' की पाण्डुलिपि के कुछ अंश उदयपुर में भी हैं, ऐसी सूचना मिलती है। लेकिन अभी तक उपलब्ध जानकारी से ये पता कर पाना मुश्किल है कि महाभारतदर्पण का 'अनुवाद' किस संस्कृत महाभारत के आधार पर किया गया। इसलिए ये जानने की कोशिश की गई कि अठारहवीं सदी के बनारस में संस्कृत महाभारत का कौन-सा हस्तलिखित रूप प्रचलन में था। खोजने पर पता चला कि उस दौर में नीलकण्ठ द्वारा तैयार किया गया नीलकण्ठ महाभारत और महाभारत पर उनके द्वारा लिखी गयी 'भारतभावदीपटीका' उपलब्ध थी।[१]

नीलकण्ठ वैसे तो दक्षिण के रहने वाले थे किन्तु वे बनारस में आकर बस गये थे। कुछ लोग उन्हें महाराष्ट्र का निवासी भी बताते हैं। नीलकण्ठ ने उस समय उपलब्ध महाभारत की पाण्डुलिपियों का अध्ययन कर महाभारत का एक प्रामाणिक पाठ तैयार किया और उसकी एक टीका भी लिखी।[२] पाठ तैयार करने के दौरान उन्होंने महाभारत पर लिखी गई टीकाओं का भी इस्तेमाल किया। अर्जुन मिश्र द्वारा लिखी गई टीका

का प्रभाव नीलकण्ठ द्वारा तैयार किये गये पाठ में सबसे ज़्यादा दिखाई पड़ता है। अर्जुन मिश्र के अतिरिक्त ग्यारहवीं सदी के कश्मीरी विद्वान् देवधर की टीका का भी अच्छा खासा प्रभाव इस पाठ पर दिखता है।

नीलकण्ठ द्वारा बनाया गया यह संस्करण बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ और बीसवीं सदी में भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इस्टीट्यूट द्वारा सुकथणकर के सम्पादन में तैयार किए गये महाभारत के क्रिटिकल एडिशन के पहले तक इस संस्करण की धूम थी। ये सही है कि महाभारत का नीलकण्ठी पाठ उत्तर भारत में उपलब्ध पाण्डुलिपियों के आधार पर तैयार किया गया था किन्तु इसके बावजूद इसका महाभारत के पाठ-निर्धारण में बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। एक तरह से इसने महाभारत के पाठ को स्थिर कर दिया। इसके बाद महाभारत में कोई उल्लेखनीय नई बात नहीं जोड़ी गयी। महाभारत के नीलकण्ठ द्वारा तय किए पाठ को लेकर दक्षिण भारत के विद्वानों ने आपत्ति की। उनकी आपत्ति का मुख्य आधार ये था कि नीलकण्ठ द्वारा तय किए गये महाभारत के पाठ में दक्षिण भारत में उपलब्ध पाण्डुलिपियों का उपयोग नहीं किया गया है। इसीलिए कालान्तर में दक्षिण भारत के आचार्यों ने महाभारत का दाक्षिणात्य पाठ तैयार किया। पहला पाठ पी. पी. शास्त्री और दूसरा कुम्भघोनम ने तैयार किया। किन्तु इन दोनों पाठों की चर्चा न कर फिलहाल नीलकण्ठ द्वारा तैयार किए महाभारत की चर्चा करेंगे।

सन् १६०० में कलकत्ता में प्रताप चन्द्र राय ने महाभारत का एक पाठ तैयार किया। ये पाठ नीलकण्ठ के द्वारा तैयार किये गए महाभारत के पाठ पर ही आधारित था। क्ले लाइब्रेरी ने भी नीलकण्ठ महाभारत को ही अनुवाद हेतु चुना। फिर के.एम. गांगुली ने समूचे महाभारत का अंग्रेजी अनुवाद १८८३ ई. से १८९६ ई. के दौरान किया। ये अनुवाद भी नीलकण्ठ द्वारा तैयार किये गये संस्करण पर आधारित है। यही नहीं, गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित महाभारत भी मूलतः नीलकण्ठ के महाभारत के आधार पर बनाया गया है। यह अवश्य है कि इसमें दाक्षिणात्य संस्करणों में पायी जानी वाली भिन्नता का समावेश कर लिया गया है। दाक्षिणात्य संस्करणों से जो श्लोक शामिल किए गए हैं, उनकी श्लोक संख्या नहीं दी गयी है। उन्हें कोष्ठक में रख दिया गया है। केवल नीलकण्ठ संस्करण पर आधारित श्लोकों की संख्या दी गयी है। इस तरह प्रताप चन्द्र राय का महाभारत, के.एम. गांगुली कृत महाभारत का अंग्रेजी अनुवाद क्ले पुस्तकालय तथा गीता प्रेस द्वारा तैयार किया गया संस्करण- ये सभी नीलकण्ठ महाभारत पर ही आधारित है। कुछ विद्वान तो सुकथणकर, पाठ के मुकाबले नीलकण्ठी पाठ को ज़्यादा बेहतर मानते हैं। (देखें प्रदीप भट्टाचार्य का लेख, २०१८)।

यदि 'महाभारतदर्पण' को 'नीलकण्ठ महाभारत' से मिलाकर देखा जाय तो ये स्पष्ट हो जाता है कि महाभारतदर्पण 'नीलकण्ठ महाभारत' के आधार पर तैयार किया गया है। 'महाभारतदर्पण' में 'नीलकण्ठ महाभारत' की भाषा को प्रायः यथावत् उतार दिया गया है (देखें परिशिष्ट-१)। 'महाभारतदर्पण' की तत्सम् शब्दावली 'नीलकण्ठ महाभारत' से हूबहू मिलती है। जो भिन्नता है वह क्रियारूपों के कारण है। इससे ये बात समझ में आ जाती है कि 'महाभारतदर्पण' 'नीलकण्ठ महाभारत' को सामने रखकर तैयार किया गया है।

इसलिए 'महाभारतदर्पण' को पश्चिमी ढंग के अनुवाद के प्रारम्भिक साक्ष्य के रूप में लिया जा सकता है। आगे बढ़ने से पहले ये उल्लेख कर देना ज़रूरी है कि 'महाभारतदर्पण' में 'नीलकण्ठ महाभारत' को यथावत् उतारने की कोशिश तो की गयी है किन्तु कुछ अवान्तर प्रसंगों को या तो संक्षिप्त कर दिया गया है या उन्हें पूरी तरह छोड़ दिया गया है। यथावत् अनुवाद के पश्चिमी ढंग में अनुवादक किसी प्रसंग को न तो छोड़ सकता है न तो संक्षिप्त कर सकता है। इस दृष्टि से विचार करें, तो 'महाभारतदर्पण' को भी पूरी तरह आइकॉनिक (Iconic) अनुवाद नहीं कहा जा सकता। इसके बावजूद ज़्यादातर प्रसंगों को 'महाभारतदर्पण' यथावत् प्रस्तुत करता है। इसलिए इसे 'आइकॉनिक' अनुवाद के प्रारम्भिक साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। उल्लेखनीय है कि ज़्यादातर विद्वान् ये मानते हैं कि भारत में 'आइकॉनिक' अनुवाद की शुरुआत पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव के कारण उन्नीसवीं सदी में हुई। लेकिन 'महाभारतदर्पण' के साक्ष्य से इस कथन को संशोधित करना चाहिए। पूरी तरह न सही, फिर भी 'आइकॉनिक' अनुवाद के इस साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से 'आइकॉनिक' अनुवाद की हिन्दी क्षेत्र में शुरुआत हो जाती है। किन्तु सच तो ये है कि अठारहवीं सदी से पहले भी 'आइकॉनिक' अनुवाद के साक्ष्य कम-से-कम जैन परम्परा में मिलने लगते हैं। एक पश्चिमी अध्येता कोर्ट ने बनारसीदास जैन के ग्रन्थों के साक्ष्य पर ये सिद्ध करने का यत्न किया है कि आगरे में सत्रहवीं सदी के दौरान ही आइकॉनिक अनुवाद की शुरुआत हो जाती है। ये सही है कि इस तरह के आइकॉनिक अनुवाद के कुछ ही उदाहरण मिलते हैं। लेकिन इससे ये तो पता लग जाता है कि उन्नीसवीं सदी से पहले भी आइकॉनिक अनुवाद की परम्परा मिलने लगती है। यहाँ ये उल्लेख कर देना ज़रूरी है कि ए.के. रामानुजन ने अनुवाद के तीन प्रकारों की चर्चा की है। आइकॉनिक अनुवाद उन्होंने उसे कहा जहाँ स्रोत भाषा के ग्रन्थ को लक्ष्य भाषा में यथावत् अनूदित की कोशिश की जाती है। कहने के लिए ठीक, लेकिन यथावत् अनुवाद तो सम्भव ही नहीं। फिर भी आइकॉनिक अनुवाद में इसी आदर्श का निर्वाह करने की कोशिश होती है। सिम्बॉलिक और इण्डेक्सिकल अनुवाद को भी अनुवाद माना जाय तभी अनुवाद की भारतीय परम्परा खोजी जा सकती है। लेकिन जैसा पहले कहा गया, 'आइकॉनिक' अनुवाद के साक्ष्य उन्नीसवीं सदी से पहले बहुत ही कम मिलते हैं। 'महाभारतदर्पण' को पूरी तरह न सही, फिर भी आइकॉनिक अनुवाद की श्रेणी में रखा जा सकता है।

'महाभारतदर्पण' की भाषा की ज़्यादातर विद्वानों ने खूब प्रशंसा की है। रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि इसकी भाषा 'प्रांजल और सुव्यवस्थित' है। भाषा प्रांजल और सुव्यवस्थित भले ही हो, लेकिन उसमें हिन्दी का सहज प्रवाह कहीं-कहीं बाधित हुआ है। कारण सम्भवतः ये है कि इसकी भाषा को मूल के यथासम्भव समीप रखने की कोशिश की गयी है। बलदेव उपाध्याय के शब्दों में 'इसकी भाषा मूल संस्कृत के काफ़ी निकट है।' भाषा को मूल संस्कृत के काफी निकट रखने के कारण ही 'महाभारतदर्पण' की भाषा में वैसा सहज प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता जैसा सबलसिंह कृत महाभारत में मिलता है। ये स्वाभाविक भी है क्योंकि इससे पहले हिन्दी की जातीय परम्परा में 'मूल' को लक्ष्यभाषा में यथावत् रूपान्तरित करने की चेष्टा प्रायः नहीं की गयी। इसलिए महाभारतदर्पण को एक ऐसे नये प्रस्थान के रूप में देखना चाहिए जहाँ मूल को यथावत् अनूदित

करने की कोशिश की गयी। इससे पहले नया ग्रन्थ रचने का चलन था। कभी-कभी तो मूल ग्रन्थ कौन है, यही तय कर पाना असम्भव हो जाता था। जैसे पुराने बरगद के पेड़ में मूल तना कहाँ है, ये तय कर पाना मुश्किल होता है। ऊपर से नीचे लटकने वाले बरोह भी समय बीतने के साथ तने के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। किन्तु अनुवाद के लिए ये आवश्यक है कि आप पहले किसी मूल ग्रन्थ की परिकल्पना स्वीकार करें, तभी आप उसका अनुवाद कर सकते हैं।

(३)

दक्षिण एशिया में पूर्व औपनिवेशिक दौर में अनुवाद की परम्परा नहीं मिलती। अठारहवीं सदी से पहले किसी विदेशी ग्रन्थ के हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा में अनूदित किए जाने के साक्ष्य नहीं मिलते। असल में ट्रान्सलेशन के लिए किसी भारतीय भाषा में कोई शब्द नहीं दिखता। संस्कृत के शब्दकोशों में अनुवाद का अर्थ पीछे बोलना, जैसा बोला गया, पीछे समझना था। ट्रान्सलेशन के लिए अनुवाद शब्द का प्रयोग उन्नीसवीं सदी में होने लगा। शब्द तो पुराना रहा किन्तु अर्थ बदल गया। अनुवाद का अर्थ ट्रान्सलेशन हो गया। हरिश्चन्द्र मैग्ज़ीन में भारतेन्दु ने अनुवाद शब्द का प्रयोग Translation के अर्थ में किया है। सम्भव है कि अनुवाद शब्द का 'Translation' के अर्थ में प्रयोग भारतेन्दु से पहले भी हुआ हो, किन्तु अभी तक जो जानकारी उपलब्ध है, उसके अनुसार ट्रान्सलेशन के अर्थ में अनुवाद शब्द का यह सबसे पुराना प्रयोग है। उन्होंने बंगभाषा से अनुवाद/छायानुवाद के रूप में इस शब्द का प्रयोग किया है।

सुसन वॉस्नेट और हरीश त्रिवेदी ने (१९९:९) ने लिखा है कि ट्रान्सलेशन के लिए संस्कृत के अनुवाद शब्द का प्रयोग भारत के प्रायः सभी भाषाओं में हुआ है, जबकि संस्कृत में अनुवाद का अर्थ दोहराना या पुनर्कथन है। अनुवाद के इसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए किस्ट्री मेरिल ने अनुवाद की भारतीय परम्परा के सम्बन्ध में सम्बद्धता, गतिशीलता और संवादधर्मिता पर जोर दिया है (२००९ : ३४)। यदि ट्रान्सलेशन का अर्थ एक भाषा के ग्रन्थ को दूसरी भाषा में ले जाना है तो अनुवाद का अर्थ 'बदले में बोलना' है। अनुवाद को बदले में बोलने के रूप में देखने पर मूल को यथावत् दूसरी भाषा में उतारने की चिन्ता नहीं रहती और अनुवादक की भूमिका सर्जनात्मक हो जाती है। सच तो यह है कि वह अनुवादक ही नहीं रह जाता, सर्जक हो जाता है। इस प्रकार मूल रचनाकार और अनुवादक का पदानुक्रम ही भंग हो जाता है। असल में अनुवादक की अवधारणा तभी महत्वपूर्ण होगी जब रचना, रचनाकार और स्वामित्व की मान्यता को स्वीकृति मिलेगी। कहने की ज़रूरत नहीं कि प्रिन्ट पूँजीवाद के वजूद में आने के बाद ही ये अवधारणाएँ स्थिर हुईं। पूर्व औपनिवेशिक दौर में प्रचलित अनुवाद की अवधारणा में यथावत् अनुवाद की चिन्ता नहीं थी; सर्जनात्मक नवोन्मेश से कृति नयी होती चली जाती थी। संवाद और सम्बद्धता की पूर्व औपनिवेशिक परम्परा तो खोजी जा सकती है किन्तु इसे आधुनिक अर्थों में अनुवाद कहना मुश्किल है। इसीलिए इस समूची प्रक्रिया को 'इण्टर टेक्सच्युऐलिटी' के सहारे ज़्यादा बेहतर ढंग से व्याख्यायित किया जा सकता है। भारत में अनुवाद के बजाय एक नयी रचना तैयार की जाती थी। इसलिए सही-सही अनुवाद करने की चिन्ता भी यहाँ कहीं नहीं

मिलती। कोर्ट के अनुसार, उन्नीसवीं सदी से पहले यथावत् अनुवाद की चिन्ता दक्षिण एशियाई साहित्यिक संस्कृति में देखने को नहीं मिलती। ब्रियान ए. हैचर ने लिखा है कि उन्नीसवीं सदी में भी ईश्वरचन्द विद्यासागर के यहाँ ऐसी चिन्ता नहीं, किन्तु बंकिमचन्द्र तक आते-आते मूल को अनुवाद में यथावत् उतार देने की चिन्ता दिखाई पड़ने लगती है। भगवत्गीता की टीका में इसे देखा जा सकता है। बंकिम चन्द्र लिखते हैं कि एकाधिक अवसरों पर उन्होंने अर्थबोध कराने हेतु यथावत् अनुवाद के आदर्श का उल्लंघन किया है। (१९८५:२-६८०-८१)

भारत में साहित्यिक ग्रन्थों ही नहीं, चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों का भी अनुवाद नहीं रूपान्तर किया गया। मूलभूत बातों का सार या कई ग्रन्थों में लिखी गयी बातों को एक ग्रन्थ में संग्रहीत करने के प्रयास किए गये। सोलहवीं सदी से ऐसे लोगों के लिए भाषा में ग्रन्थ बनाए जाने का सिलसिला बढ़ गया जो संस्कृत या फ़ारसी नहीं जानते थे। ये ग्रन्थ फ़ारसी या संस्कृत ग्रन्थों पर आधारित थे, किन्तु इन्हें किसी एक ग्रन्थ का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। इन्हें पश्चिमी ढब पर अनुवाद भले न कहा जा सके फिर भी इससे यह तो पता लग ही जाता है कि पश्चिमी ढंग के अनुवाद के चलन से पहले एक भाषा से दूसरी भाषा में ज्ञान के रूपान्तरण की एक पद्धति भारत में चली आ रही थी।

अनुवाद की अनुपस्थिति को समझने की दृष्टि से भाषा और ग्रन्थ की दक्षिण एशिया में प्रचलित अवधारणा को समझना ज़रूरी है। ग्रन्थ की अवधारणा के दो आयाम रहे हैं- केन्द्राभिसारी और केन्द्रापसारी। कपिला वात्स्यायन समेत अनेक विद्वानों ने भारतीय सन्दर्भ में ग्रन्थ के इन दो आयामों की चर्चा की है। दूसरी समस्या भाषा की है।[३] भारतीय परम्परा में भाषाओं का स्वरूप प्रायः इतना खुला हुआ है कि एक भाषा को दूसरी भाषा से अलग करना मुश्किल हो जाता है। इसीलिए कुछ विद्वान यह मानते हैं कि आधुनिक भारत में भी एक भाषा को दूसरी भाषा से अलग कर परिभाषित कर पाना आसान नहीं था। आधुनिक भारतीय भाषाओं में ही नहीं, संस्कृत में भी भाषा की निरपेक्ष और सिर्फ़ लिखित सत्ता स्वीकार नहीं की गयी। प्राकृत, संस्कृत, लौकिक एवं वैदिक संस्कृत को पूरी तरह से अलग कर नहीं देखा गया।[४]

भारत में 'मूल' को यथावत् अनूदित करने पर कभी जोर नहीं दिया गया। इसलिए 'अनुवाद' की परम्परा भी नहीं रही। यहाँ अनुवाद शब्द का प्रयोग 'ट्रान्सलेशन' के वजन पर किया जा रहा है। आगे बढ़ने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मूल ग्रन्थ (Ur text) की अवधारणा भी ए.के. रामानुजम की मानें तो भारतीय नहीं है। बरगद के पुराने पेड़ के तने और बरोह की तरह यह तय कर पाना ही मुश्किल है कि कौन तना है कौन बरोह है। बरोह (Shoot) तने में तब्दील हो जाता है और 'मूल' तने का वजूद ही ख़त्म हो जाता है।

भारतीय परम्परा में ग्रन्थ की स्वतन्त्र सत्ता के बजाय उनकी पारम्परिक सम्बद्धता पर ज़ोर देने का चलन रहा है। इसीलिए यहाँ एक नहीं अनेक रामायण और महाभारत हैं। और इनमें से किसी को भी पूर्ववर्ती कृति का अनुवाद नहीं कहा गया। ये स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, अनुवाद नहीं। वस्तुतः मूल और अनुवाद का

पदानुक्रम पहले नहीं था। इसलिए न तो ट्रान्सलेशन के अर्थ में अनुवाद शब्द था और न ही यथावत् अनुवाद की कोई चिन्ता थी।

वाल्टर वेन्यामिन ने लिखा है कि अनुवाद अन्ततः पुनर्लेखन है किन्तु पुनर्लेखन की बात भारतीय परम्परा में पहले से मान्य रही है। इसीलिए यथावत् अनुवाद पर कभी जोर नहीं दिया गया। पुनर्रचना कहने की ज़रूरत इसलिए महसूस की गयी क्योंकि पुनर्रचना के साथ यह भी ध्यान देना होता है कि पुनर्रचना विधा के अनुरूप हो। कहने का आशय यह कि यदि कविता का अनुवाद किया जा रहा है तो पुनर्रचना भी कविता जैसी लगनी चाहिए। मुकुन्द लाठ लिखते हैं 'कविता के सफल अनुवाद कैसे होते हैं? मैं समझता हूँ, अनुवादक मूल के आधार पर एक नयी कविता गढ़ लेता है और अनुवाद का इससे अलग अपना एक नया अस्तित्त्व हो जाता है। तो फिर प्रश्न उठता है कि मूल के साथ उसका सम्बन्ध क्या होता है? कविता अगर नयी होती है तो उसे किसी मूल का अनुवाद क्योंकर कह सकते है? इस प्रश्न का उत्तर हमें संस्कृत काव्य विमर्श की परम्परा में भी मिलता है। पुरानी कविता को नयी कर लेना और इस तरह उसे अपना बना लेना संस्कृत में कविता करने का माना हुआ मार्ग था। काव्य चोरी का प्रश्न उठाते हुए राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इसकी विस्तार से चर्चा की है और इसे स्वीकरण की संज्ञा दी है।... दूसरों की कविता को अपना लेने भर से चोरी नहीं हो जाती, बात इस पर निर्भर करती है कि कैसे अपनायी जाती है दूसरे की कविता। नया कवि उसके साथ करता क्या है? उन्होंने अपनाने के दो बिल्कुल भिन्न प्रकार बतलाये हैं- एक हरण, दूसरा स्वीकरण। हरण सरासर चोरी है पर स्वीकरण चोरी नहीं। उसमें सृजन है, उत्पादन है। नयी रचना का अधिकार है। (२०१६ : ६१)

स्वीकरण की अवधारणा महत्वपूर्ण है। इससे यह गुत्थी काफ़ी कुछ सुलझ जाती है कि भारत में अनुवाद की परम्परा क्यों नहीं थी। 'महाभारतदर्पण' के अध्ययन में भी इस सूझ से मदद मिल सकती है। किन्तु 'महाभारतदर्पण' की चर्चा से पहले यह देख लेना चाहिए कि सत्रहवीं सदी से क्या स्वीकरण की पुरानी परम्परा में कुछ परिवर्तन होने लगता है।

स्वीकरण की अवधारणा से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है यहाँ 'सन्देश' को एक भाषा से दूसरी भाषा में लाने में एक प्रकार की रचनात्मक उन्मुक्तता थी, रूप को हुबहू उतार देने पर ज़ोर नहीं दिया जाता था। इसका कारण सम्भवतः यह था कि वाक् और अर्थ की सम्पृक्ति पर इतना ज़ोर दिया जाता था कि वाक् को हटाकर अर्थ निचोड़ लेने की कल्पना कर पाना मुश्किल था। यह मान लिया गया था कि किसी रचना को एक भाषा से दूसरी भाषा में पूर्णतः भाषान्तरित कर पाना सम्भव ही नहीं। यहाँ तक कि एक ही भाषा में उसे 'दूसरे शब्दों' में नहीं लाया जा सकता। भाषा का अर्थ बोलने से है। भाषा के लिए जितने भी शब्द संस्कृत में हैं, उन सभी शब्दों का अर्थ बोलना है। यदि हमारी परम्परा में भाषा का अर्थ उच्चरित भाषा है, तो फिर 'दूसरे शब्दों' में वह ध्वनि कैसे आ सकती है? कविता में तो बिल्कुल ही नहीं आ सकती, दूसरी विधाओं और अनुशासनों में भी पूरी तरह नहीं आयेगी। अनुवाद के लिए एक लिखित पाठ की ज़रूरत होती

है। यदि भाषा को पूर्णतः वाच्य मान लिया जाय तो अनुवाद सम्भव ही नहीं। वाचिक के बजाय लिखित भाषा की परिकल्पना अर्थात् शब्दों को उच्चार के बजाय लिखित चिन्ह के रूप में देखने पर ही अनुवाद सम्भव है। वेदों को इसीलिए लम्बे समय तक लिखा नहीं गया क्योंकि वहाँ लिखित के बजाय उच्चरित शब्द की प्रधानता थी। जहाँ अर्थ से ज़्यादा उच्चारण का महत्व होगा, वहाँ अनुवाद नहीं होगा। इसीलिए कहा गया कि जो वेदों को लिखने का प्रयास करेगा, नर्क जायेगा। लिखना शब्द को चिह्न में निःशेष करना है। ऋचाओं और मन्त्रों का अनुवाद इसीलिए असम्भव है क्योंकि वहाँ नाद सौन्दर्य बहुत महत्वपूर्ण है। कविता का अनुवाद नामुमकिन न सही, मुश्किल ज़रूर है। इस बोध ने स्वीकरण की अवधारणा को जन्म दिया। वस्तुतः साहित्य में स्वीकरण की अवधारणा का वही महत्व है जो हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की दुनिया में बढ़त का। राग वही रहता है किन्तु कुछ संगीतज्ञों का मानना है कि उसमें ६०-७० प्रतिशत तक बढ़त की जा सकती है। इसीलिए एक ही राग के गायन में इतना रचनात्मक वैविध्य दिखायी पड़ता है। अलग-अलग गायक उसे अपने ढंग से गाते हैं। यहाँ तक कि एक ही गायक उसी राग को हर बार एक ही ढंग से नहीं गाता। पश्चिमी संगीत में यह छूट नहीं है। वहाँ सिम्फनी के नोट्स लिखे होते हैं, और वह सिम्फ़नी हर बार एक ही तरह से बजायी जाती है। कहने का आशय यह है कि चाहे अनुवाद हो, चाहे संगीत, उन्हें भारतीय परम्परा में जैसी रचनात्मक छूट मिली थी, वैसी रचनात्मक छूट पश्चिमी परम्परा में नहीं थी।

इसलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि पूर्व औपनिवेशिक दौर में अनुवाद का अर्थ कुछ और था- सांस्कृतिक दृष्टि से सार्थक और प्रभावशाली एक नया ग्रन्थ तैयार करना था। कैलवर्त और हेमराज ने लिखा है कि 'दक्षिण एशिया में रूप को संरक्षित करने की जटिलता पर जोर देने के बजाय सन्देश के सम्प्रेशण को प्राथमिकता दी जाती थी (१९८३)। किन्तु औपनिवेशिक दौर में यह प्राथमिकता बदल गयी। अनुवाद के आधुनिक अर्थ का सम्बन्ध औपनिवेशिक शासन की उस प्रवृत्ति से है जहाँ सत्य को किसी एक समान उत्पत्ति से जोड़ दिया जाता है। किन्तु सर्जनात्मक पुनर्रचना की पूर्व औपनिवेशिक परम्परा को अनुवाद की पश्चिमी अवधारणा ने अपदस्थ कर दिया। इसलिए अनुवाद की एक वैकल्पिक सम्भावना पर पुनर्विचार आवश्यक है। अनुवाद का सम्बन्ध सिर्फ़ भाषा से नहीं है। लीडिया लियु के मुताबिक 'एक पराभाषिक व्यवहार के रूप में अनुवाद का मतलब अन्तरभाषिक सन्दर्भ में अर्थ का स्थानान्तरण और रूपान्तरण मात्र नहीं है। अनुवाद से आशय विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में अर्थ का आविष्कार-अर्थ भरने के इतिहास से भी है; और इसे संस्कृति एवं सत्ता से अलग नहीं किया जा सकता (१९९५ : ३२)। किन्तु भाषा की नैमित्तिक भूमिका स्वीकार कर लेने के बाद अनुवाद की भूमिका बदल गयी।

(४)

ए.के. रामानुजन ने अनुवाद की तीन श्रेणियाँ बनायी हैं :

१. आइकॉनिक ट्रान्सलेशन (Iconic Translation)

२. इन्डेक्सिकल ट्रान्सलेशन (Indexical Translation)

३. सिम्बॉलिक ट्रान्सलेशन (Symbolic Translation)

आइकॉनिक अनुवाद तो वह है जहाँ मूल को हूबहू उसी रूप में उतारने की चेष्ठा की जाती है। असल में अनुवाद वही है और पश्चिमी संस्कृति में इसे ही अनुवाद के आदर्श के रूप में पेश किया जाता है।

इन्डेक्सिकल अनुवाद में मूल का अनुकरण करने में कुछ छूट ले ली जाती है। सिम्बॉलिक ट्रान्सलेशन में मूल केवल आधार के रूप में रहता है। मूल की बुनियाद पर गुणात्मक रूप से भिन्न रचना बना ली जाती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अनुवाद की अवधारणा को इतना विस्तृत कर देने पर किसी भी प्रकार का सम्प्रेषण-संवाद अनुवाद के दायरे में आ जाता है। किन्तु इससे भाषिक संवाद-सम्प्रेषण के संस्कृति-सापेक्ष वैशिष्ट्य का बोध नहीं होता। इसलिए यदि अनुवाद शब्द को ट्रान्सलेशन के अर्थ में प्रयोग करना ही हो तो भी अनुवाद को संस्कृति सापेक्ष व्यवहार के रूप में ही देखना चाहिए। इस चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले आइकॉनिक अनुवाद की पूर्व औपनिवेशिक परम्परा विचार कर लेना चाहिए।

उल्लेखनीय है कि जानकोर्ट (२०१५) ने लिखा है कि सत्रहवीं सदी में अनुवाद के साक्ष्य जैन परम्परा में मिलने लगते हैं। उन्होंने बनारसी दास जैन द्वारा किए गये अनुवादों को आइकॉनिक अनुवाद की संज्ञा दी और यह भी बताया है कि आइकॉनिक अनुवाद की यह परम्परा 'बनारसीदास' के बाद भी जारी रही। उल्लेखनीय है कि बौद्ध-जैन परम्पराओं में लेखन और 'ग्रन्थ' की महत्ता हिन्दू परम्परा से अधिक रही है। सम्भवतः इसीलिए सत्रहवीं सदी में आइकॉनिक अनुवाद के साक्ष्य जैन परम्परा में मिल जाते हैं।

जैन परम्परा के अतिरिक्त इस्लामी परम्परा में भी अनुवाद का इतिहास रहा है। 'तर्जुमान' शब्द फ़ारसी में पहले से था। अनुवाद की तरह इसे औपनिवेशिक आविष्कार नहीं कहा जा सकता। उल्लेखनीय है कि आगरे में ही अकबर के शासनकाल में संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद कराया गया था। इन ग्रन्थों में रामायण और महाभारत का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। किन्तु यहाँ हम सिर्फ़ महाभारत के अनुवाद की चर्चा संक्षेप में करेंगे।

महाभारत का 'रज़्मनामा' नाम से फ़ारसी में अनुवाद १५८४ई० में किया गया। सुकथणकर का विश्वास था रज़्मनामा महाभारत का अनुवाद नहीं है। इसमें महाभारत की कथा उन्मुक्त भाव से कह दी गयी है। सुकथणकर के अतिरिक्त अड्लूरी और हिल्टबीटल भी यही मानते थे। किन्तु प्रदीप भट्टाचार्य का कहना है कि रज़्मनामा महाभारत का अनुवाद है, उसका संक्षिप्त रूप नहीं। (२०१८) अकबर ने महाभारत के अनुवाद के लिए विद्वानों का एक बड़ा समूह तैयार किया था। इसमें देवी मिश्र, चतुर्भुज मिश्र, सत्वदन मधुसूदन मिश्र, रुद्रभट्टाचार्य और शेख भावन (दक्षिणी ब्राह्मण जिसने इस्लाम स्वीकार कर लिया था) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये विद्वान उत्तर, दक्षिण और बंगाल से आते थे। अकबर का आदेश था कि मूल का

यथावत् अनुवाद हो और कुछ भी छूटने न पाये। अनुवाद अकबर को सुनाया जाता था और फिर उस पर चर्चा होती थी। मूल और उसके रूपान्तरण को मिलाकर जाँच की जाती थी।

रज़्मनामा के अनुवाद में फ़ारसी विद्वानों की निगरानी फ़ैज़ी और अबुल फ़ज़ल ने की। नेतृत्व नकीब खाँ ने किया। उनके साथ मुल्ला षीरी, सुल्तान थानीसरी और बदायूँनी जैसे फ़ारसी के विद्वान थे। अबुल फ़ज़ल ने कच्चे अनुवाद को काव्यात्मक अनुवाद में रूपान्तरित किया। संस्कृत के विद्वान महाभारत का अर्थ एक साझी भाषा में फ़ारसी के विद्वानों को बताते थे। नकीब खाँ इस साझी भाषा को हिन्दी कहते हैं। फ़ारसी के विद्वान् हिन्दी में सुनकर उसे फ़ारसी में तब्दील करते थे। स्पष्ट है कि यह अनुवाद संस्कृत और फ़ारसी के विद्वानों ने मिलकर किया। इसे संस्कृत से सीधे फ़ारसी में नहीं किया गया। इसलिए इसे आईकॉनिक अनुवाद कहना मुश्किल है क्योंकि जैसे पहले कहा गया, हिन्दी वह भाषा थी जिसमें संस्कृत का अनुवाद सुनकर उसे फ़ारसी में तब्दील किया जाता था।

'रज़्मनामा' में ज़्यादातर अवधारणात्मक संस्कृत के शब्दों को फ़ारसी में यथावत् लिप्यन्तरित कर दिया गया है। कुछ शब्दों को अनूदित भी किया गया है, जैसे ब्रह्मा के लिए खुदाबन्द शब्द का प्रयोग। कुछ प्रसंगों को इस्लामिक एकेश्वरवाद की परम्परा के मेल में लाने के लिए, संक्षिप्त भी किया गया है। जैसे गीता को बहुत संक्षिप्त रूप में ही रखा गया है। किन्तु कृष्ण को पैग़म्बर मुहम्मद, हिन्दू, देवता और कहीं-कहीं इस्लामिक खुदा के रूप में पेश किया गया है। 'नल दमयन्ती' की कथा को स्थानीय रंगत में ढाल दिया गया है।[५]

उल्लेखनीय है कि अठारहवीं सदी के 'महाभारतदर्पण' से पहले सोलहवीं सदी में रज़्मनामा और सत्रहवीं सदी में 'नीलकण्ठ महाभारत' का पाठ तैयार किया जा चुका था। यद्यपि 'रज़्मनामा' और 'नीलकण्ठ महाभारत' के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला कोई तथ्य फ़िलहाल उपलब्ध नहीं है, किन्तु विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर महाभारत का एक पाठ तैयार करने की प्रक्रिया इन दोनों पाठों में दिखायी पड़ती है। 'नीलकण्ठ महाभारत' और 'महाभारतदर्पण' के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में कोई लिखित साक्ष्य भले न मिलता हो किन्तु दोनों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'महाभारतदर्पण' के लिए 'नीलकण्ठ महाभारत' का ही आधार के रूप में प्रयोग किया गया था। परिशिष्ट में 'द्रौपदी-चीरहरण' प्रसंग का प्रयोग महाभारत के विभिन्न पाठों में तुलना करने हेतु किया गया है। इस तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि 'महाभारतदर्पण' तैयार करने हेतु 'नीलकण्ठ महाभारत' का ही आधार-ग्रन्थ के रूप में प्रयोग किया गया था। इसे आइकॉनिक अनुवाद कहना अनुचित नहीं होगा। तुलना करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'महाभारतदर्पण' में संस्कृत महाभारत की भाषा को ही उतारने का प्रयास किया है। उल्लेखनीय है कि कलकत्ता के शास्त्र प्रकाश मुद्रा यन्त्र से प्रकाशित करने के पहले इसे पण्डित लक्ष्मीनारायण से शुद्ध कराया गया। जब इसे नवल किशोर प्रेस ने छापा तो उन्होंने भी रामरतन बाजपेई और प्यारे लाल से इसे दोबारा शुद्ध कराया।

यदि 'महाभारतदर्पण' की पाण्डुलिपि उपलब्ध हो जाती तो पता लग जाता कि शुद्ध करने का नाम पर इसमें कैसे बदलाव किये गये? इसके बावजूद यह प्रश्न तो उठता ही है कि इसे दो बार शुद्ध क्यों कराया गया। प्रिन्ट में लाने से पहले और प्रिंट में आ जाने के बाद दोबारा क्यों शुद्ध कराया गया? लगता है कि आइकॉनिक अनुवाद करने और भाषा के छन्द में ढालने के कारण 'महाभारतदर्पण' की भाषा में जो किंचित अटपटापन रह गया है, उसे शुद्ध करने के नाम पर ठीक किया गया है। यह बात अलग है कि शुद्ध करने के बावजूद अटपटापन कुछ बचा रह गया। अनुवाद की दो पद्धतियाँ बहुत विख्यात हैं।

एक, जहाँ पढ़ते हुए एहसास बचा रहता है कि यह किसी ग्रन्थ का अनुवाद है। मूल की छाप जहाँ पूरी तरह मिटायी नहीं जाती। मूल की स्मृति जहाँ बची रहती है। मूल और अनुवाद का अन्तर बना रहता है तो पाठक का आलोचनात्मक विवेक जाग्रत रहता है और फिर सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अन्तराल का ध्यान रखते हुए मूल और अनुवाद के बीच तुलना की जा सकती है।

दूसरी, जहाँ अनुवाद पढ़ते हुए यह एहसास ही नहीं होता कि अनुवाद पढ़ा जा रहा है। जहाँ अनुवाद अनुवाद लगता ही नहीं। जहाँ मूल और अनुवाद के बीच ऐतिहासिक सांस्कृतिक अन्तराल का बोध नहीं होता जहाँ अनुवाद और मूल का अन्तर मिट जाता है।

कहने की ज़रूरत नहीं कि 'महाभारतदर्पण' के अनुवाद को पहली श्रेणी में रखना होगा। यहाँ यह एहसास बचा रहता है कि आप अनुवाद पढ़ रहे हैं।

बलदेव उपाध्याय ने महाभारतदर्पण की चर्चा के दौरान ज़्यादातर बातें तो रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास से हू-ब-हू उतार दी है। किन्तु ज़्यादा महत्वपूर्ण है 'महाभारतदर्पण' की भाषा के विषय में उनका यह कथन- ''यह अनुवाद भावों की अभिव्यंजना, शब्द-चयन, भाषा, सौष्ठव आदि साहित्यिक दृष्टि से मूल संस्कृत के बहुत ही निकट है।'' (२०१६ : १२०)।

ईसा की दूसरी सहस्राब्दी लोक भाषाओं की सहस्राब्दी मानी जाती है। शेल्डन पोलक ने अपने प्रसिद्ध लेख 'इंडिया इन वर्नाकुलर मिलेनियम' में इस प्रक्रिया का विशद विवेचन किया है। दूसरी सहस्राब्दी में संस्कृत का महत्व घटता है और स्थानीय भाषाओं की भूमिका बढ़ने लगती है। इसी के साथ संस्कृत-ग्रन्थों को देश भाषाओं में लाने की कोशिश भी शुरू हो जाती है। महाभारत दर्पण को लोकभाषीकरण की प्रक्रिया से जोड़कर देखना चाहिए। (पोलक १९९८ : ४१-७६)

उस समय हिन्दी क्षेत्र में ज़्यादातर रचनाएँ ब्रजभाषा में लिखी जाती थी। बनारस की भाषा ब्रजभाषा नहीं थी। लेकिन अठारहवीं सदी के बनारस के सभी रचनाकारों ने लेखन के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग किया था। इसीलिए 'महाभारतदर्पण' की भाषा को भी विद्वानों ने ब्रजभाषा माना। किन्तु मिश्रबंधुओं की ये समझ में आ गया था कि 'महाभारतदर्पण' की भाषा 'शुद्ध' ब्रजभाषा नहीं है। वे लिखते हैं कि 'इन्होंने काव्य-प्रणाली में ब्रजभाषा को प्रधान रखा परन्तु कथावर्णन में इनकी कविता में ब्रजभाषा और तुलसीदास की भाषाओं का

मिश्रण हो गया है। मिश्र बंधुओं के इस कथन से ये बात स्पष्ट हो जाती है कि 'महाभारतदर्पण की भाषा' में भले ही ब्रजभाषा का प्राधान्य हो किन्तु इसमें अवधी की मिलावट भी कुछ कम नहीं है। यही नहीं, सच तो ये हैं कि इसमें खड़ी बोली की झलक भी कहीं-कहीं मिल जाती है। खड़ी बोली ही नहीं, रेख्ते का असर भी दिखाई पड़ जाता है। इसलिए ये कहना अनुचित नहीं होगा कि हिन्दी काव्यभाषा के विकास की दृष्टि से 'महाभारतदर्पण' की भाषा का ज़्यादा गहराई से अध्ययन करने की ज़रूरत है।

जैसा कि पहले कहा गया 'महाभारतदर्पण' की भाषा 'मूल' के निकट है। संस्कृत महाभारत को सामने रखकर रूपान्तरित करने का परिणाम यह हुआ कि 'महाभारतदर्पण' की भाषा कहीं-कहीं तत्सम बहुल हो गयी है। इसे लोक भाषा का संस्कृतिकरण कहा जा सकता है। संस्कृत के छन्द को लोकभाषा के छन्द में उतारना आसान नहीं था। यह भी ध्यातव्य है कि संस्कृत के विपरीत लोकभाषा के ज़्यादातर छन्दों में तुक मिलाना पड़ता है। यह अकारण नहीं कि 'महाभारतदर्पण' के कुछ छन्दों में कई बार सिर्फ़ तुक मिलाने के लिए शब्द लाये गये हैं। आगे बढ़ने से पहले यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि लोकभाषाओं का संस्कृतिकरण भक्ति आन्दोलन के दौरान ही आरम्भ हो गया था। रीतिकाल में यह प्रक्रिया आगे बढ़ी। इसलिए यह मानना उचित नहीं होगा कि हिन्दी का संस्कृतीकरण बीसवीं सदी में ही हुआ। बीसवीं सदी से पहले भी हिन्दी के संस्कृतीकरण की परम्परा मिल जाती है।

हिन्दी क्षेत्र की जनपदीय भाषाओं की पारस्परिक सम्बद्धता पर मैंने अपने लेख 'बहता नीर' में विस्तार से विचार किया था। उस लेख में इस प्रसंग की चर्चा भी की गयी थी कि क्षेत्रीय भाषाओं की अपवर्जी अस्मिताएँ गढ़ने का काम उन्नीसवीं सदी में शुरू हुआ था। बीसवीं सदी में यह प्रक्रिया और भी प्रगाढ़ हुई। हिन्दी जनपद की भाषायें तो इतनी सम्बद्ध थी कि उन्हें कई बार अलगाना मुश्किल हो जाता है। काव्य भाषा के स्तर पर तो इन्हें अलग कर पाना और भी मुश्किल है। मुल्ला दाऊद की भाषा को न तो पूरी तरह अवधी कहा जा सकता है और न ही विष्णुदास के 'पाण्डवचरित' की भाषा को पूर्णतः ब्रजभाषा माना जा सकता है। कुछ विद्वानों का तो यह भी मानना है कि हिन्दी क्षेत्र में कई जनपदीय भाषाओं को मिलाकर एक काव्य भाषा बना लेने का चलन रहा है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद लिखते हैं कि-

'चन्दायन की भाषा हिन्दी के विकास का वह प्रारम्भिक रूप है, जिसमें उसके किसी एक स्थानीय स्वरूप को लेकर और उसमें अन्यान्य कई बोलियों के प्रचलित प्रयोगों का मिश्रण करके उसे अधिक से अधिक व्यापक बनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। भाषा का एक सर्वजन-सुलभ और सुबोध रूप खड़ा करने के लिए इसमें विभिन्न भाषा क्षेत्रों में प्रचलित रूपों के मिश्रण का कुछ ऐसा ही आदर्श अपनाया गया है, जैसा कि कबीर आदि सन्त कवियों की परम्परा में हमें मिलता है, क्योंकि उनका भी उद्देश्य अपने सिद्धान्तों को अधिक से अधिक लोगों को हृदयंगम कराना था'। (१९६२ : १४)

इस सन्दर्भ में परमेश्वरीलाल गुप्त का यह उद्धरण भी दृष्टव्य है।

पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व हमें गुजरात के एक गाँव अपने मित्र के घर जाना पड़ा था, वहाँ उनके वयोवृद्ध पितामह को तुलसीदास के रामचरितमानस का सस्वर पाठ करते सुना। जिज्ञासावश जब हमने उनसे पूछा कि क्या आप रामचरितमानस की भाषा समझ लेते हैं तो उन्होंने बड़े ही सहजभाव से उत्तर दिया था- 'इसमें समझने की क्या बात है, यह तो पुरानी गुजराती है।'

विष्णुदास की भाषा के लिए ग्वालियरी नाम के प्रयोग का उस समय तक कदाचित कुछ औचित्य भी हो सकता था जब तक उस काल की भाषा के स्वरूप की व्यापकता प्रकाश में नहीं आयी थी। मौलाना दाऊद के 'चन्दायन' के प्रकाश में आ जाने के बाद उसका औचित्य समाप्त हो जाता है। देश के दो छोरों पर रहते हुए भी दोनों ही कवि एक ही काल में एक ही तरह की भाषा में रचना कर रहे थे। उनकी भाषा के इस भौगोलिक विस्तार को देखते हुए उसे किसी प्रादेशिक नाम से पुकारना दृष्टिकोण की संकीर्णता मात्र होगी। वस्तुतः न तो मौलाना दाऊद की भाषा को अवधी नाम दिया जा सकता है, और न विष्णुदास की भाषा को ग्वालियरी। उनकी भाषा को यदि किसी नाम से पुकारना ही अभीष्ट हो तो उसे किसी व्यापक नाम से पुकारना भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि से समीचीन होगा (१९९० : ११४-११५)।

भाषाओं की अपवर्जी अस्मितायें गढ़ने के बजाय उन्हें एक भाषायी नैरन्तर्य के रूप में देखने और उनकी पारस्परिक सम्बद्धता रेखांकित करने की प्रवृत्ति कोई नयी नहीं है। प्राचीन काल में वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत और प्राकृत को पूरी तरह एक दूसरे से अलगाकर देखने की प्रवृत्ति पर ज़ोर नहीं दिया जाता था।

आगे महाभारतदर्पण से अवधी खड़ी बोली और संस्कृत प्रधान भाषा प्रयोग के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

महाभारत दर्पण में अवधी के प्रयोग

पूजब गौरीनाथ को, कूजब सीताराम।

सूझब प्रभु मैं जग भलो, बूझब तत्त्व सुनाय।। (दोहा)

पूजब, कूजब, सूझब, बूझब, अवधी की सामान्य भविष्यत क्रियाएँ

सुनो तात सो तत्त्व अनूपा। भरत वंश अति पावन रूपा।।

नृप अजभीढ़ प्रगटभे तामें। ता सुत जह्नुअगण गुण जामें।।

ता सुत सिन्धुदीप भूस्वामी। ता सुत बलाकाश्व जयगामी।।

तासु तनय बल्लभ नयगाभी। कुशिक तासु सुत अनुपम नाभी।।

(भीष्म उबाच, चौपाई, शान्ति पर्व)

टिप्पणी :

अनूपा, रूपा, अवधी की 'आ' कार प्रवृत्ति

प्रगटभे- भे- अवधी की सामान्य भूत क्रिया

तासु- अवधी का सर्वनाम

सो सुनि सत्यवती की माता। कही सुताते बचन बिख्याता।।

कहि सुबचन मुनिकहँ अवराधौ। भोरेहुँ पुत्र होइ सो साधौ।।

सत्यवती निजपति सन भाषी। भो जननी शुभ सुत अभिलाषी।।

तुव प्रसादसुत चाहति साईं। हम हमारि जननी शुभ ठाईं।।

माता, विख्याता, अवधी की 'आ' कार बहुला प्रवृत्ति

कहँ- अवधी के सम्बन्धकारक के लिए परसर्ग

हमारी, मोरे हुँ, मो,- अवधी के सर्वनाम

सन- अवधी का परसर्ग- करण कारक के लिए

महाभारतदर्पण में खड़ी बोली के प्रयोग-

भगिनी सुमन कहाँ ये पाये।

अतिहि सुगन्ध चारू सों छाये।।

अधरम जो हम देखते, लव हिय माहिं सुजान।

करते और बिचार नहिं, देते षाप महान।।

कौन काल में कीजिये, यज्ञ क्रिया अभिराम।

कैसे द्विज को दीजिये, दान कहहु बुधिधाम।।

शयन करेंगे अब हम राजा। चित में आलस भयो दराजा।।
कबहुँ न हमैं जगावे कोऊ। दाबो पद मेरे तुम दोऊ।।

परम दुर्लभ सलिल है, परलोक माही भूप।

ऋषि के जब भूपति पास गये। सहनारि सुढारि सुहर्ष छये।।
तबहि ऋषि अन्तर्द्धान भये। सहनारि सु भूपति सोच रये।।

(शान्ति पर्व : दानधर्मदर्पण)

महाभारतदर्पण में संस्कृत प्रधान भाषा -
उपाख्यान उत्तममहा पावन धन्य यशस्य।
पुण्य पुत्र धनधान्यप्रद मंगल मंजु रहस्य।।

दानधर्म हरिचिंतवन, परउपकार सुकर्म।
ग्राह्मयदा ये भूपमणि, गुणि सुख दायक पर्म।।
(शान्तिपर्व-दानधर्मदर्पण)

तड़ित श्यामघन रूप कमल बान धनुधर विशद।
स्मित मुख शुभद अनूप सीताराम सुस्वामि प्रभु।।
(हरिवंशदर्पण, अध्याय-एक-दक्षोत्पत्तिवर्णन)

उल्लेखनीय है कि 'महाभारतदर्पण' में कई ऐसे अंश हैं जिन्हें संस्कृत में ही रहने दिया गया है। (देखें परिशिष्ट-५)। विचारणीय प्रश्न यह है कि इन अंशों का अनुवाद क्यों नहीं किया गया। वस्तुतः ये वही अंश हैं जिनका सम्बन्ध नामावली, स्तुति, स्वस्तिवाचन, मन्त्रवाचन आदि से है। ये ऐसे अंश हैं जिनका अनुवाद सम्भव नहीं माना गया। भारतीय परम्परा में वाक् की केन्द्रीयता वेदों के समय से रही है। इसीलिए तर्क का आधार यहाँ गणित नहीं, व्याकरण रहा। उल्लेखनीय है कि वेदों की परिकल्पना लिखित ग्रन्थ के रूप में नहीं, वाच्य ग्रन्थ के रूप में की गयी थी। इसीलिए उन्हें श्रुति भी कहा गया। वेदों में शब्दों का महत्व लिखित चिह्न

के रूप में नहीं, वाच्य के रूप में है। इसीलिए उन्हें लम्बे समय तक वाचिक परम्परा में सुरक्षित रखा गया। कहा गया कि यदि कोई उन्हें लिखने की कोशिश करेगा तो वह नरक चला जायेगा। ध्यातव्य है कि संस्कृत में भाषा, वाणी, वद्, वाक् आदि जितने शब्द हैं, उन सभी का अर्थ बोलना है। शब्द की परिकल्पना लिखित के बजाय वाचिक रूप में की गयी। वेदों के अर्थ से ज़्यादा उनका पाठ-नाद महत्त्वपूर्ण हैं। काव्य में भी शब्दों के अर्थ से कम महत्त्वपूर्ण शब्दों का नाद सौन्दर्य नहीं है। शब्द-नाद का महत्व काव्य के अतिरिक्त संगीत में भी दिखायी पड़ता है। इसीलिए भारतीय संगीत गायन-प्रधान है, जहाँ शब्द में व्यंजन से ज़्यादा स्वर महत्वपूर्ण हो जाते हैं। संगीत की तरह मन्त्रों में भी शब्दार्थ का ज़्यादा महत्व नहीं है, उनका एक विशेष पद्धति में पाठ ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। जहाँ लिखित से ज़्यादा वाचिक महत्वपूर्ण हो जाता है, वहाँ अनुवाद सम्भव नहीं होता। स्वर का अनुवाद नहीं हो सकता। इसीलिए जहाँ शब्द-नाद की केन्द्रीयता है, उन्हें अनूदित नहीं किया गया है। उन्हें संस्कृत में ही रहने दिया गया है। वस्तुतः अठारहवीं सदी में यह एहसास बचा हुआ था कि कुछ भाषिक प्रयोगों- जहाँ शब्द और ध्वनि ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होती है- का अनुवाद सम्भव नहीं है। क्योंकि ये अर्थ-प्रधान भाषिक प्रयोग नहीं हैं। जहाँ अर्थ की प्रधानता होगी, वहाँ अनुवाद आसान होगा। किन्तु जहाँ शब्द की प्रधानता होगी, वहाँ अनुवाद नामुमकिन होगा। जहाँ शब्द और अर्थ दोनों महत्त्वपूर्ण होंगे, वहाँ अनुवाद नामुमकिन तो नहीं, मुश्किल होगा। परिशिष्ट-५ में महाभारतदर्पण के उन अंशों की सूची दी गयी है, जिन्हें संस्कृत में ही रहने दिया गया है।

महाभारतदर्पण की लोकप्रियता से प्रभावित होकर कलकत्ते के प्रकाशक ने महाभारत का खड़ी बोली अनुवाद सन् १८७५ में प्रकाशित कर दिया। नवल किशोर प्रेस क्यों पीछे रहता। उसने भी सन् १८८६ में 'महाभारतभाषा' नाम से इसे हिन्दी में प्रकाशित कर दिया। महाभारतभाषा के भी चार संस्करण प्रकाशित हुए। फिर क्या था, उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में हिन्दी महाभारत छापने की बाढ़ सी आ गयी। कहने की ज़रूरत नहीं कि हिन्दी की प्रिंट-संस्कृति के निर्माण में महाभारत के प्रकाशन की सर्वाधिक उल्लेखनीय भूमिका रही है। यही नहीं बीसवीं सदी में 'सांगीत महाभारत' भी खूब छपे और खेले गए। विदित हो कि नौटंकी को पहले संगीत कहा जाता था।

प्रकाशन की दृष्टि से रामायण की तुलना में महाभारत की लोकप्रियता अधिक थी। कालान्तर में 'रामचरितमानस' अवश्य बहुत लोकप्रिय हुआ किन्तु यह बीसवीं सदी की परिघटना है। 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता के पीछे उसकी धार्मिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकृति की महती भूमिका रही है। किन्तु महाभारत को कभी भी धार्मिक ग्रन्थ नहीं माना गया। उल्टे लम्बे समय तक यह माना जाता रहा है कि महाभारत घर में रखने से परिवार में कलह बढ़ जाती है। इसके बावजूद प्रिंट में आने के बाद इसे हाथों-हाथ लिया गया। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों का हिन्दी-प्रकाशन का इतिहास महाभारत के उल्लेख के बिना अधूरा रह जायेगा।

जैसे १९वीं सदी के उत्तरार्ध से २०वीं सदी के प्रारम्भिक दशकों के हिन्दी प्रकाशन का इतिहास महाभारत के उल्लेख के बिना अधूरा है, वैसे ही महाभारत की कोई भी चर्चा दूसरे कलामाध्यमों पर पड़ने वाले महाभारत के प्रभाव के उल्लेख के बिना अधूरी है। विशेष रूप से चित्रकला और मूर्तिकला के क्षेत्र में महाभारत के प्रभाव का। आगे बारहवीं शताब्दी से आरम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी तक की चित्रकला और मूर्तिकला के महाभारत से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण नमूने दिए जा रहे हैं, जिनमें होयसल राजवंश के समय की मूर्तिकलाओं के कुछ चित्र, महाभारत के फ़ारसी रूपान्तरण रज़्मनामा की पाण्डुलिपि से लिए गए कुछ चित्र, अठ्ठारहवीं शताब्दी के महत्वपूर्ण पहाड़ी चित्रकार नयनसुख के कुछ चित्र तथा आरम्भिक १९वीं शताब्दी के चित्र शामिल हैं। इन चित्रों में द्रौपदी चीरहरण प्रसंग के चित्र अधिक उल्लेखनीय हैं। काल परिवर्तन के साथ साहित्य (रज़्मनामा से लेकर महाभारतदर्पण तक), चित्रकला और मूर्तिकला (१२वीं शताब्दी के होयसल राजवंश से लेकर १९वीं शताब्दी तक) में इस प्रसंग का विकास तीन चरणों में देखा जा सकता है। पहले चरण में द्रौपदी के बाल पकड़ कर सभा में लाए जाने और कटु वचन बोले जाने की कथा है। दूसरे चरण में इस कथा में चीरहरण के प्रयास का भी प्रसंग जुड़ जाता है। तीसरे चरण में द्रौपदी के चीरहरण को निष्फल करने के लिए कृष्ण द्वारा चीर बढ़ाने की कथा जुड़ती है। नीलकण्ठ महाभारत और उसका कमोबेश अनुसरण करने वाला ग्रंथ महाभारतदर्पण इसी तीसरे चरण की रचनाएँ हैं। द्रौपदी चीरहरण प्रसंग के इस उदाहरण के माध्यम से यह समझा जा सकता है कि भारतीय परम्परा में एक ही कथा प्रसंग में समय के साथ किस प्रकार हिन्दुस्तानी संगीत की तरह बढ़त पैदा की जाती है।

नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित महाभारतदर्पण में पंक्ति समाप्त होने के बाद यदि जगह बचती थी तो वहीं से दूसरी पंक्ति आरम्भ हो जाती थी। यहाँ एक सीध में एक ही पंक्ति रखी गयी है। दूसरी पंक्ति उसके नीचे आती है।

महाभारतदर्पण में अध्याय का नाम अध्याय की समाप्ति पर दिया गया है। यहाँ अध्याय के आरम्भ में भी अध्याय का नाम दे दिया गया है।

महाभारतदर्पण के प्रारम्भ में सूचीपत्र जोड़ा गया है। इसे हटा दिया गया है। इसके स्थान पर क्रम संख्या, अध्याय का नाम (यदि कोई नाम है तो) और पृष्ठ संख्या दी गयी है।

महाभारतदर्पण के कुछ अध्याय बीच में ग़ायब हैं। पृष्ठ संख्या में तो निरन्तरता है किन्तु अध्याय संख्या में निरन्तरता नहीं है। महाभारतदर्पण के नवलकिशोर प्रेस से तीन संस्करण प्रकाशित हुए। इसके बावजूद इन छूट गये अध्यायों पर किसी का ध्यान नहीं गया। महाभारतदर्पण को जब हिन्दी में 'महाभारतभाषा' नाम से नवल किशोर प्रेस ने प्रकाशित किया, तब भी इन छूट गये पृष्ठों पर किसी का ध्यान नहीं गया। महाभारतदर्पण में अध्यायों का क्रम देखने पर यह पता चल जाता है कि बीच के कुछ अध्याय लुप्त हैं, परन्तु महाभारत भाषा में इस पर क़लई करने के प्रयास में क्रम संख्या इस तरह दुरुस्त कर दी गई है कि पकड़ में ही नहीं आता कि बीच में कुछ अध्याय लुप्त हैं (देखें परिशिष्ट ८)। ज़िक्र आता है कि नवल

किशोर प्रेस ने महाभारत का प्रूफ़ देखने के लिए आठ-आठ विद्वानों की टीम लगा रखी थी। मेरे लिए यह सुखद आश्चर्य से कम नहीं कि मेरे साथ इस काम में लगे युवा अध्येताओं ने इस चूक को पकड़ लिया। यदि महाभारतदर्पण की पाण्डुलिपि मिल जाती तो हम चूक को दुरुस्त भी कर लेते। परिशिष्ट-६ में उन अंशों की सूची दे दी गयी है जो छूट गये हैं।

हमारे यहाँ पाण्डुलिपि में शब्दों को अलग कर नहीं लिखा जाता था। एक पंक्ति खींचकर सभी शब्द मिला दिये जाते थे। प्रिंट में लाने के लिए शब्दों को अलग करना पड़ता है। शब्दों को अलगाने में कई बार चूक हो जाती है। अर्थ और छन्द का ध्यान कर शब्दों को अलगाया जाना चाहिए। ऐसी चूकें प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर थीं। इन्हें यथासम्भव ठीक कर दिया गया है। ऐसे ही कई बार शब्द को पढ़ने में चूक होती है। महाभारतदर्पण में भी ऐसी चूकें थी। उन्हें भी कुछ अंशों में ठीक कर दिया गया है। महाभारतदर्पण में ग़लत छपे शब्दों की सूची परिशिष्ट ७ में दे दी गयी है।

नवलकिशोर प्रेस ने महाभारतदर्पण को चार खण्डों में प्रकाशित किया था। पृष्ठ संख्या को ध्यान में रखते हुए हमने इसे आठ भागों में बाँटा है। शान्ति पर्व बहुत बड़ा था इसलिए इसे दो भागों में बाँट दिया गया है। एक भाग में आपद्धर्म एवं मोक्षधर्म है और दूसरे में दानधर्म। शेष भागों में एक पर्व है। किन्तु भाग ४ में भीष्म और द्रोण पर्व है। भाग ५ और आठ में कई छोटे पर्वों को एक साथ रख दिया गया है।

महाभारतदर्पण के बारे में हिन्दी के विद्वानों ने जो कुछ लिखा है, उसके प्रासंगिक अंश भी परिशिष्ट में दे दिए गये हैं।

महाभारतदर्पण की रचना काशी में हुई थी। यह सुखद संयोग है कि उसके पुनर्प्रकाशन की योजना काशी में ही तैयार हुई। किन्तु यह योजना प्रकाश में न आती यदि उदयन वाजपेयी ने इसे रज़ा फाउण्डेशन से प्रकाशित करने की संस्तुति न की होती। उदयन वाजपेयी की मेरे प्रति ऐसी अहेतुक कृपा रही है कि उसके लिए आभार व्यक्त करना बेइमानी लगता है। श्री अशोक वाजपेयी के अनुग्रह से महाभारतदर्पण प्रकाशित हो रहा है। उनके प्रति सादर नमन। नयी किताब प्रकाशन समूह के स्वामी श्री अतुल महेश्वरी ने इसके प्रकाशन हेतु तत्परता दिखायी और इसे इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित किया। वे बधाई के पात्र हैं। उम्मीद है कि भविष्य में भी उनका इसी प्रकार सहयोग मिलता रहेगा।

टिप्पणियाँ :

१. नीलकण्ठ ने विभिन्न देशों के ग्रन्थों का अध्ययन कर और पुराने गुरुओं की ज्ञान परम्परा का अनुगमन करते हुए महाभारत का एक नया पाठ तैयार किया। इससे यह भी समझ में आता है कि पाठालोचन (Textual Criticism) की एक पूर्व औपनिवेशिक परम्परा मौजूद थी। नीलकण्ठ लिखते हैं :

'बहून समाहृत्य विभिन्नदेश्यान् कोशान विनिश्चित्य च पाठमग्र्यम

प्राचाँ गुरुणामनुसृत्य वाचम् आरभ्यते भारतभावदीप।

क्रिस्टोफर मिंकोव्स्की (Christopher Minkowski) ने नीलकण्ठ महाभारत और भारतभावदीपटीका के बारे में विस्तृत अध्ययन किया है। नीचे उनके और कुछ दूसरे विद्वानों द्वारा लिखे गये लेखों का जिक्र किया जाता है-

I. I will wash out your mouth with my boot.

II. A Guide to Philological Argument in Early Modern Banaras in S. Pollock (Ed.) Epic and Argument in Sanskrit Literary History. Manohar Delhi.

III. Niakantha's Instruments of War, 2004 Modern, VernaculUr, Barbarous Indian Economic and Social History Renie.

IV. Rosalind O Hanlon : 2010 Letter Home : Banaras Pandits and Maratha Regions in Early Modern India. Modern Asian Studies vol. 44, issue - 2, March 2010.

२. पाठालोचन और पाण्डुलिपिशास्त्र के अध्ययन के लिए देखें-

I. Manuscripts and Manuscriptology : Methodology and Sanskrit Researches by Ratna Basu School of Vedic Studies, Ravindra Bharti University, Kolkata, 2012.

II. New Lights on Manuscriptology : A Collection of Articles of Prof. K.V. Sarma, Series III, Sree Sarda Education Society Research Centre, Chennai, 2007.

III. Textual Criticism Indology and in European Philology during the 19th and 20th centuries. http: ËËCrossasian - Journals.ub.Uni- heidetberg. deËindex.php ËegvsËarkebeËnewsË2008.

३. मिशेल लीसा ने लिखा है कि समुदायों और भाषा का जो सम्बन्ध भारत में आज दिखायी पड़ता है, वह औपनिवेशिक दौर की निर्मिति है। उन्नीसवीं सदी से पहले ऐसी स्थिति नहीं थी। भाष और अस्मिता का ऐसा सम्बन्ध पूर्व औपनिवेशिक काल में नहीं दिखता। मिशेल ने तर्क किया है कि उन्नीसवीं सदी से पहले दक्षिण भारतीय बुद्धिजीवी कई भाषाओं के बीच बड़े आराम से संचरण करता था। उसे लगता था कि ये भाषायें परस्पर पूरक हैं, समान्तर नहीं। औपनिवेशिक शासन के दौरान भाषाओं के वजूद को समान्तर और विशिष्ट मानने की प्रवृत्ति आ गयी। देखें:

I. Mitchell Lisa (2005): "Parallel Languages, Parallel Cultures : Langauge a New Foundation for the Reorganization and Practice in Southern India, Indian Economic and Social History Review 42(4): 445-67.

II. ……. 2006 : Making the Local Foreign : Shared Language and History in Southern India "Journal of Linguistic Anthropology, 16(2): 229-48.

III. Language Emotion and Politics in South India : The Making of Mother Tongue. Bloomington : Indiana University Press.

4. Ashok Akliykar (1996) : Sanskrit as Supreme Language in Indology and Status of Sanskrit, hd. By Jane E.M. Houber. The disinelinatian to separate Sanskrit from the Language Principle and, what we would call, Vedic Sanskrit is matehed, at the other end, by the disinclination, on the part of the authors of early Sanskrit Linguistic works, to indicate that when they

discuss what seen to be Prakrit words to us, they have in mind languages related to Sanskrit but different from it. Their assumption appears to be that of linguistic continuam, extending from what we call Sanskrit to what we call Prakrit. No where does one get the sense that they felt any urgency to isolate Sanskrit as a language.' [Page 74-75] Jan E.M. Houben (2012) : Ideology on and Status of Sanskrit, Motilal Banarasidas, Delhi.

5. Audrey Truschke (2017) : Culture of Encounter, Penguin India, New Delhi.

विशेष रूप से देखें- अध्याय : ३ मेनी पर्शियन महाभारताज़ फ़ॉर अकबर

सन्दर्भ

1. A.K. Ramanujan (1991) : Three Hundred Ramayan : Five examples and three thoughts on translation in " Many Ramayan by Poula Richman, Berkeley University Press of California Press.
2. Callewart W and S. Hemraj (1983) : Bhagawad Gitanuwad : A study in Transcultural translation, New Delhi, Biblia Imper.
3. Jhon E Cort (2015) : Making it VernaculUr in Agra : The Practice of Translation by Seventeenth Century Jains in Telling and Text open Book Publisher London.
4. Kumbhghonam Mahabharata - Mahabharata - Southern Recension, Kumbhaghonam Edition.
5. Lisa Mitchell : Making the Local Foreign : Shared Language and History in Southern India, Journal of Linguistics Anthropology, Vol. 16, Issue 2.
6. Liu Lydia (1995) : Translingual Practice, Standford, Calif : Standford University Press.
7. Mahabharatam with the Commentary of Nilkantha : Chitrashala Press, Poona City, 1929.
8. Merril, Christi (2009) : 'After life of Panditry Rethinking Fidelity in sacred in text of with multiple origins' in decentering translation studies in India and beyond, eds. Judy Wakabayashi and Rita Kothari, Philadelphia : Jhon Benjamin Publishing.
9. P.P.S. SASTRI : The Mahabharata (Southern Recension), V. Ramaswami Sastrulu & Sons, 292, Esplande, Madras.
10. Pradip Bhattacharya (2017-18), Revising the Critical Edition of Mahabharata Indologica Taurinesia, 48-44.
11. Romila Thapar (2010) : The Epic of Bharatas, Seminar 608.
12. The Mahabharata of Vyasa (English Prose Translation) Author- K.M. Ganguli] Link- https://archive/org/details/themahabharataof-krishnadwaipayanavyasa/page/n93/mode/2up
13. Unlike Stark (2008) : An empire of Books Permanent Black Ranikhet.
14. Walter Benjamin : Illumination (1986) : Schocken Press, New York.

१. महाभारत (मूल संस्कृत श्लोक और हिन्दी अर्थ सहित) प्रधान सम्पा.- डॉ. पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक- वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट-'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)', पारती (जि. वामसाड)- १९६८, प्रथम आवृत्ति।

२. महाभारतदर्पण- प्रकाशक : मुंशी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १८९१

३. महाभारत - गीता प्रेस, गोरखपुर, सन् २०१५

४. महाभारत - (भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) सम्पादक- सुथणकर, (Sanskrit document.org). जुलाई २३, २०१३

५. मिश्रबंधु-विनोद अथवा हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि-कीर्तन (द्वितीय भाग) : लेखक- गणेश बिहारी मिश्र, माननीय श्यामबिहारी मिश्र, एम.ए.; राय बहादुर शुकदेव बिहारी मिश्र, बी.ए.; प्रकाशक- गंगा पुस्तकमाला, कार्यालय, लखनऊ, संवत् १९८४

६. गुप्त, किशोरीलाल (१९६७) : सरोज सर्वेक्षण, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

७. गुप्त, किशोरीलाल (१९७०) : शिवसिंह सरोज, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद

८. शुक्ल, रामचन्द्र (२०१७) : हिन्दी साहित्य का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

९. मोतीचन्द्र (१९६२): काशी का इतिहास, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर प्रा.लि., बम्बई

१०. उपाध्याय, बलदेव (२०१६) : काशी की पाण्डित्य परम्परा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

११. मुकुन्द लाल सेठ (२०१९) : भावन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

१२. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद (१९६२) : चन्दायन, क.मु. हिन्दी तथा भाषा विज्ञान पीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

१३. परमेश्वरीलाल गुप्त (१९९०) : शोध और समीक्षा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

१४. डॉ. राजकुमार (२०२०) 'हिन्दी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

महाभारत दर्पण और महाभारतभाषा

१. महाभारतभाषा (१८७५) : (सम्पादक) कृष्णचन्द धर्माधिकारी, कलकत्ते से प्रकाशित, प्रकाशक का नाम अनुपलब्ध।

२. महाभारतदर्पण : नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, संस्करण १९७४, १८८३, १८९१.

३. महाभारतभाषा- नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, चार संस्करण : १८८९, १८९५, १८९८, १९२२.

४. सचित्र महाभारत भाषा-टीका (११ खण्ड) : लक्ष्मीदास, प्यारेलाल जैन, लाहौर, १९३४.

५. महाभारत भाषा : गिरधारी लाल थोक पुस्तकालय, खारी बावली देवली।

६. हिन्दी महाभारत (१९३०): सम्पा- चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद, रामनारायण लाल, इलाहाबाद।

७. महाभारतदर्पण (१८२६-२६) : शास्त्र प्रकाश प्रेस, कलकत्ता।

८. सचित्र हिन्दी महाभारत, ले. गणेश : इण्डियन प्रेस, लि., इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष अनुपलब्ध।

९. महाभारत : महावीर प्रसाद मालवीय वैद्य (१९२४) : बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, ज्ञानलोक दारा गंज, प्रयाग।

१०. महाभारत : भगवान दास शास्त्री, प्रकाशक, प्रकाशन वर्ष अनुपलब्ध।

११. सचित्र महाभारत (१९२५) : सन्तराम, लाजपत राय एण्ड सन्स, लाहौर।

१२. अथ महाभारत भाषा (दो खण्ड) (२०२०) : महावीर प्रसाद मिश्र, तेज कुमार सन बुक डिपो, लखनऊ।

१३. महाभारत कथा (१९३९) : निराला (१९६०) : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

१४. संक्षिप्त महाभारत दो भाग (१९१६) : बाम्बे मशीन प्रेस, लाहौर

१५. महाभारत (१९३६) : भूमिका स्वामी विश्वनाथ- बाबू बैजनाथ प्रसाद, राजा दरवाजा, बनारस सिटी।

१६. महाभारत (मूल संस्करण तथा हिन्दी अनुवाद) : गंगा प्रसाद शास्त्री, महाभारत प्रकाशक, माडल, चाँदनी चौक, दिल्ली प्रकाशक वर्ष अनुपलब्ध।

१७. महाभारत : भगवानदास, ज्ञानलोक प्रकाशन, दारागंज, प्रयाग, प्रकाशन वर्ष अनुपलब्ध।

१८. महाभारत कथा पूर्ण सोमसुन्दरम् व्यासरविरन्दु (१९४९) : के चक्रवर्ती रामगोपालाचारी कृत अनुवाद का अनुवाद, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली।

१९. महाभारत सार रचयिता : सूरजमल मोहता (२०१०) : सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली।

२०. महाभारतखण्ड भाषा दो भाग (१८९०) : नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

२१. महाभारत रामदित्तामल (१९१२) : पुस्तकाँ वाला लोहारी दरवाजा, लाहौर।

२२. महाभारत कथा अमृतलाल नागर (१९८८) : राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।

इतालवी में ग़ालिब

स्टीवन ग्रीको

अंग्रेज़ी से अनुवाद : जवाहर गोयल

एक वक़्त ग़ालिब में मेरी गहरी रुचि जागी। इस महान शायर की ग़जलों के अंग्रेज़ी अनुवाद की एक पुस्तक मुझे मिली थी। उनके अभिप्राय पूरी तरह मेरी समझ के परे थे तब भी वे मुझे मोहती थीं। शब्दों के परे कुछ अवश्य था जिसे मैं पकड़ने की कोशिश करता, पर वह खो जाता।

उसके लगभग बीस साल बाद, दिल्ली में इन अनुवादों को पहली बार पढ़ने के अवसर पर मेरा साक्षात्कार ले रहे दूरदर्शन के पत्रकार को जब मैंने यह बात बतायी, तो वे हँस पड़े। अचरज भी किया कि जब समझ ही नहीं आ रहा था तो मैं उन्हें पढ़ता कैसे रहा।

मैंने भी सोचा कि ऐसा कैसे हुआ होगा। तब मेरी उम्र पैंतीस के करीब रही होगी। मुझे अधिकांश यूरोपीय कविता का अनुभव था। पूर्वी यूरोपीय देशों के कवियों में मुझे विशेष रुचि थी। उस समय वहाँ राजनैतिक सांस्कृतिक कारणों से सशक्त अस्तित्ववादी काव्य लिखा जा रहा था।

लेकिन ग़ालिब इन सबसे भिन्न थे। यूरोपीय कविता में मुश्किल से ऐसा कुछ मिलता, जो ग़ालिब के सरोकारों से मेल खाता हो। वे जिस सोच को खड़ा करते, उसे खण्डित भी कर देते। अपने ही शब्दों को शक और बेवफ़ाई के घेरे में गहरे और शिद्दत से खड़ा कर देते, कि यह नकारापन उनकी शायरी का खास वादी स्वर हो गया था।

बेपनाही पर उनकी शायरी को देखिये, जिसमें वे ख़ाक हो जाने तक असलियत तलाशने की बात कहते हैं। इस बिन्दु पर पश्चिमी अनास्थावादी (निहिलिस्ट) 'कुछ नहीं बचता है' कहते। क्योंकि वे आख़िरी में अपनी पहिचान और संस्कृति के नाश होने की बात करते हैं। जबकि प्राचीन यूनानी के लिए मृत्यु सबसे पहले स्मृति के लोप होने के समान होती थी।

ग़ालिब मुस्लिम होते हुए भी उस पारम्परिक भारतीय सोच के क़रीब थे, जिसमें जीवन अनेकों एवं अनन्त जन्म जन्मान्तरों का समन्वय होता है। और जहाँ स्मृति परालौकिक स्तर पर मृत्युहीन रही आती है। जिस बिन्दु पर आकर पश्चिमी अनास्थावादी के लिए 'रास्ते की समाप्ति' होती, वहाँ से ग़ालिब का अनुच्चारित कथन आरम्भ होता है। अनुच्चारित इसलिए नहीं कि वे उसे जानते समझते नहीं थे, बल्कि वे उस बनती-बिगड़ती समझ की लाचारी को शब्दों में कहना ग़ैरज़रूरी समझते।

मैंने सोचा कि ग़ालिब में इतालवी पाठक की रुचि इसलिए भी होगी, क्योंकि वे अपनी लाचारी को पूर्णतः समर्पित थे। ये पाठक किसी भी पश्चिमी कवि के घोर एकाकीपन से अधिक विषाद ग़ालिब में पाते।

क्योंकि जीवन में कुछ भी समाप्त नहीं होता। बॉदलेयर और ग़ालिब के बीच अनेक समानताओं के बावजूद ये भेद साफ़ नज़र आते हैं।

ग़ालिब के बारे में ये कुछ बातें थीं जिन पर मुझे काम करना था, न केवल अपनी पसन्द को समझने, बल्कि उन्हें इतालवी पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए। तब मेरे सामने यह स्पष्ट था कि मुझे ऐसी ग़ज़ल चुनना होगा जैसे 'रहिए अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो। हमसुख़न कोई न हो औ' हम जुबाँ कोई न हो....

पर मैं यहाँ तक पहुँचा कैसे?

उर्दू में ग़ालिब का पहला शेर मैंने मणि कौल की बहन से सन् २००२ में सुना था 'आह को चाहिए एक उम्र असर होने तक। कौन जीता है तेरे जुल्फ के सर होने तक...' अपनी पीढ़ी के लोगों की तरह, उनके पिता ग़ालिब की शायरी के शौकीन थे। बच्चों में यह रुचि उनसे ही आयी।

जब ग़ालिब को इतालवी भाषा में अनुवाद करने की बात मैंने मणि कौल से कही तो उन्होंने सुझाया कि मैं कवि, चिन्तक और बुद्धिजीवी अशोक वाजपेयी से सम्पर्क करूँ। क्योंकि वाजपेयी ने बरसों ग़ालिब का अध्ययन किया था। मैंने वाजपेयी में ऐसा कल्पनाशील और विद्वान व्यक्ति पाया जो शोध करते हुए अपने विषय को रसहीन कर देने वाला विशेषज्ञ नहीं था।

उसी दौरान मैं एक जापानी विद्वान के साथ मिलकर हैयन वाका का इतालवी और अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहा था। सन् २००४ में टोक्यो जाकर मैंने उस काम को आगे बढ़ाया। आरम्भ में उन्होंने मुझे टेंग शैली में लू सिह से अवगत कराया। यह छन्दों में बंधा ऐसा काव्य रूप था जो संस्कृत, पश्चिमी एशिया और यूरोपीय काव्य के निकट था। उसके कुछ समय बाद उन्होंने जापानी वाका पद्धति का वर्णन आरम्भ किया। यह अनुस्वार-मय ऐसी लचीली चीज़ थी जिसमें न्यूनतम रूप के अलावा सब कुछ त्याज्य था।

यहाँ एक बात कहना चाहूँगा कि- ग़ालिब हों या शास्त्रीय जापानी काव्य- दोनों ही के अनुवादों को करते समय मेरे साथी मूल भाषा को जानने वाले थे, जिनकी मदद से मायनों और सुझावों को मैं इतालवी में अनूदित कर सका। ऐसी पद्धति एंग्लो-सेक्शन परम्परा में प्रचलित रही है। क्योंकि ऐसी अपेक्षा नहीं की जाती है कि एक ही व्यक्ति शोध भी करे और कवि कर्म भी करे। दोनों में सहयोग अपेक्षित है। ऐसा नहीं कि मैं मूल भाषा में कविता समझता नहीं, पर यह अधूरा ज्ञान है। इसीलिए मैं अपना ध्यान इतालवी पक्ष पर केन्द्रित रखता हूँ।

जापानी साथी ने मुझे वाका के विशेष और अनूठे आशयों से अवगत कराया जो कि उनमें प्रवेश करके ही सम्भव थे। वाका का यह अनूठापन इसलिए भी था क्योंकि इनके संयोजन भूदृश्यों और अन्य स्थानों के बारे में जताते थे, ऐसे गठन को 'उत्माकूरा' या कविता का आरम्भ बिन्दु कहा जाता है। इसमें प्रवेश करने के बाद ही आप समझते हैं कि आप कहाँ हैं और कवि ने किस अनूठेपन से इसे रचा है। इससे

आप भूदृश्यों में कवि के आशयों को और मिज़ाज को बेहतर जान पाते हैं। एक अच्छे वाका में मूल मानवीय संवेदनाओं जैसे प्रेम, चाहत, हताशा या आध्यात्मिक सन्तुष्टि आदि का बोधगम्य काव्य मिलता है।

टोक्यो के अनुभवों ने मुझे कविता को गहराई से विश्लेषित करने और समझने की सीख दी। गम्भीरता से अनुवाद करने की शुरुआत भी यहीं से हुई। अपने साथी से मूल पर चर्चा करने के बाद मैं उन्हें इतालवी और अंग्रेज़ी में काव्य रूप देने में लग जाता। उन पर सैकड़ों घण्टे अकेले काम करते हुए ऐसा लगा कि प्रत्येक कविता पर मन स्थिर कर, धैर्य और सावधानी से कवि की उस मूल प्रेरणा तक पहुँचना अनिवार्य है, जो बाद में विचारों को शब्द रूप देने लगती है। अनुवादक के लिए ऐसा कर पाना सम्भव है, भले ही उससे चूक हो जाए या वह ऐसा न कर पाए। इसमें ध्यान की एकाग्रता का होनी ही चाहिए।

टोक्यो में मैं अपने पर ही निर्भर था। मुझे किसी ने कभी नहीं बताया कि यह कैसे किया जाए। बाद में मैं यह समझ सका कि मेरे गुरु वेदप्रकाश ने मुझमें यह सीख स्वयं दे दी थी। आप गुरु के प्रति कभी पूरी तरह उपकृत नहीं हो सकते। क्योंकि यह हमारी समझ की सीमा के बाहर है।

ग़ालिब पर लौटते हुए यह कहना ज़रूरी है कि उर्दू ग़ज़ल और जापानी वाका के बीच कुछ ख़ास समानताएँ हैं। इसकी वजह इन दोनों काव्य धाराओं में निहित गति के बोध का होना है। हम उन तमाम प्रभावशाली तरीक़ों का ज़िक्र कर सकते हैं जैसे प्रतीक, अधकहा कथन या उच्चारने का संक्षिप्तीकरण आदि जो महत्वपूर्ण हैं किन्तु अन्ततः शब्द उन आशयों को ढोते हैं जो पूरा काम करते हैं। ग़ज़ल और वाका दोनों में ही इस इहलौकिक गति के होने की समानताएँ हैं।

की नो सूरायूकी, दसवीं शती के जापानी कवि :

देखा नहीं कोई, ऐसा लगा,

शिखर मैं पार करता गया :

नीचे जल में छाया थी मेरी

सन् २००५ में जापान में दो माह काम करने के बाद मैं अशोक जी के साथ काम करने के लिए तैयार था। उनके साथ भी उसी तरह काम कर सका जैसा टोक्यो के विद्वान के साथ कर रहा था। अशोक जी शेर को मूल भाषा में पढ़ते और कठिन शब्दों को समझाते जाते, जिससे मैं मूल के मर्म तक पहुँच सकूँ। फिर वे शेर को अंग्रेज़ी में मेरे सामने ही अनूदित कर देते, इससे मुझे उसका एक कच्चा ख़ाका मिल जाता। फिर हम मूल की हर नज़रिये से चर्चा करते। अक्सर एक-एक शेर पर चर्चा में पूरी सुबह गुज़र जाती।

जब हम दोनों को लगता कि शेर अपने धरातल से ऊपर हवा में ऐसा उठ आया है कि अब न तो उर्दू का रहा, न ही अभी इतालवी का हो सका है, तब कविता की चिड़िया मेरी गिरफ़्त में आ जाती। और मैं कमोबेश साथ ही उसको इतालवी में पूरी तरह कर पाता।

जापानी अनुवाद से अलग, ग़ालिब का अनुवाद करते हुए मैं बाद में शायरी को देवनागरी में स्वयं पढ़ता, अशोक जी के बताए से तुलना करता, अन्य अनुवादों से भी जाँच करता और ज़रूरी लगा तो बदलाव करता (कहीं दुविधा आती तो अशोक जी की बात ही अन्तिम होती) केवल तभी मेरा काम पूरा होता।

बाद में अनुवाद पूरा होने और इसके सार्वजनिक पाठ के बाद इटली के दो विद्वानों डेनियेला ब्रेडी और जियान्रोबर्तो स्कार्सिया ने मेरे प्रयासों की सराहना की। एक अन्य प्रोफ़ेसर जो उर्दू से परिचित थे, उन्होंने भिन्न बात कही कि उर्दू भाषा इतालवी भाषा से बहुत अलग है क्योंकि दोनों में गहरी सांस्कृतिक दूरियाँ हैं। इसलिए मूल का स्वाद इतालवी में देना असम्भव है। मुझे आश्चर्य और शक भी हुआ कि वे ऐसी बात क्यों कह रहे हैं, क्योंकि वास्तव में तो इन दोनों साहित्यिक भाषाओं में जितना प्रतीत होता है, उससे अधिक समानताएँ हैं।

मध्यकालीन यूरोपीय काव्य, विशेषतः सिसली, तुष्कन और प्रादेशिक कविता का विकास उस दौर में हुआ जब ईरान पश्चिमी एशिया की सबसे विकसित सभ्यता के रूप में उभर चुका था। अपने विकास के आरम्भिक दौर में एवं प्राचीन यूनान और रोम के खण्डित होने के बाद और सांस्कृतिक विकास क्रम टूटने के बाद, पश्चिम पर ईरान का असर ही रहा। मध्यकालीन यूरोपीय काव्य में निश्चित ही ईरानी संस्कृति और उसके रहस्यवादी काव्य का असर मिलता है। गुलाब, बगीचा, हूर, प्रेमिका आदि सब पश्चिमी काव्य के भी परिभाषिक प्रतीक बन चुके थे। ईरान ने इन्हें अपनी पम्पराओं से भावभूमि, ऊष्मा, सूक्ष्मता और विविधता के रंग दिये। विद्वान ऐसा मानते हैं कि दांते अली-घिरी जो एक महानतम यूरोपीय कवि थे, के काव्य में ऐसे महत्वपूर्ण प्रभाव मिलते हैं।

इसी दौरान ईरानी काव्य परम्पराओं का भारत की ज़मीन पर भी रोपण हुआ, जिसके फलस्वरूप उर्दू ग़ज़ल का जन्म हुआ। पाँच सौ साल बाद इसकी ही आख़िरी विरासत की कड़ी में ग़ालिब उभरकर आये। इसके बावजूद ईरानी परम्पराएँ इस तथ्य को झुठलाती हैं कि ग़ालिब को भारतीय सोच और वेदान्त ने बहुत समृद्ध किया था। इस तरह ग़ालिब के माध्यम से इटली के पाठक को न केवल परिष्कृत उर्दू ग़ज़ल मिली, बल्कि उसमें निहित गहन भारतीय सोच का उपहार भी मिला।

आज ग़ालिब की पहिचान अत्यन्त आधुनिक और कई नयी धाराएँ रचने वाले शायर की है जो परम्पराओं का लिहाज करते थे, पर उसकी जकड़न से छुटकारा भी चाहते रहे, इतना कि वे भंग न हों।

उर्दू और इतालवी भाषा के बीच वास्तविक समानताओं को जाँचने के लिए इनके विन्यास, व्याकरण और इनकी मानसिकता को परखना होगा। पहले तो व्यक्तिवाचक सर्वनाम 'उसका-उसकी' को देखें, इनके स्थान पर इतालवी में 'सुओ-सुआ' होता है। जो अंग्रेज़ी के 'हिज-हर' से भिन्न है। इतालवी में भी वस्तु का लिंग वस्तु के आधार पर तय किया जाता है, इस आधार पर नहीं कि वह किसकी है। यह भाषा को बारीकी

से या उसके विरोधाभासों को दर्शाने में सहायक होता है, विशेषकर उन भाषाओं के बानिस्बत जिनमें ये भेद नहीं है।

भाषागत इन बातों ने मेरी मदद की। दोनों भाषाएँ सैकड़ों वर्षों के व्यवहार में आकर कोमल हुईं हैं। अतः काव्य अभिव्यक्ति के लिए एकदम उपयुक्त हैं। दोनों के वाक्य विन्यास में लचीलापन है। सबसे खास बात है ईरानी विरासत से इन दोनों भाषा को मिला अवदान।

एक अच्छी बात ये है कि उत्तरी यूरोपीय देशों की तुलना में इटली के भीतर नस्लवादी और सांस्कृतिक पूर्वग्रह अपेक्षातः अत्यन्त नगण्य रहे हैं। इसका असर भाषा के तानों-बानों पर पड़ता ही है। वे शब्द जिन्हें विदेशी (एक्जोटिक) कहा जाता है, ऊपरी तौर पर ऐसा कहना सामान्य लगता है पर दरअस्ल सामान्य होता नहीं। इसका एक अच्छा उदाहरण एडवर्ड सईद ने दिखाया है, 'ओरिएंटल' शब्द में, जिसके उपयोग में निहित आशय में एशिया के धर्म और संस्कृति सम्बन्धी असंख्य पूर्वगह और दोष मिलते हैं।

इतालवी भाषा में ऐसी समस्याएँ न्यूनतम हैं क्योंकि अट्ठारवीं और उन्नीसवीं शती में इटली ने अन्य देशों पर औपनिवेशिक शासन नहीं किया। उस समय यह चरम पर था जब पश्चिमी देश दूसरों पर अपनी प्रभुता प्रमाणित करने में लगे हुए थे। दाँते की भाषा, इस तरह अद्‌भुत रूप में शुद्ध है। इसी कारण ग़ालिब को इतालवी में अनुवाद करते समय मुझे वैसी कठिन समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ा।

आखिरी में अपने इतालवी पाठकों को यह भी मैं बताना चाहता था कि अपनी सारी दुरूह बातों के बावजूद ग़ालिब पहले और आज तक, सड़क के आम आदमी तक बहुत प्रचलित रहे आये हैं। वे न केवल पाठकों में बहुत पसन्दीदा रहे, बल्कि बेगम अख़्तर और गुलाम अली सरीखे गायकों द्वारा गाये जाते रहे हैं :

...दैर नहीं हरम नहीं दर नहीं आस्ताँ नहीं

बैठे हैं रहगुज़र पे हम, ग़ैर हमें उठाए क्यों...

मैंने अपने अनुवाद सबसे पहले सन् २००६ में दिल्ली में इटली के दूतावास में पढ़े थे। अशोक वाजपेयी वहाँ मौजूद थे और उन्होंने मूल भाषा में ग़ज़लें पढ़ी थीं। बाद में मेरे ये अनुवाद इटली की साहित्यिक पत्रिका 'प्रागीन' में छपे।

इसके बाद इनके दो पाठ रोम में आयोजित किये जा चुके हैं, जिसमें से एक वहाँ के भारतीय दूतावास के तत्वाधान में सम्पन्न हुआ। हाल में मैं ग़ालिब की ग़ज़लों के संकलन की एक पतली सी पुस्तक के प्रकाशन की तैयारी कर रहा हूँ।

धान के खेत में बैंगन तलाश करने वाले लोग

(पश्चिमी ज्ञान मीमांसा और मीरां)

माधव हाड़ा

> 'दरअसल इस अन्धविश्वास का परित्याग कर दिया जाना चाहिए कि सभी देशों के इतिहास को एक समान होना चाहिए। रॉथ्सचाइल्ड की जीवनी को पढ़कर अपनी धारणाओं को दृढ़ बनाने वाला व्यक्ति जब ईसा मसीह के जीवन के बारे में पढ़ता हुआ अपनी ख़ाता-बहियों और कार्यालय की डायरियों को तलाश करें और अगर वे उसे न मिलें, तो हो सकता है कि वह ईसा मसीह के बारे में बड़ी ख़राब धारणा बना ले और कहेः 'एक ऐसा व्यक्ति जिसकी औक़ात दो कौड़ी की भी नहीं है, भला उसकी जीवनी कैसे हो सकती है?' इसी तरह वे लोग जिन्हें 'भारतीय आधिकारिक अभिलेखागार' में शाही परिवारों की वंशावली और उनकी जय-पराजय के वृत्तान्त न मिलें, वे भारतीय इतिहास के बारे में पूरी तरह निराश होकर कह सकते हैं कि 'जहाँ कोई राजनीति ही नहीं है, वहाँ भला इतिहास कैसे हो सकता है?' लेकिन ये धान के खेतों में बैंगन तलाश करने वाले लोग हैं। और जब उन्हें वहाँ बैंगन नहीं मिलते हैं, तो फिर कुण्ठित होकर वे धान को अन्न की एक प्रजाति मानने से ही इन्कार कर देते हैं। सभी खेतों में एक-सी फ़सलें नहीं होती हैं। इसलिए जो इस बात को जानता है और किसी खेत विशेष में उसी फ़सल की तलाश करता है, वही वास्तव में बुद्धिमान होता है।' - रवीन्द्रनाथ ठाकुर[1]

ये पंक्तियाँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने भारतवर्षेर इतिहास में गत सदी के आरम्भ में लिखीं। वे इतिहास की पश्चिमी अवधारणा से आधुनिक होने की हड़बड़ी और जल्दबाज़ी के दौर में भी सर्वथा अप्रभावित थे। पश्चिम में वहाँ की सांस्कृतिक ज़रूरतों के तहत अठारहवीं सदी में 'इतिहास' की एक अवधारणा का विकास हुआ, जो दूसरे समाजों को समझने-जानने के लिए सर्वथा अनुपयोगी और अप्रासंगिक थी। भारतीय परम्परा और विरासत को इस इस धारणा के मानकों के आधार पर समझने-परखने का मतलब था, ग़लत निष्कर्षों पर पहुँचना। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार 'धान के खेत में बैंगन तलाशने और नहीं मिलने पर धान को अन्न की प्रजाति मानने से इन्कार करने' जैसा है। इतिहासकार फ्रांसिस टैफ्टने भी मीरां के जीवन और कविता को समझने के लिए इतिहास के पश्चिमी मानकों का इस्तेमाल किया और जब ये इतिहास के पश्चिमी मानकों पर खरे नहीं उतरे, तो उन्होंने मीरां के जीवन और कविता से सम्बन्धित अधिकांश स्रोत-सामग्री को कुछ हद तक संदिग्ध घोषित कर दिया। उन्होंने २००२ में एक शोध पत्र 'दि इल्युजिव हिस्टोरिकल मीरां-ए नोट' लिखा[2], जिसकी पर्याप्त चर्चा हुई। सबसे पहले हम फ्रांसिस टैफ़्ट की स्थापनाओं पर विचार कर लेते हैं। उन्होंने अपने शोध लेख में राजस्थान के आरम्भिक आधुनिक इतिहासकारों- श्यामलदास, मुंशी देवीप्रसाद, ठाकुर चतुरसिंह और गौरीशंकर ओझा की मीरां के जीवन और कविता सम्बन्धी धारणाओं पर उनके द्वारा उपयोग में ली गई तीन तरह की स्रोत सामगी (१) राजपूत

वंशावलियाँ, (२) चारण-भाटों की धारणाएँ और (३) राजस्थान की भक्ति सम्बन्धी परम्पराओं के आधार पर विचार किया। अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचीं कि- (१) १९वीं सदी के अन्तिम दो दशकों में 'यूरोपीय शैली' में इतिहास लिखने वाले (मुंशी देवीप्रसाद, श्यामदास, गौरीशंकर ओझा और ठाकुर चतुरसिंह) के काम से मीरा के जीवन की एक बुनियादी रूपरेखा बन जाती है, (२) इस बुनियादी रूपरेखा में बाद में कई चीज़ें जोड़ दी गईं, जो 'इतिहास' की श्रेणी में नहीं आतीं, (३) कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जिनमें और अनुसंधान करने से मीरां की अधिक स्पष्ट ऐतिहासिक पहचान उभर सकती है और (४) मीरां का ऐतिहासिक और सन्त रूप, दोनों एक दूसरे से बहुत अलग हैं और दूसरा सन्त रूप बाद में गढ़ा गया है। विडम्बना यह है कि फ्रांसिस टैफ़्ट मीरां को 'ऐतिहासिक' भी मानती है और इस सम्बन्ध में उपलब्ध साक्ष्यों को 'आधुनिक इतिहास सम्मत दृष्टि' से अपर्याप्त भी ठहराती है। वे उन विद्वानों को जो मीरां की ऐतिहासिकता को लेकर आश्वस्त नहीं है, कुछ हद तक ग़लत मानती हैं।[३] आरम्भ में मीरां की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कुछ हद आश्वस्त भी लगनेवाली टैफ़्ट शोधपत्र के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते मीरां से सम्बन्धित अधिकांश उपलब्ध साक्ष्यों को सन्देहास्पद ठहरा देती हैं। उनके शोध लेख के अन्तिम निष्कर्ष इस प्रकार हैं-

'पहला, बावजूद अनेक अनिश्चितताओं के, आरम्भिक इतिहासकारों (तालिका-१) के काम से मीराबाई के जीवन की एक प्राथमिक रूपरेखा उभर जाती है। तथापि, विशेष रूप से मुंशी देवीप्रसाद के काम में स्पष्टतः ऐसी परम्पराएँ और व्याख्याएँ सम्मिलित हैं, जिनकी पुष्टि वर्तमान ऐतिहासिक ज्ञान से नहीं की जा सकती है।

दूसरा, निश्चय ही यह मुमकिन है कि हम कुछ ऐतिहासिक उलझनों को सुलझा सकें; ख़ासतौर पर हम श्यामल दास के स्रोतों के बारे में और अधिक जान सकते हैं। तथापि, एक ऐतिहासिक अर्थ में जो हम पहले से जानते हैं उस जानकारी में और महत्वपूर्ण वृद्धि करने के बारे में निहित महत्वपूर्ण अवरोधों के बारे में हमें यथार्थपरक होना चाहिए। ऐतिहासिक उद्देश्यों से भक्ति और राजस्थान की परम्पराएँ बहुत हद तक अविश्वसनीय हैं और यह चाहे जितना आकर्षक हो, हमें मीरा की पदावली के बारे में भी सावधान रहना होगा, जो हमें अपेक्षाकृत हालिया रूपों में ही प्राप्त हुई है। इसलिए अन्त में जहाँ रूपरेखा तो लगभग स्पष्ट ही है, इसके बावजूद काफ़ी कुछ ऐसा है जो अस्पष्ट रह जाता है। ऐतिहासिक मीराबाई के बारे में हम जितना जानते हैं या जितना जानने की सम्भावना करते हैं और स्वयं मीराबाई के विवरण जिनमें हालाँकि अन्य एजेण्डाओं पर आधारित ऐतिहासिक सामग्री भी सम्मिलित है, इन दोनों के बीच का भेद बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इन दोनों का पार्थक्य ऐतिहासिक परियोजना के लिए आवश्यक है।'[४]

ख़ास बात यह है टैफ़्ट ने मीरां की ऐतिहासिकता पर विचार एक यूरोपीयन 'इतिहासकार' (हिस्टोरियन) की तरह किया। उनकी दुविधा यह है वे मीरां के ऐतिहासिक अस्तित्व को पूरी तरह नकारती भी नहीं हैं, लेकिन उनके 'आधुनिक' इतिहासकार के संस्कार और प्रशिक्षण उनको मीरां के सम्बन्ध में

उपलब्ध स्रोत सामग्री को ऐतिहासिक मानने से रोक देते हैं। उनकी मुश्किल यह है कि वे यूरोपीय इतिहास की तय की गई सीमाओं को लाँघने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्होंने जो लिखा उसकी मंशा कमोबेश यही है। उन्होंने साफ़ लिखा कि 'गत दशकों में मीरां पर जिन विद्वानों ने लिखा, उनमें से लगभग सभी धर्म या साहित्य या लोक सहित्य के विशेषज्ञ थे। मुझे यह स्वीकार करने की अनुमति दें कि मेरी अपनी रुचि राजस्थान के इतिहास में है- मैं ऐतिहासिक मीरां और उसके दूसरी तरफ़ विकसित पारम्परिक असंख्य और/या लोकप्रिय मीरांओं में अन्तर करने आग्रह करती हूँ। मैं सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में वास्तव में जीवन व्यतीत करनेवाली स्त्री से सम्बन्धित आधारभूत स्रोतों और दूसरी उपलब्ध सामग्री के मूल्यांकन पर ज़ोर देती हूँ।'[५] इस तरह वे आधुनिक और उससे भी अधिक एक 'पश्चिमी ईसाई इतिहासकार' की तरह विचार करते हुए मीरां की कविता और जीवन से सम्बन्धी उन सभी उपलब्ध स्रोतों को कुछ हद तक संदिग्ध ठहरा देती हैं, जो पारम्परिक इतिहास, धर्माख्यान और लोक स्मृति में मौजूद हैं। उन्होंने ज़ोर देकर कहा है कि मीरां के जीवन और कविता के सम्बन्ध में मुंशी देवीप्रसाद (आधुनिक इतिहासकार) के काम में ऐसी 'परम्पराएँ और व्याख्याएँ सम्मिलित हैं, जिनकी पुष्टि वर्तमान ऐतिहासिक ज्ञान से नहीं की जा सकती है' और भक्ति और राजस्थान की मीरां सम्बन्धी परम्पराएँ 'बहुत हद तक अविश्वसनीय हैं।' मीरां की प्रचलित और उपलब्ध कविता की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी वे आश्वस्त नहीं हैं और इस सम्बन्ध में 'सावधान रहने' का आग्रह करती हैं। वे लिखती हैं कि 'अनिवार्य रूप से, उनके भजनों के बोली, प्रस्तुति और शायद वैचारिक कारणों से कई रूप उभरे।'[६] इस तमाम कवायद का रोचक पक्ष यह है कि वे स्वयं यह मानती हैं कि 'सोलहवीं सदी के पूर्वार्ध में मीरां नाम की स्त्री ने जीवन व्यतीत किया'[७], लेकिन वे इस सम्बन्ध में उपलब्ध स्रोतों की 'ऐतिहासिकता' के सम्बन्ध में आश्वस्त ही नहीं हैं।

मीरां के जीवन और कविता को इस तरह इतिहास के पश्चिमी मानकों से समझना-परखना ग़लत है। पश्चिमी इतिहासकारों को अपने ग्रीक और रोमन पूर्वजों की स्मृति के रख-रखाव की पद्धति और ढंग पर बहुत गर्व है। मार्क ब्लाख़ ने तो लिखा है कि 'औरों से भिन्न हमारी सभ्यता अपनी स्मृतियों के प्रति बेहद सतर्क रही है। हर चीज़ ने उसका झुकाव इसी दिशा में कियाः ईसाई और शास्त्रीय विरासत दोनों ने। हमारे शुरुआती उस्ताद, ग्रीक-रोमन लोग, इतिहास लिखने वाले लोग थे।'[८] मार्क ब्लाख़ ने आगे और साफ़ करके लिखा कि 'ईसाइयत तो इतिहासकारों का धर्म है।'[९] विडम्बना यह है कि इतिहास की यही ईसाई पद्धति अब सार्वभौमिक आदर्श और मानक बन गई है। अपने साम्राज्य के अधीन होने कारण विश्व के कई देश-समाजों का आरम्भिक इतिहास पश्चिमी इतिहासकारों ने इसी पद्धति के आधार पर लिखा। विडम्बना यह है कि आरम्भिक अधिकांश उत्साही 'आधुनिक' भारतीय विद्वान् भी यही आदर्श और मानक लेकर अपनी विरासत की पहचान और पड़ताल करने निकल पड़े और इस आधार पर पश्चिमी विद्वानों की तरह उन्होंने भी अपने पूर्वजों के स्मृति के रख-रखाव के ढंग को 'अपरिष्कृत' मान लिया।[१०]

सभी देश-समाजों का इतिहास एक जैसा हो, यह आग्रह सिरे से ही ग़लत है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपने भारतवर्षेर इतिहास में गत सदी आरम्भ में ही सचेत कर दिया था कि 'दरअसल इस अन्धविश्वास का परित्याग कर दिया जाना चाहिए कि सभी देशों के इतिहास को एक समान होना चाहिए।'[११] स्मृति के रख-रखाव का हर समाज का अपना ढंग है। इसे कुछ लोग पुनरुत्थानवाद कहेंगे, लेकिन यह सही है कि बहुत प्राचीनकाल से ही अपनी ख़ास सामाजिक-सांस्कृतिक ज़रूरत के तहत बनी-बढ़ी स्मृति के संरक्षण की हमारी अपनी परम्परा भी है। चक्रीय कालबोध और सनातनता की चेतना से इसका विकास अलग और ख़ास ढंग से हुआ, लेकिन इसमें देशकाल के सन्दर्भ भी निरन्तर और सघन है और इसकी परम्परा में इसके पर्याप्त साक्ष्य भी हैं। यह परम्परा भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक ज़रूरतों के अनुसार बनी, इसलिए इतिहास की पश्चिमी ग्रीक-रोमन ईसाई परम्परा से बहुत अलग है। इसमें इतिहास के ईसाई आदर्श और मानक-युक्तियुक्तता, कार्यकारण सम्बन्ध, तथ्य पर निर्भरता, प्रत्यक्ष अनुभव आदि उस तरह से नहीं हैं, जिस तरह से सार्वभौमिक और कथित 'आधुनिक' इतिहास में होते हैं। इस परम्परा में एक तो स्मृति के दस्तावेज़ी ठहराव के बजाय उसको निरन्तर और जीवन्त रखने का आग्रह है, दूसरे, इसमें अतीत के यथार्थ का अमूर्तन इस तरह है कि यह वर्तमान में प्रासंगिक और उपयोगी बना रहे। मीरां के जीवन और कविता को भी इतिहास की पश्चिमी ज्ञान मीमांसा से अलग करके ही अच्छी तरह समझा जा सकता है। उसके जागतिक स्त्री मनुष्य की यात्रा के मोड़-पड़ावों की पहचान के लिए ज़रूरी है कि उन पारम्परिक देशज इतिहास रूपों, धार्मिक आख्यानों और जनश्रुतियों को सहानुभूतिपूर्वक पढ़ा-समझा जाए, जिनकी पश्चिमी विद्वानों ने सजग अनदेखी की है। ख़ासतौर पर इस काम में उन जनश्रुतियों को भी निगाह में लिया जाना चाहिए, जो हमारे समाज के सांस्कृतिक व्यवहार और भाषा का बहुत ज़रूरी हिस्सा हैं। यहाँ इन सभी को ध्यान में रखकर मीरां के जीवन की रूपरेखा और उसकी कविता के उपलब्ध पाठों की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। यहाँ इस काम में इतिहास के आधुनिक मानकों का ध्यान रखा गया है, लेकिन यहाँ पारम्परिक इतिहास रूपों और लोकस्मृति को अनैतिहासिक मानने की कोई यूरोपीय या औपनिवेशिक अन्तर्बाधा नहीं है।

१.

मीरां के जन्म, विवाह और निधन आदि के सम्बन्ध में ख्यात, बही आदि पारम्परिक इतिहास रूपों धर्माख्यानों और लोक स्मृति में पर्याप्त जानकारियाँ मिलती हैं। ख्यात, बही आदि में मीरां के सम्बन्ध में उल्लेख कम हैं, क्योंकि उसके पति और पिता, दोनों सत्तारूढ़ नहीं हुए और वंश रचना हमारी की परम्परा केवल सत्तारूढ़ को ही निगाह में लेती है। अलबत्ता मीरां के सत्तारूढ़ परिजनों के सम्बन्ध में इसमें पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। विख्यात मध्यकालीन सांख्यिकीविद मुंहता नैणसी (१६१०-१६७० ई.) की रचना मारवाड़ रा परगना री विगत में मीरां के पिता रत्नसिंह के बडे भाई वीरमदेव और उसके उत्तराधिकारी बेटे जयमल की जन्मपत्रियाँ उपलब्ध हैं। मुरारीदान के संग्रह से मिली नैणसी के समसामयिक विद्वान् उदयभांण चाम्पावत की राठौड़ों री ख्यात में दूदा, वीरमदेव आदि से सम्बन्धित बहुत प्रामाणिक उल्लेख हैं। इसी तरह मीरां के ससुर

महाराणा सांगा के जन्म और सत्तारूढ़ होने के समय के सम्बन्ध में पारम्परिक इतिहास रूपों में लगभग निर्विवाद उल्लेख हैं। इन्हीं विभिन्न उल्लेखों, धार्मिक रचनाओं और जनश्रुतियों के आधार पर मीरां के जन्म के समय और स्थान का निर्धारण किया जा सकता है। मीरां का जन्म १४९८ ई. या इसके 'आसपास' हुआ। आरम्भिक इतिहाकारों और अध्येताओं ने मीरांकालीन अन्य लोगों के जन्म, राज्यारोहण, निधन आदि की तिथियों का सहयोग भी मीरां के जन्म का समय के निर्धारण में लिया, जो किसी भी तरह ग़लत नहीं है। १९०२ ई. में मीरां के पितृकुल के वंशज इतिहासकार ठाकुर चतुरसिंह ने मेड़तिया शाखा के राठौड़ों के इतिहास चतुरकुल चरित्र में अपने कुल की वंश रचनाओं के आधार पर पहली बार मीरां के जन्म का समय संवत् १५५५ (१४९८ ई.) के आसपास माना।[१२] बाद में हरविलास सारडा, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, गोपीनाथ शर्मा और हरमन गोएट्जे आदि इस धारणा पर कायम रहे।[१३] अब इस धारणा को पुष्ट करने वाला एक दस्तावेजी साक्ष्य राणी मंगा भाटों की बही भी उपलब्ध है। केहरदान और दाऊदान की इस मौलिक बही की नक़ल १९१८ ई. में तैयार की गई। मारवाड़ से सम्बन्धित इस बही में ९०६ ई. से जसवन्तसिंह द्वितीय (१८३८-१८९५ ई.) तक के अन्तःपुर के विवरण दिए गए हैं। इसके अनुसार भी मीरां का जन्म संवत् १५५५ (१४९८ ई.) में हुआ। बही में राव दूदाजी रै रणवासां री विगत में कहा गया है कि माराजकुंवर रत्नसिंह री बेटी मीरांबाई (खींचियों की दोहिती) हुई। जन्म समत १५५५ सावण वद भृगुवार रो ने समत १६०५ चेत वद ३ ने द्वारका में राम केयो। चितौड़ रे राणा सांगा रै माराज कुंवर भोजसी नै परणई (परणाई)।[१४]

मीरां के जन्म के समय के निर्धारण में सही और सटीक गणना में खींचतान भी बहुत हुई, जो निरर्थक है, क्योंकि रानियाँ बहियों में तिथियाँ किसी प्रमुख घटना के समय को आधार बनाकर उसके आगे या पीछे के वर्षों की गणना करके लिखवाती थीं, जिसमें पाँच-छह वर्षों के हेर-फेर की गुंजाइश रहती थी। आरम्भिक इतिहासकारों और अध्येताओं ने यही ध्यान में रखकर १४९८ ई. के बजाय '१४९८ ई. या इसके आसपास' को मीरां का जन्म समय माना है। '१४९८ ई. या इसके आसपास' को मीरां का जन्म समय मान लेने से उसके विवाह, निधन आदि के समय की सही गणना हो जाती है और इसका मेल उसके समकालीन परिजनों के जीवन की प्रमुख घटनाओं की तिथियों से भी हो जाता है। मीरां का जन्म १४९८ ई. के आसपास होने की पुष्टि मारवाड़ रा परगना री विगत में दी गई वीरमदेव और जयमल की जन्मपत्रियों से भी हो जाती है। इन पत्रियों के अनुसार वीरमदेव का जन्म १४७७ ई. और जयमल का जन्म १५०७ ई. में हुआ।[१५] मीरां के पिता रत्नसिंह वीरमदेव से छोटे थे, इसलिए उनका जन्म १४७७ ई. के पहले ही हुआ होगा। मीरां जयमल से बड़ी थी, इसलिए उसका जन्म १४९८ ई. या इसके आसपास हुआ होगा।

मीरां का जन्म मेड़ता में हुआ, लेकिन आरम्भ में जानकारियों के अभाव में कुड़की को मीरां का जन्म स्थान मान लिया गया था। यह सही है कि मीरां के पिता रत्नसिंह को जागीर के रूप में कुड़की सहित बारह

गाँव (कुड़की, बाजोली, नोया, नींवडी, पालड़ी, आकोदिया, हकधर, नुन्द, पीभाणिया, मोटस, डुमाणी और सुन्दरी) मिले, लेकिन नयी उपलब्ध उदयभाण चाम्पावत की राठौड़ां री ख्यात से सिद्ध है कि यह जागीर रत्नसिंह को १५१५ ई. के बाद प्राप्त हुई,[१६] जबकि मीरां का जन्म यह जागीर मिलने से पूर्व मेड़ता में हो गया था। विभिन्न धार्मिक स्रोतों में भी मीरां का जन्म स्थान मेड़ता को ही माना गया है। नाभादास की भक्तमाल के अनुसार मेड़ते जन्म भूमि, झूमि हित नैन लगै/ पगे गिरधरलाल, पिता ही के धाम में।[१७] राघवदास की भक्तमाल में भी उल्लेख है कि मात पिता जनमी पुर मेड़ते, प्रीति लगि हैर पीहर मांहि।[१८] सुखसारण की मीरांबाई की परची में भी मीरां का जन्म स्थान मेड़ता ही लिखा गया है- मीरां जनमी मेड़ते, भगति करण कलुकाल।/बिना बजाया बाजी, महलां सोवन थाल।[१९]

मीरां के माता-पिता के सम्बन्ध में बहुत जानकारियाँ उपलब्ध नहीं हैं। मीरां के पिता के सम्बन्ध में मुरारीदान की ख्यात की उपलब्धता से कुछ नई जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं। मीरां का पिता रत्नसिहं राव दूदा के पाँच पुत्रों में से चौथा था। वह दूदा के पाँच पुत्रों में पंचायण से बड़ा और वीरमदेव, रायमल और रायसल से छोटा था।[२०] मारवाड़ परगना री विगत में उल्लेख है कि उसने रतना नाम के एक मीसण चारण को रतनावास गाँव दिया।[२१] उसकी मृत्यु महाराणा सांगा और बाबर के बीच १५२७ ई. में हुए खानवा के युद्ध में हुई। इस युद्ध में वीरमदेव ने अपने अनुज रायमल और रत्नसिंह के साथ ससैन्य महाराणा सांगा की ओर से भाग लिया था। इसमें वीरमदेव घायल हुआ और रत्नसिंह अपने अग्रज रायमल के साथ काम आया।[२२]

मीरां का विवाह महाराणा सांगा के पुत्र भोजराज के साथ हुआ। मुंहता नैणसी री ख्यात में यह उल्लेख है कि भोजराज सांगावत। इणनुं, कहे छे मीरांबाई राठौड़ परणाई हुती।[२३] इसी तरह रामदान लालस (१७६१-१८२५ ई.) कृत भीमप्रकाश में भी उल्लेख है के भोजराज जेठो अभंग कंवरपणे म्रत कीध।[२४] पारिस्थितिक साक्ष्यों के आधार पर यह माना जा सकता है कि यह विवाह १५१६ ई. के आसपास हुआ होगा।[२५] महाराणा सांगा अपने समय में उत्तर भारत के सबसे बड़े साम्राज्य का स्वामी था और उसने २८ विवाह किए, जिनसे उसके सात पुत्र- भोजराज, कर्णीसिंह, रत्नसिंह, विक्रमसिंह, उदयसिंह, पर्वतसिंह और कृष्णसिंह हुए।[२६] भोजराज का जन्म सांगा की रानी सोलंकी रायमल की बेटी कुंवरबाई से हुआ।[२७] उसका निधन महाराणा सांगा के जीवनकाल में ही हो गया था। भोजराज का निधन ठीक कब और कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन गौरीशंकर हीराचन्द ओझा सहित अधिकांश विद्वानों के अनुमान हैं कि मीरां के विवाह के कुछ वर्षों बाद ही १५१८ से १५२३ ई. के बीच किसी समय महाराणा सांगा के गुजरात या मालवा अभियान के दौरान भोजराज की मृत्यु हुई होगी।[२८] मीरां की कविता में जिस राणा से तनावपूर्ण सम्बन्ध और नाराज़गी का बार-बार उल्लेख आता है, वह भोजराज नहीं है। भोजराज तो सतारूढ़ ही नहीं हुआ और राणा सांगा के जीवित रहते ही उसका निधन हो गया, इसलिए यह संज्ञा उससे सम्बन्धित

हो ही नहीं सकती। राणा सांगा उसने अपने सतारूढ़ मूर्ख और छिछोर देवर विक्रमादित्य (१५३१-१५३६ ई.) के लिए प्रयुक्त की है। विक्रमादित्य से पूर्व १५२८ से १५३१ तक अल्प समय के लिए सत्तारूढ़ रत्नसिंह से भी मीरां के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे होंगे। रत्नसिंह और उसकी माँ धनाबाई राठौड़ वीरमदेव के ख़िलाफ़ थे, इसलिए, ज़ाहिर है, उनके मीरां से भी सम्बन्ध ख़राब रहे होंगे। धनाबाई जोधपुर के राव सूजा के बेटे बाघा की बेटी थी[२६] और वह अपने बेटे रत्नसिंह को सत्तारूढ़ देखना चाहती थी, जिसमें उसे जोधपुर के राठौड़ों का समर्थन हासिल था। विवाहोपरान्त मीरां सर्वथा असहाय और असुरक्षित नहीं थी। उसके आर्थिक स्वावलम्बन का प्रबन्ध था और उसे कुछ हद तक पारम्परिक और सामाजिक सुरक्षा प्राप्त थी। महाराणा सांगा ने अपनी पुत्रवधु के आर्थिक स्वावलम्बन के व्यापक प्रबन्ध किए थे। उसे विवाहोपरान्त मेवाड़ के पुर और मांडल के परगने हाथ खर्च के लिए जागीर के रूप में दिए थे। गुर्जर गौड़ ब्राह्मणों की ख्यात और एक प्राचीन श्लोक (श्री चित्रकूटमुरलीधर नाम मूर्तिर्व्यासासनं द्विजवराय गजाधराय।/प्रददाति मीरां पत्युः स्वस्त्यर्थकामा तस्यान्वयकुलजनः प्रथमो हि व्यास।) से लगता है कि इस भूमि में से २०० बीघा सिंचित भूमि उसने अपने विद्या गुरु पंडित गजाधर को व्यास की पदवी सहित दान में दी, जो कहते हैं कि अभी भी उसके वंशजों के पास है।[३०]

मीरां का अधिकांश विधवा जीवन कष्टमय और घटनापूर्ण था। १५२३ और १५४० ई. के बीच परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि मेवाड़ और मेड़ता, दोनों ही सत्ता संघर्ष, अन्तर्कलह और बाह्य आक्रमणों की चपेट में आ गए। मीरां सती नहीं हुई इस कारण भी अन्तःपुर में उसके विरुद्ध माहौल नाराज़गी का रहा होगा। मीरां की कविता में एक जगह है कि भजन करस्यां सती न होस्यां मन मोह्यो घणनामी।[३१] यह उल्लेख नागरीदास उर्फ सांवतसिंह की पद प्रसंगमाला में भी विस्तार से आता है।[३२] १५१३ ई. में रत्नसिंह के निस्सन्तान मरने पर विक्रमादित्य सतारूढ़ हुआ। वह अयोग्य और मूर्ख था-उसने सात हज़ार पहलवान रख लिए और सामन्तों का अपमान और उपेक्षा करने लगा। नतीजतन अधिकांश जागीरदार या तो अपने ठिकानों में चले गए या शत्रुओं से मिल गए। चारों तरफ़ अराजकता फैल गई।[३३] विक्रमादित्य और उसकी माँ करमेती के मन में मीरां को लेकर शत्रुता और नाराज़गी तो पहले से ही थी। कुलोचित मान-मर्यादा के विरुद्ध उसके भजन-कीर्तन, साधु सत्संग आदि स्वेच्छाचारों से यह और बढ़ गई। विक्रमादित्य ने मीरां पर कई पाबन्दियाँ लगा दीं और उसे कष्ट और यातनाएँ देना शुरू कर दिया। मीरां को ज़हर देकर मारने के प्रयास की चर्चा उसकी कविताओं में एकाधिक बार आती है और इसकी पुष्टि विभिन्न धार्मिक-साम्प्रदायिक चरित्र-आख्यानों और लोक स्मृतियों से भी होती है। मीरां के पदों में एक जगह आता है-ज़हर प्याला राणाजी भेज्याजी, द्यो मीरां न व जाय।/ कर चरणामृत मीरां पी गई, कोई आप जानो रघुनाथ।[३४] इस तरह एक अन्य पद में उल्लेख इस तरह है-विसरा प्याला राणा जी,.....दोज्यो मीरां रै हाथ।/ कर चरणामृत पी गई भजु (जूं) रुग्नाथ।[३५] मीरां को मारने के प्रयासों का प्रकरण नाभादास की भक्तमाल और मीरांबाई की परची में भी

आता है। भक्तमाल में कहा गया है- दुष्टनि दोष विचारि, मृत्यु को उद्दिम कीयो !/बार न बांको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो।[३६] परची में भी वृत्तान्त है कि मन्दिर में पूजा करने वाले दयाराम नाम के एक पंडे को राणा ने सिखाकर चरणामृत के बहाने मीरां को ज़हर दिलवाया।[३७] मीरां को षडयन्त्रपूर्वक ज़हर देकर मारने का प्रकरण लोक की स्मृति में सदियों से है। लोक में ऐसी धारणा है कि विक्रमादित्य के आदेश पर एक विजयवर्गीय जाति के महाजन ने गुर्जरगौड़ और दाहिमा जाति के दो ब्राह्मणों के साथ मिलकर मीरां को ज़हर दिया। लोक में इन तीनों षडयन्त्रकारियों की निंदा करने वाली जनश्रुति-बीजावर्गी बाणियो, दूजो गुजरगोड़, तीजो मीले जो दाहिमो करे टापरो चोड़ अब भी प्रचलित है।[३८]

रत्नसिंह और विक्रमादित्य से प्रताड़ित और दुःखी मीरां अपने पीहर में अपने बड़े पिता वीरमदेव के पास आ गई, लेकिन यहाँ भी उसका जीवन निश्चिंत और निर्विघ्न नहीं रहा। जोधपुर के राव गांगा के समय से ही उसके उत्तराधिकारी मालदेव और वीरमदेव में शत्रुता चली आ रही थी। वीरमदेव स्वतंत्र और स्वाभिमानी प्रवृत्ति का व्यक्ति था इसलिए उसने मालदेव की अधीनता स्वीकार नहीं की। नतीजतन मालदेव ने १५३६ ई. में मेड़ता पर चढ़ाई कर दी। वह इतना क्रूर और नृशंस था कि उसने मेड़ता को पूरी तरह तहस-नहस कर दिया। उसने वीरमदेव को कई वर्षों तक निराश्रय यहाँ-वहाँ भटकने के लिए मजबूर कर दिया। मीरां भी कुछ समय अपने परिजनों के साथ यहाँ-वहाँ भटकती रही। मेड़ता से उखड़ने के बाद यहाँ-वहाँ भटकने के दौरान ही कभी मीरां पहले वृन्दावन और फिर द्वारिका गई होगी। मीरां की कविता के अन्तःसाक्ष्यों से लगता है कि वह टोडा तक वीरमदेव के साथ थी। उसके एक अल्पचर्चित पद में यह उल्लेख मिलता है। वह कहती है-जाण न दी जी य्यारे कारणे रे ज मीरां टोडारे बेस मोटी हुई।[३९] हुकमसिंह भाटी ने यशोधर चरित्र के साक्ष्य से अनुमान लगाया है कि टोडा पर मालदेव का आधिपत्य १५३८ ई. में हुआ, इसलिए सम्भावना है कि इस समय तक मीरां वीरमदेव के साथ रही होगी।[४०]

मीरां का अन्तिम कुछ समय वृन्दावन और शेष द्वारिका में निकला। मीरां वृन्दावन जाने से पहले पुष्कर की तीर्थ यात्रा पर भी गई। उसकी कविता में एकाधिक स्थानों पर यह उल्लेख मिलता है।[४१] वृन्दावन उस समय कृष्ण भक्ति का केन्द्र था। कृष्ण भक्ति के अधिकांश सांस्थानिक सम्प्रदाय यहाँ सक्रिय थे, इसलिए मीरां यहाँ ज़रूर गई होंगी। वीरमदेव के साथ टोडा आदि जिन स्थानों पर वह रही, वे वृन्दावन से बहुत दूर नहीं थे। वृन्दावन में मीरां के प्रवास की पुष्टि धार्मिक चरित्र-आख्यानों और उसकी कविता के अन्तःसाक्ष्यों से होती है। मीरां के वृन्दावन प्रवास में धार्मिक आख्यानों में आए जीव गोस्वामी से उसकी भेंट और उनके स्त्री मुख नहीं देखने के प्रण को छुड़ाने के प्रसंग से भी होती है।[४२] यह प्रसंग कुछ सच्चाई लिए हुए है, क्योंकि इसका उल्लेख जीव गोस्वामी से सम्बन्धित चैतन्य गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रियादास के साथ पदप्रसंग माला में वल्लभ सम्प्रदाय के नागरीदास ने भी किया है।[४३] यह सच्चाई है कि सामन्त और लोक प्रसिद्ध होने के कारण मीरां को अपने प्रभाव में लेने के लिए ब्रजमण्डल के सांस्थानिक कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में होड़ लगी

हुई थी। वल्लभ सम्प्रदायी मीरां के सम्पर्क में भी थे। जीव गोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के छह प्रमुख शिष्यों में से थे और उनका कार्य क्षेत्र वृन्दावन था। कहते हैं कि चैतन्य महाप्रभु स्वयं १५१६ ई. के आसपास वृन्दावन आए थे।[४४] प्रेम और ममता और भावुकता उनकी भक्ति के आधार थे। उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उनके सम्पर्क में आनेवाला उनके साथ बह जाता था।[४५] मेवाड़-मेड़ता की उठापटक से त्रस्त मीरां में कृष्ण भक्ति की जड़ें इस समय तक बहुत गहरी और मज़बूत हो चुकी थीं, इसलिए वह जीव गोस्वामी के सम्पर्क में ज़रूर आई होगी।

मेड़ता पर आधिपत्य के लिए निराश्रय यहाँ-वहाँ भटकते वीरमदेव से अलग होकर मीरां वृन्दावन आयी, लेकिन शान्ति और सुख उसे यहाँ भी नहीं मिले, तो वह अन्ततः द्वारिका चली गई। धार्मिक आख्यानों में इसका संकेत मिलता है। प्रियदास की टीका में कहा गया है कि राणा की मलीन मति देखी बसी द्वारावती।[४६] लोक ने भी मीरां के द्वारिका प्रवास के लिए राणा को उत्तरदायी ठहराया है। लोक में प्रचलित मीरां सम्बन्धी हरजसों में यह प्रसंग आता है। मीरां एक हरजस में राणा को देश छोड़ने के लिए उत्तरादायी ठहराती हुई कहती है- आम्बा पाक्या, कळहर कैरी, निंबूडा म्हारे देस। उदपुर रा राणा किण विध छोड्यो देस, मेवाड़ी राणा कण पर छोड्यो देस। (आम पक गए होंगे, केरियां आ गईं होंगी। मेरे देश में तो केवल नींबू हैं। हे उदयपुर के राणा! तू नहीं जानता क्या कि मैंने देश क्यों छोड़ा ?)[४७]

मीरां के विधवा जीवन के अन्तिम वर्ष द्वारिका और बेट द्वारिका में भजन-कीर्तन, पुण्यकार्य और सत्संग आदि में निकले। इतिहास, लोकाख्यान, कविता, जनश्रुतियाँ आदि सभी इसकी पुष्टि करते हैं। मीरां के द्वारिका आने के तीन कारण प्रतीत होते हैं- एक तो उस समय गुजरात भक्ति आन्दोलन का केन्द्र हो गया था, दूसरे यहाँ वह सुरक्षित थी, क्योंकि उस समय यहाँ उसके पितृपक्ष के राठौड़ वंश की एक शाखा वाढ़ेल (वाढ़ेर) का शासन था और तीसरे, यह उसके आराध्य कृष्ण का निवास स्थान था।[४८] कहते हैं कि मीरां सौराष्ट्र में पहले जूनागढ़ आई। जूनागढ़ से सरसई, सोमनाथ, गौरखमणि, माधवपुर, घेड, सूदामापुरी, पोरबन्दर और नियाड़ी होते हुए वह आरम्भड़ा पहुँची, जहाँ उस समय शिवा सांगा नामक वाढ़ेल राजा शासक था। शिवा सांगा तेरहवीं सदी में मारवाड़ से आए राठौड़ वेरावलजी बीजल का वंशज था। वेरावलजी और बीजलजी ने कच्छ के छोटे रेगिस्तान के पास वेदमती नदी तक का इलाका क़ब्ज़े में ले लिया था और उन्होंने द्वारिका की उत्तरी खाड़ी के किनारे आरम्भड़ा गाँव में नई बस्ती बसा कर वहाँ पर सत्ता कायम की।[४९] शिवा सांगा स्वयं कृष्ण भक्त था। कहते हैं कि मीरां काफी समय तक आरम्भड़ा में रही।[५०] मीरां आरम्भड़ा के बाद वह बेट द्वारिका में रही। यहाँ उसने एक मन्दिर बनवाया। मीरां ने बेट द्वारिका में मन्दिर बनवाया, यह उल्लेख इतिहास में सर्वप्रथम पश्चिमी भारत की यात्रा में लेफ्टिनेंट कर्नल टॉड ने किया। टॉड ने १८२२ ई. में इंग्लैण्ड जाने के लिए उदयपुर से प्रस्थान किया और वह आबू, सिद्धपुर, पाटन आदि होते हुए द्वारिका पहुँचा। बेट द्वारिका सम्बन्धी अपने वृत्तान्त में उसने लिखा कि 'जो देवालय मेरे लिए अधिक आकर्षण की

वस्तु सिद्ध हुआ वह था मेरी भूमि मेवाड़ की रानी लाखा की स्त्री सुप्रसिद्ध मीरांबाई का बनवाया हुआ सौरसेन के गोपाल देवता का मन्दिर जिसमें वह नौ का प्रेमी अपने मूल स्वरूप में विराजमान था; और निस्सन्देह यह राजपूत रानी उसकी सबसे बड़ी भक्त थी।'[५१] टॉड का यह उल्लेख प्रामाणिक होना चाहिए क्योंकि टॉड को मीरां के बेट में मन्दिर बनवाने की जानकारी मेवाड़ में मिली होगी और उसने इस जानकारी को मन्दिर को साक्षात देखकर प्रमाणित किया होगा। मीरां के बेट में मन्दिर बनवाने की जानकारी बेट के इतिहास और लोक स्मृतियों में भी है। पुरातत्त्व और इतिहास के साक्ष्यों के आधार पर तैयार की गई द्वारिका परिचय में मीरांबाई सम्बन्धी प्रकरण में एक जगह उल्लेख है कि 'मीरांबाई आरम्भड़ा पहुँची। उस समय आरम्भड़ा में शिवा सांगा नाम का वाढ़ेर राजा था। वह मीरांबाई की ही तरह रणछोड़ का भक्त था और मीरां के पीहर का था। मीरां काफ़ी समय तक आरम्भड़ा में रहीं। शिवा सांगा को प्रेरित कर बेट में द्वारिकाधीश का मन्दिर बनवाया।'[५२]

धार्मिक चरित्राख्यानों और पारिस्थितिक साक्ष्यों से लगता है कि मीरां की द्वारिका से मेवाड़-मारवाड़ वापसी के प्रयत्न हुए होंगे। बनवीर के पतन के बाद मेवाड़ में अराजकता और संकट का दौर कुछ हद तक समाप्त हुआ। उधर मेड़ता में लम्बी जद्दोजहद के बाद पहले वीरमदेव और उसकी मृत्यु के बाद जयमल सत्तारूढ़ हुए। जयमल से मीरां के आत्मीय सम्बन्ध थे। जिस तरह से मीरां वृन्दावन और फिर द्वारिका गई उससे लोक में मेवाड़ का अपयश फैला। मेवाड़ का पतन लोक में मीरां के शाप के रूप में प्रचारित हुआ। कहते हैं कि उदयसिंह और जयमल दोनों ने ही कुछ सामन्तों को ब्राह्मणों सहित द्वारिका भेजकर मीरां की वापसी के प्रयत्न किए, लेकिन मीरां ने मेवाड़-मेड़ता लौटने से इनकार कर दिया।[५३] इस प्रकरण को श्रद्धालुओं ने कई तरह से प्रचारित किया। यह प्रसंग सबसे पहले प्रियादास की भक्तमाल की टीका में आता है। उसमें कहा गया है कि राणा मीरां को साक्षात भक्ति स्वरूप जानकर बहुत दुःखी हुआ। उसने ब्राह्मणों से कहा कि मीरां को लाकर मुझे प्राण दान दो। ब्राह्मणों ने मीरां के द्वार पर धरना दिया और उसको राणा की विनती सुनायी। मीरां यह सुनकर रणछोड़ भगवान से विदा लेने मन्दिर में गई और वहीं मूर्ति में विलीन हो गई। वह ब्राह्मणों को नहीं मिली।[५४] यह प्रसंग कमाबेश इसी तरह नागरीदास कृत पदप्रसंगमाला में भी आता है।[५५]

मीरां का निधन कब और कैसे हुआ यह अभी तक अज्ञात है। मीरां के आरम्भिक अध्येता मुंशी देवीप्रसाद और इतिहासकार गौरीशंकर ओझा ने मेड़ता क्षेत्र के ग्राम लूणवे के भाट भूरदान की जबानी के आधार पर मीरां का मृत्यु समय १५४६ ई. माना है।[५६] केहरदान और दाऊदान की राणीमंगा भाटों की बही के अनुसार उसका निधन द्वारिका में वि. सं. १६०५ (१५४८ ई.) में हुआ। बही में उल्लेख है कि समत १६०५ चेत वद ३ ने द्वारका में राम केयो।[५७] यह मीरां के अदृश्य होने का समय है, जो सब तरफ़ उसके निधन के समय के रूप में प्रचारित हुआ। यह सूचनाएँ मीरां से लौटने का आग्रह करने वाले धरना देने वाले

ब्राह्मणों या तीर्थयात्रियों के माध्यम से मेवाड़-मारवाड़ पहुँची होगी और कुछ वर्षों के इधर-उधर के साथ प्रचारित हुई होगी। गुजरात के ऐतिहासिक और साहित्यिक स्रोतों के अनुसार मीरां जब सौराष्ट्र आई तो उसकी उम्र ३० वर्ष की थी। १५४० ई. में कच्छ से आए हुए जाड़ेजाओं ने जामनगर की स्थापना की और चारण भक्त कवि ईसरदास की प्रेरणा से उन्होंने १५६० ई. में द्वारिका के जगत मन्दिर में प्रतिमा स्थापित करवाई, तो मीरां उस समय बेट द्वारिका में विद्यमान थी और उस वक्त उसकी उम्र ६० वर्ष की थी।[५८] मीरां अदृश्य हो गई- उसने जल समाधि ले ली या वह चुपचाप कहीं चली गई, लेकिन लोक ने इस घटना को उसकी मृत्यु मानकर अपनी तरह से प्रचारित किया। लोक में प्रचारित यह हुआ कि मेवाड़ वापसी के लिए धरना देने वाले ब्राह्मणों की सम्भावित मृत्यु पर ब्रह्म हत्या का पाप लगने के भय से मीरां भगवान रणछोड़ से अनुमति लेने मन्दिर में गई और वहीं उनकी मूर्ति में विलीन हो गई। यह भी प्रचारित हुआ कि मूर्ति में समा जाने के दौरान उसके वस्त्र का कुछ हिस्सा बाहर रह गया।[५९] सांकेतिक रूप में अभी भी द्वारिका में द्वारिकाधीश की प्रतिमा के शृंगार में वस्त्र का एक हिस्सा इसीलिए बाहर रखा जाता है।

लोक में प्रचारित हो गया कि १५४६ ई. के आसपास मीरां भगवान रणछोड़जी की मूर्ति में समा गई। क्योंकि यह घटना १५४६ ई. के आसपास हुई, इसलिए इसके बाद मीरां की अक़बर, मानसिंह, तुलसीदास, तानसेन और बीरबल से भेंट से सम्बन्धित जनश्रुतियों को अनैतिहासिक और कपोल कल्पित मान कर ख़ारिज कर दिया गया।[६०] कुछ लोगों का अनुमान है कि मीरां का निधन १५४६ ई. के आसपास नहीं हुआ। अधिकांश पारम्परिक स्रोतों के अनुसार मीरां की मृत्यु ६५-६७ वर्ष की उम्र में हुई, इसलिए इस हिसाब से १४९८ ई. के आसपास जन्म लेने वाली मीरां का निधन १५६३-१५६५ ई. में हुआ होगा। उनका मानना है कि मूर्ति में समा जाने की कहानी मीरां से मेवाड़ लौटने का आग्रह करने वाले ब्राह्मणों ने अपनी असफलता छिपाने के लिए गढ़ी होगी। मीरां के जीवन की पुनर्रचना करने वाले हरमन गोएट्ज़े का अनुमान है कि मीरां द्वारिका से चुपचाप निकलकर चली गई।[६१] उसके अनुसार द्वारिका से अदृश्य हो जाने के बाद मीरां दक्षिण और पूर्वी भारत के तीर्थस्थानों की यात्रा और प्रवास पर रही होगी। इन यात्राओं के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। लोक धारणाओं के अनुसार यहाँ कुछ समय रहने के बाद वह आम्बेर और मथुरा गई। ये जनश्रुतियाँ एकबारगी पूरी तरह अनैतिहासिक और कपोल-कल्पित लगती हैं, लेकिन यदि मीरां का निधन १५४६ ई. के आसपास नहीं हुआ और वह १५६३-१५६५ ई. तक जीवित थी, तो इस दौरान के ऐतिहासिक घटनाक्रम और परिस्थितियों के साथ इनका तालमेल बैठ जाता है।

२.

मीरां के ऐतिहासिक स्त्री मनुष्य के अस्तित्व के संकेत धर्माख्यानों में भी विद्यमान हैं। धर्माख्यानों में मीरां के चरित्र निरूपण की शुरुआत सोलहवीं सदी के मध्य उसके जीवन के आसपास से शुरू हो जाती है और अठारहवीं सदी तक निरन्तर चलती है। ख़ास बात यह है कि इन अधिकांश धर्माख्यानों के रचना समय

और रचनाकारों की प्रामाणिकता बहुत संदिग्ध नहीं है। इनमें मीरां की निरन्तर मौजूदगी कम-से-कम इस बात का तो सबूत है कि मीरां एक ऐतिहासिक अस्तित्व थी। विडम्बना यह है कि फ्रांसिस टैफ़्ट की पश्चिमी इतिहासकार 'भक्ति और राजस्थान की परम्पराओं को ऐतिहासिक उद्देश्यों के लिए काफ़ी हद तक अविश्वसनीय' मानती है।[६२] उनके अनुसार इन परम्पराओं में एकरूपता नहीं है और ये परस्पर विरोधाभासी भी हैं। तीन शताब्दियों तक निरन्तर रहनेवाली और देशव्यापी इन परम्पराओं में एकरूपता का टैफ्ट का आग्रह ही ग़लत है। ये परम्पराएँ विविध प्रकार की हैं और इनमें विरोधाभास भी पर्याप्त हैं, लेकिन इनमें मीरां की मौजूदगी निरन्तर है। धार्मिक आख्यानों में मीरां का पहला उल्लेख राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश के अनुवर्ती ओरछा निवासी हित हरिराम की व्यासवाणी में मिलता है, जिसकी रचना १५५५ ई. में हुई। मीरां इसमें सन्त-भक्त से अलग, भक्तों का सम्मान करने वाली एक सामन्त स्त्री के रूप में वर्णित है। इसमें केवल इतना कहा गया है कि मीरांबाई बिनु कौ भक्तनि को पिता जानि उर लावै।[६३] मीरां विषयक प्राचीन उल्लेख रामानन्दी सम्प्रदाय के नाभादास की भक्तमाल में भी मिलता है। भक्तमाल का रचनाकाल १५९४ ई. मीरां के जीवनकाल के आसपास का ठहरता है, इसलिए सम्भावना है कि इसमें आए मीरां विषयक उल्लेख प्रमाणिक हैं।[६४] राधावल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित ध्रुवदास की १६४३ ई. के आसपास की रचना भक्त नामावली में ध्रुवदास मीरां को प्रकट भक्ति को खानि कहते हैं।[६५] नाभादास के भक्तमाल पर उनके शिष्य प्रियादास ने १७१२ ई. में भक्तिरस बोधिनी शीर्षक से एक विस्तृत टीका लिखी, जिसका मीरां के भक्त रूप के निर्माण और प्रतिष्ठा में निर्णायक योगदान है।[६६] दादूपंथी राघवदास की १६६० ई. में रचित भक्तमाल में भी मीरां वर्णित है।[६७] मीरां विषयक उल्लेख वल्लभ सम्प्रदायी दो ग्रन्थों, चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में आते हैं। ये दोनों ग्रन्थ प्रामाणिक माने जाते हैं। गोस्वामी गोकुलनाथ ने वल्लभाचार्य के ८४ और विठ्ठलनाथ के २५२ शिष्यों की वार्ताएँ सुनाईं, जिनको उनके शिष्य हरिराय ने उनके जीवनकाल (१५५१-१६३३ ई.) में ही लिपिबद्ध कर लिया था। इन दोनों ग्रन्थों के मीरां सम्बन्धी उल्लेखों की ख़ास बात यह है कि इनमें वर्ण्य मीरां नहीं है। इनमें वर्ण्य वल्लभाचार्य और विठ्ठलनाथ के शिष्य हैं, जिनको गुरु भक्ति और निष्ठा प्रदर्शित करने के लिए मीरां का अपमान और अवहेलना करते दिखाया गया है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता में तीन वल्लभ सम्प्रदायी भक्त-शिष्य मीरां का अपमान, अवहेलना और अवज्ञा करते दिखाए गए हैं।[६८] दो सो बावन वैष्णवन की वार्ता में दो प्रसंग हैं, जो मीरां से सम्बन्धित हैं।[६९] परवर्ती पुष्टिमार्गीय रचनाओं में भी मीरां का उल्लेख होता रहा। मीरां के ही वंश में उत्पन्न वल्लभ सम्प्रदायी भक्त नागरीदास उर्फ कृष्णगढ़ नरेश सावंतसिंह राठौड़ (१६९९-१७६६ ई.) ने अपनी रचना पदप्रसंग माला में मीरां के कुछ पदों के साथ उनसे सम्बन्धित प्रसंग अपनी ओर से जोड़े हैं। इसमें मीरां के छह पद और इतने ही प्रसंग आए हैं।[७०] दादूपंथी चारण कवि-भक्त ब्रह्मदास द्वारा १७५९ ई. के आसपास लिखित राजस्थानी भक्तमाल में भी मीरां का चरित्र निरूपण हुआ है।[७१] गुजरात के विख्यात

कवि और वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित दयाराम (१७६७-१८५२ ई.) भी मीरां के भक्त रूप का निरूपण पुष्टिमार्गीय भक्ति सिद्धान्तों के अनुसार करते हैं। उनकी तीन रचनाओं- मीरां चरित्र, भक्ति वेल और चौरासी वैष्णव में मीरां का उल्लेख मिलता है।[७२] महाराष्ट्र में वारकारी सम्प्रदाय के महिपति (१७७४ ई.) भक्ति लीलामृत में कहते हैं कि मीरां को ज़हर उसके पिता ने दिया था और मीरां ने इसको पिया था, जिससे सारंगपाणि कृष्ण का शरीर नीला पड़ गया।[७३] रामस्नेही सम्प्रदाय के सुखशारण की रचना मीरांबाई की परची (१७६८ ई.) में मीरां के भक्त रूप के महिमा मंडन के लिए के एक मौलिक उद्‌भावना मिलती है। इसके अनुसार पूर्वजन्म में मीरां भगवद्‌पुराण में उल्लिखित बरसाने के ब्राह्मण की पत्नी थी, जिसने कृष्ण प्रेम के कारण मीरां के रूप में जन्म लिया।[७४] बड़ौदा निवासी राधाबाई के गरबा मीरां महात्म्य (१८४३ ई.) में भी मीरां के भक्त रूप का ही विस्तार हुआ है। इसके अनुसार माता ने मीरां को त्याग दिया था और भाई ने उसका विवाह किया। राणा ने मीरां को ज़हर दिया, जो अमृत हो गया। राणा को मीरां एक साथ दस-बीस महलों में दिखायी पड़ी।[७५]

३.

फ़्रांसिस टैफ़्ट और कुछ भारतीय विद्वानों को मीरां की कविता उसके मूल और प्राचीन पाठों के अनुपलब्धता और भाषा और भाव वैविध्य के कारण भी संदिग्ध लगती है। फ़्रांसिस टैफ़्ट अनुसार मीरां की उपलब्ध पदावली संदिग्ध है। टैफ्ट इससे सावधान रहने की सलाह देती हैं, क्योंकि यह 'हाल के रूपान्तरणों में हमारे समाने आई है।'[७६] मीरां के एक और पश्चिमी अध्येता जॉन स्टैटन हौली फ़्रांसिस टैफ़्ट से सहमत तो नहीं हैं, लेकिन मीरां की रचनाओं के मीरां की ही होने को लेकर सन्देह उनके मन में भी है। उन्होंने साफ़ तो नहीं कहा, लेकिन स्वर इस सम्बन्ध उनका भी किन्तु-परन्तु का ही है। वे लिखते हैं कि 'अन्त में यह कहकर फ़्रांसिस टैफ़्ट को आश्चर्य में डालना चाहूँगा कि मेरे ख़याल से इन कविताओं को मेड़तिया रानी ने रचा होगा। मैं यह नहीं कह रहा कि वे रची गईं थीं। आप समझ रहे होंगे। लेकिन मैं कह रहा हूँ कि मैं नहीं मानता कि यह असम्भव है। क्या रानियाँ बेहतर कविताएँ लिखती हैं? हम जानते हैं कि कहानियों में ऐसा होता ही है।'[७७] विडम्बना यह है कि पश्चिमी विद्वान यह तो कह देते हैं कि मीरां की कविता के कई रूपान्तरण हैं और ये सभी हाल के हैं, लेकिन वे इसके लिए ख़ास भारतीय भाषा परिदृश्य और स्मृति की सुरक्षाऔर संरक्षण के ख़ास भारतीय ढंग को अपनी निगाह में नहीं लेते। यह सही है कि मीरां की कविता के उपलब्ध अधिकांश हस्तलिखित पाठ अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के हैं, ये ज़्यादातर लोक स्मृति पर आधारित हैं और इनमें भावों की एकरूपता और निरन्तरता का अभाव है। साथ ही, आज के हिसाब से इनमें भाषायी वैविध्य भी खूब है-ये राजस्थानी के साथ अलग से गुजराती, ब्रज आदि भाषाओं में भी हैं और इनमें इन भाषाओं का मिलाजुला रूप भी मिलता है, लेकिन ये सभी मीरां की रचनाएँ नहीं है, यह धारणा युक्तिसंगत नहीं है।

भारतीय लोक-समाज का जैसा स्वभाव है उसके अनुसार केवल दस्तावेज़ी, मतलब हस्तलिखित और प्राचीन को ही प्रामाणिक मानने आग्रह ठीक नहीं है। दस्तावेज़ी कविता में उस समय का पता-ठिकाना तो होता है, लेकिन हमारे लोक-समाज का स्वभाव दस्तावेज़ तक सीमित रहने का नहीं है। हमारे लोक की ख़ास बात यह है कि यह दस्तावेज़ को भी अपनी स्मृति में ले जाकर निरन्तर जीवन्त रखता है। भारतीय महाकाव्यों में निरन्तर जीवन्तता इसलिए है, क्योंकि ये ठहरे हुए और दस्तावेज़ी नहीं हैं। इनको लोक-समाज ने अपनी भावनाओं और ज़रूरतों के अनुसार निरन्तर पुनर्नव किया है और इस कारण ही ये सदियों से उपयोगी और प्रासंगिक बने हुए हैं। यदि परम्परा है, तो यह जड़ नहीं होगी, क्योंकि जोड़-बाकी इसका स्वभाव है। जोड़-बाक़ी से ही यह निरन्तर है और इसीलिए परम्परा है। भारतीय लोक-समाज भी अपनी परम्परा और विरासत को दस्तावेज़ों में भी सहेजता है, लेकिन यह केवल इन पर ही नहीं ठहर जाता। यह परम्परा और विरासत को सदियों तक अपनी स्मृति में भी जीवित रखता है। यह समय की ज़रूरतों के अनुसार इसमें इधर-उधर, विस्तार और सरलीकरण भी करता है। सांस्थानिक धर्म, शासन आदि अपने निहित स्वार्थ में विरासत और परम्परा में रद्दोबदल करते हैं, लेकिन लोक का स्वभाव इससे अलग है। तमाम इधर-उधर के बावजूद लोक की स्मृति असल के आसपास ही रहती है। निरन्तर इधर-उधर के बाद भी मीरां की कविता में कुछ ऐसा है, जो असल है और जो असल नहीं है वो कम से कम असल के आसपास ज़रूर है। असल को इसमें रद्द या ख़ारिज नहीं किया गया है। मीरां के पदों की कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं, जो उसके एकाधिक पदों में आती हैं, जो यह साबित करती हैं कि असल उनमें मौजूद है। मीरां के पाठों अनुसंधानकर्ता ललिताप्रसाद ने स्वीकार किया कि रूपान्तरण अकसर किसी मूल पद को केन्द्र में रखकर ही होता है। रूपान्तरण करनेवालों की उन्होंने चार कोटियाँ बनायीं, जिनमें से दो आरम्भिक कोटियों में बहुसंख्यक भारतीय जनसाधारण का अधिकांश सम्मिलित है। पहली के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा कि 'कुछ पद मीरां के नाम पर विविध वैष्णव भक्तों के द्वारा गाए जाते हैं, जिनका आधार सचमुच ही मीरां का ही कोई न कोई पद होता है। आधारयुक्त मूल पदावली की दुष्प्राप्यता इस कोटि के भक्तों को बाध्य करती है कि अपनी स्मरण शक्ति से ही काम लें। भक्तों में निरक्षरों की संख्या भी कम नहीं, और न सब समान रूप से मेधावी होते हैं। अतः स्थल-स्थल पर कड़ियाँ भूल जाना असम्भव नहीं। किन्तु उच्च कोटि की आत्माभिव्यक्ति सरसरता के साथ प्रायः सरल ही होती रही है। यह नैसर्गिक गुण इन भक्त जनों की अनायास सहायता कर देता है। मिलती-जुलती भूली हुई कड़ियाँ जोड़कर पद पूर्ण कर लिया जाता है। कालान्तर में यही पद एक नवीन पद की सत्ता से विभूषित हो जाता है।'[७८] इसी तरह दूसरी कोटि के लोग उनके अनुसार वे हैं 'जिनकी मेधा शक्ति पहलों से कम है। समझदारी का उनका दरजा भी न्यूनतर ही है। वे अपने भावोद्रेक में दो-दो, चार-चार पदों की भिन्न कड़ियों जैसी जो जब याद पड़ी, जोड़कर नए पदों की सृष्टि कर डालते हैं। कहीं-कहीं अन्य प्रसिद्ध भक्तों द्वारा रचित प्रसिद्ध दोहों की कड़ियाँ उठाकर पदों में जोड़ लेना और अन्त में 'मीरां के प्रभु गिरधर नागर' की छाप गा देना भी उनकी प्रथा है।'[७९]

मीरां की कविता में भाव और भाषा का वैविध्य पश्चिमी विद्वानों को अटपटा लगता है। एक-दूसरे से अलग माने जाने वाले सगुण-निर्गुण, प्रेम-ज्ञान, कृष्ण-राम, भक्ति-योग आदि उसकी कविता में एक साथ हैं। भक्ति आन्दोलन की व्याप्ति सम्पूर्ण देश में थी और इस दौरान क्षेत्रीय सांस्कृतिक ज़रूरतों के तहत भक्ति का जो लोकरूप बना वो शास्त्रीय भक्ति के पारम्परिक साँचों-खाँचों से निकलकर सरल हो गया था। आरम्भिक आधुनिक विद्वानों ने भक्ति को सगुण-निर्गुण, प्रेम-ज्ञान, भक्ति-योग आदि के साँचों-खाँचों में बाँटकर सन्त-भक्तों की जो पहचान बनाई वो आधी-अधूरी है। मीरां के साथ भी यही हुआ। उसकी जो लोक भक्ति थी उसका साँचों-खाँचों में विभाजन सम्भव नहीं था। सन्त साहित्य के विख्यात अध्येता परशुराम चतुर्वेदी को मीरां की कविता ने मुश्किल में डाल दिया। उन्होंने पहले लिखा कि 'दूसरे प्रकार के पद वे हैं, जिनका वर्ण्य विषय सन्तमत द्वारा प्रभावित जान पड़ता है और जिनमें न केवल 'साहब', 'सुरति', 'नाम', 'सुखमणा', 'सहज' एवं 'निरंजन' जैसे अनेक शब्दों के प्रयोग मिलते हैं; अपितु जिनमें ऐसी कई बातें प्रचुर मात्रा में मिल जाती हैं, जिनके कारण मीरांबाई को सन्तमतानुसारिणी कहने की प्रवृत्ति हुए बिना नहीं रहती।'[८०] लेकिन आगे मीरां की दूसरी कई माधुर्य भाव की रचनाओं के आधार पर अपने इस विचार का खण्डन उन्होंने स्वयं ही यह कहकर कर दिया कि 'इस प्रकार की धारणा को प्रश्रय देना हमें युक्तिसंगत जान नहीं पड़ता।'[८१] भक्ति आन्दोलन के दौरान भक्ति का एक सरल लोकरूप विकसित हुआ, जिसमें भक्ति के शास्त्रीय और सांस्थानिक रूप घुल-मिलकर आसान हो गए। लोक की भक्ति में सगुण-निर्गुण, प्रेम-ज्ञान, भक्ति-योग, राम-कृष्ण आदि सब एकरूप हो गए और इनको लेकर इसमें कोई परहेज़ और भेदभाव भी नहीं था। मीरां की भक्ति यही लोक भक्ति है, जिसका सगुण-निर्गुण, सन्त-भक्त, ज्ञान-प्रेम, राम-कृष्ण आदि में विभाजन और वर्गीकरण ग़लत है। मीरां सगुणोपासक है, लेकिन गाहे-बगाहे निर्गुण को भी साध लेती है। उसके यहाँ सगुण-निर्गुण एक-दूसरे में घुल-मिल गए हैं। उसके यहाँ आवो मनमोहना जी मीठा थारा बोल भी है और चालो अगम के देस भी है। ख़ास बात यह है वह ऐसी सन्त-भक्त है जो कहती है ओलूं थारी आवै हो महाराजा अबिनासी।

मीरां की कविता में भाव विविधता उसकी लोकव्याप्ति के कारण भी है। भक्ति आन्दोलन में क्षेत्रीय सांस्कृतिक ज़रूरतों के तहत भक्ति के कई मत-मतान्तर और धारणाएँ अस्तित्व में आईं। मीरां की हैसियत एक सामन्त स्त्री की थी, इसलिए उसका सन्त-भक्त रूप खूब लोकप्रिय हुआ। मतों-सम्प्रदायों और इनकी विभिन्न धारणाओं के अनुसार उसकी रचनाओं का रूपान्तरण भी खूब हुआ। आरम्भ में मत-मतान्तर और सांस्थानिक नहीं थे, लेकिन आगे चलकर ये सांस्थानिक भी हो गए। इनमें द्वेष तो नहीं था, लेकिन वर्चस्व के विस्तार की स्पर्धा और आग्रह इनमें बाद में बढ़ गए। मीरां की रचनाएँ कृष्ण भक्ति और राम भक्ति, दोनों सम्प्रदायों में लोकप्रिय थीं, इसलिए इनके आग्रहों और धारणाओं के अनुसार इनमें कुछ रद्दोबदल भी हुए।

मीरां की कविता का भाषायी वैविध्य भी 'आधुनिकता' के संस्कार और आदत वाले लोगों को चौंकाने वाला लगता है। मीरां की रचनाएँ आज के हिसाब से राजस्थानी के साथ अलग से गुजराती, ब्रज आदि में

भी मिलती हैं और इसमें एक साथ गुजराती, ब्रज, राजस्थानी आदि का मिलाजुला रूप भी मिलता है। इस आधार पर भी मीरां की कविता को अप्रामाणिक माना गया है। दरअसल मीरां की कविता में भाषायी वैविध्य हमें भाषायी वर्गीकरण और विभाजन की औपनिवेशिक समझ के कारण दिखायी पड़ता है। उपनिवेशकाल से पहले तक यहाँ की भाषाएँ और बोलियाँ एक-दूसरे से इस तरह से सम्बद्ध थीं कि इनको पृथक् और वर्गीकृत करना कठिन था।[८२] जार्ज ग्रियर्सन ने खींच-खाँचकर भारतीय भाषाओं का जो वर्गीकरण और विभाजन किया उससे पहली बार भाषाओं को एक-दूसरे से अलग पहचान मिली। विडम्बना यह है कि खींच-खाँचकर कर किया गया वर्गीकरण और विभाजन तो हमारी भाषायी समझ का हिस्सा हो गया, लेकिन भारतीय भाषाओं की परस्पर घनिष्ठ सम्बद्धता सम्बन्धी कई बातें जो सर्वेक्षण के दौरान सामने आयीं, उन पर कम लोगों का ध्यान गया। मीरां की कविता के भाषायी वैविध्य को भारतीय भाषाओं की इस परस्पर सम्बद्धता से अच्छी तरह समझा जा सकता है।

भारतीय भाषाएँ एक-दूसरे से इस तरह जुड़ी हुई हैं कि वे एक-दूसरे से कहाँ और कैसे अलग होती हैं, यह तय करना मुश्किल काम है। अक़्सर वे दूसरी भाषा की सीमा शुरू होने से पहले ही उसके जैसी होने लगती हैं। ग्रियर्सन ने भी सर्वेक्षण के दौरान यह महसूस किया।[८३] मीरां की कविता की भाषा में गुजराती, राजस्थानी, ब्रज आदि अलग-अलग भाषाएँ नहीं हैं। ये एक ही भाषा के क्षेत्रीय रूप हैं, जो कुछ दूर चलकर एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं। जार्ज ग्रियर्सन ने भी भाषा के मामले में भारतीयों के इस ख़ास नज़रिये को लक्ष्य किया।[८४]

मीरां की लोकव्याप्ति मध्यकालीन सन्त-भक्तों में सबसे अधिक है, इसलिए उसकी रचनाओं से मूल, हस्तलिखित और प्राचीन होने की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। लोक की जोड़-बाक़ी और इधर-उधर से उसकी रचनाओं में रूपान्तरण हुआ है, लेकिन यह असल से ज़्यादा दूर नहीं है। मीरां का भाव वैविध्य 'एकरूप' और 'निरन्तर' की अपेक्षा करनेवालों को निराश करता है, लेकिन यह हमारे मध्यकालीन लोक-समाज के स्वभाव और संस्कार में है। मीरां के उपलब्ध प्राचीन हस्तलिखित पाठों को उनकी भाषा-वर्तनी और व्याकरण के वैचित्र्य के आधार ख़ारिज करने का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि एक तो उस समय व्याकरण और वर्तनी को लेकर पर्याप्त क्षेत्रीय वैविध्य था और दूसरे, इनके लिखिया ऐसे भक्त लोग थे, जिनको लिखने-पढ़ने का बहुत अभ्यास नहीं था। मीरां की रचनाओं के मूल पाठ के निर्धारण को उसकी भाषा से जोड़ कर देखना भी गलत है। उसकी रचनाओं में दिखनेवाला भाषायी वैविध्य हमें भाषायी वर्गीकरण और विभाजन की औपनिवेशिक समझ और संस्कार के कारण दिखायी पड़ता है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी में जब मीरां की कविता हुई, तो आज के महाराष्ट्र और गुजरात सहित तमाम उत्तर भारत में क्षेत्रीय वैशिष्ट्य के साथ कमोबेश एक ही भाषा प्रयुक्त हो रही थी। मीरां की कविता इसी भाषा में हुई। यह अलग

बात है कि बाद में क्षेत्रीय विशेषताओं के मुखर और प्रमुख हो जाने से यह उनके अनुसार राजस्थानी, गुजराती, ब्रज आदि में ढल गई।

पश्चिमी विद्वान् लम्बे समय से अपने जैसी फ़सल का आग्रह हमारे खेतों में कर रहे हैं और ख़ास बात यह है कि उसके अभाव में वे हमारी फ़सल के फ़सल होने पर सन्देह भी कर रहे हैं। सही तो यह है कि 'सभी खेतों में एक सी फसलें नहीं होती।' मीरां का जीवन और कविता एक ख़ास प्रकार के समाज और संस्कृति की पैदाइश है। यह समाज-संस्कृति इतनी अलग और ख़ास हैं कि इसको समझने के लिए इसकी अपनी ज़रूरत के तहत बने इतिहास रूपों, धार्मिक आख्यानों, जनश्रुतियों आदि की समझ और उन पर निर्भरता बहुत ज़रूरी है। मीरां की मौजूदगी पारम्परिक इतिहास रूपों, धार्मिक आख्यानों और लोक स्मृति में सदियों से निरन्तर और सघन है। उसकी कविता सदियों से श्रुत से लिखित और लिखित से श्रुत में आ-जा रही है और यह स्मृति के संरक्षण और रख-रखाव का ख़ास भारतीय ढंग है। विडम्बना यह है कि सदियों से हमारे समाज ने जिस मीरां को अपने सिर पर उठा रखा है, जिसकी स्मृति कई रूपों में निरन्तर और जीवन्त है, एक दिन अपने 'इतिहासकार' होने का दावा करते हुए कोई उस मीरां से सम्बन्धित सभी उपलब्ध स्रोतों को संदिग्ध ठहरा देता है। रवींद्रनाथ ठाकुर के शब्दों में हमें उसे उसके जैसे दूसरे लोगों को यह कहना चाहिए कि 'धान के खेत में बैंगन नहीं होते।' उनकी बैंगन की तलाश पूरी नहीं होने का यह मतलब बिल्कुल नहीं है कि खेत में धान ही नहीं हुआ। मीरां और उसकी कविता हुई और यह हमारे अपने ढंग से, कई तरह से, सिद्ध और प्रमाणित है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

१. रवीद्रनाथ टैगोर, विजन ऑफ़ हिस्ट्री, अनु. सिबेश भट्टाचार्य एवं सुमिता भट्टाचार्य (शिमलाः इण्डियन इंस्टिट्यूट ऑफ़ एडवांस्ड स्टडी, २००३), २८.

२. फ़्रांसिस टैफ़्ट, 'इल्युजिव हिस्टोरिकल मीरांबाई-ए नोट,' मल्टीपल हिस्ट्रीज़, संपा. लारेंस ए बॉब, वर्षा जोशी एंड माइकेल डब्ल्यू मिस्टर (जयपुरः रावत पब्लिकेशन, २००२), ३१३.

३. मीरां के सम्बन्ध में पर्याप्त ऐतिहासिक स्रोतों के अभाव का उल्लेख जॉन स्ट्रेटन हॉली (भक्ति के तीन स्वर, हिन्दी अनु. अशोक कुमार (नयी दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, २०१६), १०३), परिता मुक्ता (अपहोल्डिंग दि कॉमन लाइफ-दि कम्यूनिटी ऑफ मीराबाई (कोलकाताः ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १६६७), २६) और नैंसी एम मार्टिन (मीराबाईः 'शास्त्रों में उल्लिखित, जीवन में रूपायित,' रगायन, जनवरी-मार्च, १६६७, ७) ने भी किया है। भारतीय अध्येता मुंशी देवीप्रसाद (१८६८) ने भी मीरांबाई का जीवन चरित्र नामक अपने विनिबन्ध (कोलकाताः बंगीय हिन्दी परिषद) में मीरां से सम्बन्धित पर्याप्त ऐतिहासिक स्रोतों के अभाव चर्चा की है।

४. फ़्रांसिस टैफ़्ट, 'इल्युजिव हिस्टोरिकल मीरांबाई- ए नोट,' ३२४.

५. वही, ३१४.

६. वही, ३२४.

७. वही, ३१४.

८. मार्क ब्लाख़, इतिहास का शिल्प, हिन्दी अनु. बृजबिहारी पांडेय (दिल्लीः ग्रन्थ शिल्पी, पुनर्मुद्रण २०१३), २१.

९. वही, २१.

१०. रोमिला थापर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, हिन्दी अनु.आदित्यनारायण सिंह (दिल्लीः ग्रन्थ शिल्पी, २००१), २३२.

११. रबींद्रनाथ टैगोर, विजन ऑफ़ हिस्ट्री, २८.

१२. ठाकुर चतुरसिंह, चतुरकुल चरित्र इतिहास, (नसीराबादः एडवर्ड प्रिंटिंग प्रेस, १९०२), १:७८.

१३. हरविलास सारड़ा, हिन्दुपति महाराणा सांगा (जोधपुरः सूर्यनगरी प्रकाशन, २००८, ७४; गौरीशंकर हीराचन्द ओझाः उदयपुर राज्य का इतिहास (जोधपुरः राजस्थानी ग्रन्थागर १९९६-९७), ३५९; गोपीनाथ शर्मा, भक्त मीरांबाई (उदयपुरः मीरां कला मन्दिर, १९९०), १० और हरमन गोएट्जेः मीराबाईः हर लाइफ एंड टाइम्स (बम्बईः भारतीय विद्या भवन, १९६६), ४.

१४. केहरदान एवं दाउदान, राणीमंगा भाटों की बही (मारवाड़ का रनिवास), संपा. महेन्द्रसिंह नगर (जोधपुरः महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, २००२), १६.

१५. मुंहता नैणसी, मुंहता नैणसी री लिखी मारवाड़ रा परगनां री विगत, संपा. नारायणसिंह भाटी (जोधपुरः राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, १९९४), ३:३३६.

१६. मुरारी दान, उदयभाण चांपावत री ख्यात (पाण्डुलिपि), ग्रन्थांक-१५६७५ (जोधपुरः राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान), ५७४.

१७. नाभादास, श्रीभक्तमाल (श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका-कवित्त सहित), संपा. सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला (लखनऊः तेजकुमार बुक डिपो (प्रा.) लिमिटेड, ग्यारहवां संस्करण २०११), ७१४.

१८. राघवदास, राघवदासकृत भक्तमाल (चतुरदास की टीका सहित), संपा. अगरचन्द नाहटा (जोधपुरः राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, १९६५), ९९.

१९. सुखसारण, मीरांबाई री परची, परम्परा, संपा. नारायणसिंह भाटी, भाग ६९-७०, १७.

२०. मुरारी दान, उदयभाण चांपावत री ख्यात, ग्रन्थांक-१५६७५, ५७४.

२१. मुंहता नैणसी, मुंहता नैणसी री लिखी मारवाड़ रा परगनां री विगत, २:१०९.

२२. वही, ४७.

२३. मुंहता नैणसी, मुंहता नैणसीरी ख्यात, संपा. बद्रीप्रसाद साकरिया (जोधपुरः प्राच्य विद्या प्रतिष्ठन, २००६), १:२१.

२४. रामदान लालस भीम प्रकाश (हस्तलिखित प्रति). कोलकाताः सेठ सूरजमल नागरमल पुस्तकालय, पृ. ३.

२५. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, ३५८.

२६. वही, ३८४.

२७. वही, ३८४.

२८. वही, ३५६.

२६. बड़वा देवी दान, मेवाड़ के के राजाओं की राणियों, कुंवरों और कुंवरियों का हाल, संपा. देवीलाल पालीवाल (उदयपुरः साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, १६८५), ८.

३०. हरिनारायण पुरोहित द्वारा उद्धृत ठाकुर चतुरसिंह का पत्र 'मीरां प्रकरण (विद्याभूषण हरिनारायण पुरोहित),' परम्परा, भाग-६३-६४, ६८ एवं गोपालसिंह मेड़तिया, जयमलवंश प्रकाश -बदनोर (मेवाड़) का मेवाड़ का इतिहास, (जोधपुरः राजस्थानी ग्रन्थागार, दूसरा संशोधित संस्करण, २०१२), १:४२७.

३१. मीरां बृहत् पदावली, संपा. हरिनारायण पुरोहित (जोधपुरः राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, तृतीय संस्करण २००६), १:३१६.

३२. नागरीदास, नागरीदास ग्रन्थावली, पदेतर रचनाएँ, संपा. किशोरीलाल गुप्त, (वाराणसीः नागरीप्रचारिणी सभा, १६५५), २:३६३.

३३. श्यामलदास, वीरविनोद (मेवाड़ का इतिहास), द्वितीय भाग (दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास, १६८६, उदयपुरः राज यन्त्रालय, उदयपुर, प्र.सं. १८८६), १:२५.

३४. मीरां बृहत् पदावली, १:४३.

३५. मीरां बृहत् पदावली, संपा. कल्याणसिंह शेखावत (जोधपुरः राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, १६७५), २: ८२.

३६. श्रीभक्तमाल (श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका-कवित्त सहित), ७१३.

३७. सुखसारण, मीरांबाई री परची, परम्परा, भाग-६६-७०, ४७.

३८. रिपोर्ट-मरदुमशुमारी राज मारवाड़ १८६१ ई. -राजस्थान की जातियों का इतिहास एवं रीतिरिवाज (जोधपुरः राजस्थानी ग्रन्थागार, २०१०), ४४० एवं गोपालसिंह मेड़तिया, जयमलवंश प्रकाश (बदनोर (मेवाड़) का मेवाड़ का इतिहास), २:४२५.

३६. मीरां बृहत् पदावली, २: ४८.

४०. हुकुमसिंह भाटीः मीरांबाईः ऐतिहासिक और सामाजिक विवेचन (जोधपुरः रतन प्रकाशन, १६८६), २०.

४१. मीरां बृहत् पदावली, १:१६८.

४२. श्रीभक्तमाल (श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका-कवित्त सहित), ७२१.

४३. नागरीदास ग्रन्थावली, २:३६४

४४. जयमलवंश प्रकाश (बदनोर (मेवाड़) का मेवाड़ का इतिहास), २:४२६

४५. नगेंद्र, विजेंद्र स्नातक, संपा. हिन्दी भक्ति रसामृत सिंधु - श्री रूप गोस्वामी विरचित मूल ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद तथा दीपिका सहित (दिल्लीः हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६३), १०.

४६. श्रीभक्तमाल (श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका-कवित्त सहित), ७२२.

४७. 'हरजस' पश्चिमी राजस्थान में मेघवाल जाति के गायकों द्वारा रात्रि जागरण के दौरान गाए जाते हैं। यह अंश विख्यात लोक गायक पदमाराम के गाए हुए एक हरजस में से लिया गया है।

४८. 'मीरांबाई का जीवन चरित्र,' द्वारिका परिचय (प्राचीन तीर्थ भूमि के अर्वाचीन दर्शन) संपा. भरत सी. सुखपरिया, प्रदीप आर. माधवाणी एवं गिरीश वी. गणात्रा (द्वारिकाः रवि प्रकाशन, प्रथमावृति-गुजराती २००४, प्रथमावृति-हिन्दी २००५), ७९.

४९. रसिकलाल पारीख, गुजरात का राजकीय और सांस्कृतिक इतिहास (मुग़ल काल), १३८-१४० (प्रकाशन विषयक जानकारी नष्ट हो गयी है।).

५०. मीरां बृहत् पदावली, १:१६

५१. जेम्स टॉड, पश्चिमी भारत की यात्रा, हिन्दी अनु. गोपालनारायण बहुरा (जोधपुरः राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, द्वितीय संस्करण १९९६), ४४२.

५२. 'मीरांबाई का जीवन चरित्र', द्वारिका परिचय, ८०.

५३. ठाकुर चतुरसिंह, 'मीरां प्रकरण,' परम्परा (विद्याभूषण हरिनारायण पुरोहित), भाग-६३-६४, ७०.

५४. श्री भक्तमाल (श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका-कवित्त सहित), ७२२.

५५. नागरी दास, नागरीदास ग्रन्थावली, २:३६५.

५६. मुंशी देवीप्रसाद, मीरांबाई का जीवन चरित्र, २६ और गौरीशंकर ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, ३६०.

५७. राणीमंगा भाटों की बही (मारवाड़ का रनिवास), १६.

५८. 'मीरांबाई का जीवन चरित्र,' द्वारिका परिचय, ७९.

५९. मुंशी देवाप्रसाद, मीरांबाई का जीवन चरित्र, २६.

६०. सी.एल. प्रभात, मीरांः जीवन और काव्य (जोधपुरः राजस्थानी ग्रन्थागार, १९९९), १:१५३.

६१. हरमन गोएट्ज़े, मीरा बाईः हर लाइफ एण्ड टाइम्स (मुम्बईः भारतीय विद्या भवन, १९६६), ३३.

६२. फ़्रांसिस टैफ़्ट, 'इल्युजिव हिस्टोरिकल मीरांबाई- ए नोट,' ३२४.

६२. नाभादास, श्रीभक्तमाल (श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका-कवित्त सहित), ७१२.

६५. ध्रुवदास, 'भक्त नामावली,' श्रीभक्तमाल (श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका-कवित्त सहित), ७१३

६६. नाभादास, श्रीभक्तमाल (श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका-कवित्त सहित), ७१४.

६७. राघवदास, राघवदासकृत भक्तमाल-चतुरदास की टीका सहित (जोधपुरः राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, १९६५), ९९.

६८. चौरासी वैष्णन की वार्ता (नाथद्वाराः श्री विद्याविभाग, नाथद्वारा, १९७०, सम्वत् २०२७), १०९, १४०, २३९.

६९. दो सौ बावन वैष्णन की वार्ता, (मुम्बईः खेमराज श्रीकृष्णदास, अध्यक्षः श्रीवेंकटेश्व प्रेस, १९९६), ८०, १३०.

७०. नागरीदास 'पदप्रसंग माला,' नागरीदास ग्रन्थावली, ३६३.

७१. ब्रह्मदास, चारण ब्रह्मदासजी दादूपंथी विरचित भगतमाल (जोधपुरः राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, १९९७), १३ एवं ४८-४९.

७२. पाठ सी.एल. प्रभात द्वारा मीरांः जीवन और काव्य (जोधपुरः राजस्थानी ग्रन्थागार, १९९९) पृ. ६७ पर उद्धृत किया गया है।

७३. वही, ६२.

७४. सुखसारण, 'मीरांबाई री परची,' परम्परा, संपा. नारायणसिंह भाटी, भाग-६९-७० (जोधपुरः राजस्थानी शोध संस्थान), १७.

७५. पाठ सी. एल. प्रभात द्वारा मीरांः जीवन और काव्य में पृ. ६९ पर उधृत किया गया है।

७६. फ़्रांसिस टैफ़्ट, 'इल्युजिव हिस्टोरिकल मीरांबाई- ए नोट,' ३२४.

७७. जॉन स्ट्रेटन हॉली, भक्ति के तीन स्वर, १२८.

७८. ललिताप्रसाद सुकुल, 'पदावली परिचय,' मीरां स्मृति ग्रन्थ, संपा. सकलनारायण शर्मा, ललिताप्रसाद सुकुल आदि (कलकत्ताः बंगीय साहित्य परिषद, १९४९), झ.

७९. वही, झ.

८०. परशुराम चतुर्वेदी, 'मूल प्रस्तावना,' मीराँबाई की पदावली (जोधपुरः राजस्थानी ग्रन्थागार, संस्करण २०११, मूल संस्करण १९७२), ४.

८१. वही, ४.

८२. जार्ज ग्रियर्सनः भारत का भाषा सर्वेक्षण, भाग-१, अनु. उदयनारायण तिवारी (लखनऊः उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, तृतीय संस्करण १९५९), १:२६.

८३. वही, ५९.

८४. वही, ३९.

बूझती अंगुलियाँ-४

जगदीश स्वामीनाथन

अँग्रेज़ी से अनुवाद : अखिलेश

करिया और बाघ

परधानों का एक छोटा-सा गाँव है पाटनगढ़, जो मण्डला के डिंडोरी घाटी की पहाड़ी पर बसा है। यहाँ के लहराते भू-दृश्य कई परिदृश्य बनाते हैं और आप एक जादुई ज़मीन में प्रवेश करते हैं। पहाड़ी के ऊपर से आप देख सकते हैं चारों तरफ फैली ज़मीन, हरे पीले भूरे रंगों के टुकड़े दूर क्षितिज तक दिखाई देते हैं, एक गोलाई लिये हुए तश्तरी जिसके पीछे से पूरब में सूर्य उगता है और पश्चिम में डूबता है। यहाँ से आप पूरी पृथ्वी देख सकते हैं, जो कि निश्चित ही चपटी है उसके चारों ओर और किसी तरल पदार्थ में तैरती पहाड़ियाँ और घाटियाँ। एल्विन पाटनगढ़ में लम्बे समय तक रहे और शादी भी की। उनकी पत्नी का भाई, *साहिबा* यहाँ गाँव का पंच है। पाटनगढ़ जनगण सिंह का घर भी है, एक युवा परधान कलाकार जो जन्मजात विलक्षण है, रेखांकन-चित्रकला और शिल्पकला में वहाँ झोपड़ी की दीवारों पर उसके द्वारा बनायी गयी चित्रकृतियों को देखा गया था। यह उससे पहली मुलाकात थी।

जनगण साधारण कलाकार नहीं है, चित्रकला की किसी भी पारम्परिक रीति या शैली में। वह सिर्फ़ प्रतिमा नहीं बनाता, वह मौलिक और नयी राह निकालने वाला कलाकार है, उसने नया परिदृश्य रचा है। सम्भवतः जिसके समानान्तर गोंड और परधान कला में कुछ नहीं है, गोंड या परधान के बीच देवी-देवता के चित्र बनाने की कोई परम्परा नहीं है, अवसरों पर विभिन्न देवी-देवताओं के लिए विविध सादे चौक बनाये जाते थे, देवी-देवताओं को सुचित्रित नहीं किया जाता था। इस चौक से छलाँग लगाकर वह देवी-देवताओं को उनके शारीरिक रूप में लाने के लिए असाधारण प्रतिभा दिखलाता है। बड़ादेव, फुलवारी देवी, खैरगढ़िया देव, थाही देव, मसवासी देव, हनुमान, मेढ़ोंकी माई, महरालिन देवी, मरा देव, महादेव, नारायण देव, भैंसदेव, रातमाई मुरखुड़ी या अन्य, उसने इन सबको व्यक्तिगत चरित्र और सजीव चेहरा दिया। ये किन्हीं भी अर्थ में नहीं कहे जा सकते कि इनका उद्‌गम हाट या बाज़ार में मिलने वाले हिन्दू देवी-देवताओं के कैलेण्डर चित्र हैं, जैसा कि सौंरा चित्र इसके दृष्टान्त है। भले ही तात्कालिक सन्दर्भ उपलब्ध नहीं हों, यह निष्कर्ष निकालना अनिवार्य है कि ये चित्र आदिवासी स्मृति के गहरे अवकाश से बनाये गये हैं, उनकी सुस्पष्ट प्रामाणिकता ही बतलाती है कि वे किसी भी तरह से संयोग से उल्लेखित नहीं हैं, इस अर्थ में उन्हें निश्चित रूप से गोंड कला की परधान अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। सभी में एक चीज़ जो तत्काल ही देखने योग्य है कि सभी के चरित्र वैचारिक हैं; उन्हें यथार्थवादी ढंग से नहीं बनाया गया है। कल्पना की सच्चाई से देवता वास्तविक हो उठे हैं।

जनगण अपनी कला में जो लीला करते हैं उसके समानान्तर कोई नहीं है, तो भी ऐसा लगता है कि ये जलमग्न परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं। फुलवारी देवी की आकृति को देखें, आकृति के कन्धे से ऊपर के भाग को देखें, सिर को दो मोटी समानान्तर रेखाओं से बनाया गया है, इस तरह एक-दूसरे के विपरीत रखा गया है मानो चेहरा कड़े बालों के भीतर से उभरा हो, वे अपनी सम्मोहित करने वाली निर्निमेष दृष्टि के साथ कई आड़ी-तिरछी रेखाओं से प्रकट होते हैं। सिर के नीचे बाँहें हैं, शरीर और पैर चित्रित हैं, मोटी घुमावदार समानान्तर रेखाओं से पैर गुँथे हुए हैं और बाँहें शाही मुद्रा में ऊपर उठी हुई हैं। रेखाएँ न सिर्फ़ आकृति की ज़रूरत को पूरा कर रही हैं, वे आकार को भी रचती हैं। इन रेखाओं का अनवरत प्रवाह ही उनका संसर्ग, उनका असम्बद्ध आवर्तन आकृति के अनुरूप हो जाता है और जीवन का अर्थ अर्जित कर लेता है। जनगण प्रभावशाली संपूरक रंग इस्तेमाल करते हैं हरे और लाल, गुलाबी और पीले, रेखाओं के थर्राने वाले तनाव को मज़बूत करते हुए। बूढ़ादेव भी कुछ-कुछ इसी तरह की रेखाओं के प्रयोग से बनाया गया है जबकि दूसरों में बिन्दु क्वाण्टम की तरह सपाट रंगों की सतह पर फैलते हुए रेखा का स्थान ले रहे हैं। रंगों, रेखाओं और बिन्दुओं के इस्तेमाल से भगवानों और देवी-देवताओं का पूरा देवालय सृजित हैं एक विशाल झाँकी की तरह जनगण की आन्तरिक जादुई दुनिया इस तरह परधान और गोंड की दुनिया भी है।

एक सच्चे परधान गायक की तरह जनगण न सिर्फ़ आदिवासी विद्या और गीतों से भरा हुआ है, न सिर्फ़ वह ये जानता है कि देवी-देवता अपनी शक्तियों का इस्तेमाल प्रकृति और मनुष्य के ऊपर, उन्हें रूप देने के लिए कर रहे हैं, बल्कि वह प्रचण्ड रूप से अपनी धरती की वनस्पति की प्रकृति से भी परिचित है। वह चित्रित करता है पेड़, झाड़ियाँ, चिड़िया और जानवर, रंगों और रेखाओं के सशक्त उन्मुक्त इस्तेमाल से जो सिर को चकरा देता है। चचान पक्षी पर्याप्त परिचित है फिर भी नये आलंकारिक गौरव में ठाठ से प्रगट होता है; चीतल एक चक्करदार लाल पिण्ड है और पीले ब्रश-आघात गति को जकड़े हुए हैं; वृक्ष ऊँचे उठते हैं और अपनी शाखाएँ नीचे फैला देते हैं, पन्ने-सी हरि पत्तियाँ चमक रही हैं; चिरपुटी वृक्ष जिससे बया चिड़िया का घोंसला लटका है और एक साँप पेड़ की शाखा की तरह दिख रहा है, जो चिड़िया को देख रहा है; एक गिरगिट कठेली वृक्ष की शाखा पर खतरनाक ढंग से बैठा हुआ कौतूहल वश मकड़ी के जाले को देख रहा है : वृक्षों की और चट्टानों की और जंगल की भावनाएँ, समस्त प्रकृति अपने को व्यक्त करते हुए जनगण की कला की दुनिया में बस जाती है।

चित्रकला के प्रति उसकी असाधारण प्रतिभा के अलावा जनगण दीवारों पर उभरी हुई नक़्क़ाशी करते हैं और मिट्टी की प्रतिमाएँ बनाता है, जनगण द्वारा बनाया गया भित्तिचित्र जिसमें हनुमान अशोक-वाटिका में सीता को राम की अँगूठी दिखा रहे हैं अपनी अभिव्यक्ति की किफ़ायत के अभ्यास का उल्लेखनीय उदाहरण है। राक्षस अपनी विकरालता के प्रतीक में नीचे एक पंक्ति में बैठे हैं जबकि सीता, जिसका चेहरा विषाद के आत्यन्तिक गहन विश्लेषण की तरह गढ़ा गया है, बैठी है पेड़ पर एक झूले में और हनुमान उसकी एक शाखा पर। इस तरह के भित्तिचित्र परधान और गोंड के बीच आमतौर पर नहीं पाये जाते हैं, ये लोग

अक्सर ज्यामितिक आकार बनाते हैं जिसमें जानवरों, चिड़ियाओं, पर्ण समूह आदि के सरलीकृत आकार होते हैं। जनगण द्वारा बनाया गया रामायण का वृत्तान्त गोंडों पर हिन्दू मिथ के व्यापक प्रभाव का उदाहरण है।

मिट्टी में जनगण की असाधारण रचना बाघदेव की आकृति है : यहाँ मानवरूपी बाघदेव अपने नंगे हाथों में पकड़े सुअर को खा रहा है; बाघदेव बाघ की तरह नहीं दिखता जैसा कि अक्सर ही कई गोंड और बैगा की लकड़ी की मूर्तियों में बनाया जाता है। जनगण बाघ और बाघदेव के बीच सूक्ष्म अन्तर कर देते हैं। बाघदेव एक देवता हैं, कैसे वह एक बाघ की तरह दिख सकते हैं।

यह दलील कि गोंडों द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले पारम्परिक रंग जनगण के रंग नहीं हैं, बचकानी है। गाँव-गाँव में पहुँच चुकी मौद्रिक अर्थव्यवस्था के फैलाव के साथ आदिवासी जीवन के सुदूर कोनों तक इनेमल रंग भी पहुँच गये हैं। मैं स्वयं इसका साक्षी हूँ। बस्तर में माड़ियाओं के स्मृति-खाम्ब और झाबुआ में भीलों की पत्थर की गाथाएँ भड़कीले इनेमल रंगों से पोती जाती हैं, सिर्फ़ वे जो आदिवासी संस्कृति को बन्द व्यवस्था की तरह देखना चाहते है, वे ही पारम्परिक सामग्री के इस्तेमाल पर ज़ोर देंगे। कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है, हालाँकि, जनगण द्वारा इस्तेमाल की जा रही सामग्री की पवित्रता नहीं है बल्कि उद्देश्य की पवित्रता इन सामग्रियों के पीछे है। जनगण की आदिवासी-विलक्षणता उसे उपलब्ध कराये रंगों के प्रकार आसानी से उसकी अनोखी दृष्टि की आवश्यकता पूरी करते हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि जनगण जो करता है वह सामान्यतः परधान और गोंडों द्वारा नहीं किया जाता और यह भी कि वह अपवाद है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह अपवाद है और इसी पर हमारा ज़ोर है : वह कई परधान गोंड देवी-देवताओं को चित्रात्मक रूप दे रहा है जो शायद पारम्परिक व्यवस्था में स्वीकृत नहीं है। उसका चित्रण प्रतिमाओं की आकृति नहीं है जिन्हें सामुदायिक व्यवहार के लिए दोहराया गया है। जैसे कि उसकी कलाकृतियाँ, सूत्रित अभिकल्पना जो दोहराव से परिष्कृत है किन्तु उस पर बिलकुल आधारित नहीं है। क्या उन्हें वास्तव में गोंड या परधान कला की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है? हाँ, वह एक विशेष कलाकार है जो आमतौर पर माने जा रहे विश्वासों को स्पर्शग्राह्य चाक्षुष अभिव्यक्ति दे रहा है, और इस तरह की अभिव्यक्तियाँ सामुदायिक सम्पत्ति बन जाती हैं।

गोंडों द्वारा किया जाने वाला अलंकार साधारण और सादगी भरा होता है। अपनी मिट्टी की झोपड़ियों की बाहरी दीवार के निचले हिस्से में पीले रंग की पट्टी पोतते हैं, लाल या काले जो घर को पूरी तरह गरिमा प्रदान करती हैं। अन्दर की दीवारों पर भित्तिचित्र बनाते हैं। एक किनार बनायी जाती है, अक्सर उलटे त्रिकोणों की लम्बरूप या क्षितिज के समानान्तर ज्यामितिक आकृतियों की होती है जो दीवार के किनारों के साथ चारों ओर चलती है, एक मोर या हिरन या पीपल पत्ता या मछली, इस आयताकार, जो किनार के अन्दर बनाया गया है, के भीतर बनाया जाता है। भित्तिचित्र गीली दीवार की मिट्टी में भूसा मिलाकर बनाते हैं और यह सब मिलकर झोपड़ी के भीतर एक जादुई वातावरण पैदा करता है। कभी-कभी रंगों का इस्तेमाल होता है, पीला, लाल और सफ़ेद इन रंगों का इस्तेमाल उत्तेजक प्रभाव पैदा कर देता है। प्रतीकात्मक तांत्रिक आरेखन यहाँ-वहाँ दिखाई देते हैं, जैसा कि सरगुजा के पाराडोल की राजगोंड सोनकुँवर के चित्र में है, जो

सार्वभौमिक समय बतला रहा है। या तो यह हिन्दुत्व का प्रभाव है या इसके विपरीत कुछ और भी माना जा सकता है। मण्डला, पाटनगढ़ के तीरथराम मरावी का एक भित्तिचित्र है जो खास भुतहा शक्ति लिए हुए है, एक उठे हुए समकोण के भीतर एक दूसरा समकोण है जिसका ऊपरी हिस्सा खुला है, एक वृक्ष नीचे के तल से ऊपर की ओर बढ़ रहा है, बीच में राक्षस या भूत जैसी आकृतियाँ पेड़ के दोनों ओर हैं, पूरा भित्तिचित्र एक सफ़ेद दीवार पर है और सफ़ेद पर सफ़ेद में एक प्रभावपूर्ण उपस्थिति है। नर्मदा, एक दूसरा परधान कलाकार और जनगण का दोस्त, का झुकाव जानवरों के चित्रण में है, उसे रंग और अलंकरण की जीवन्त समझ है और ऐसा नहीं दिखता कि वह अपने विषय को यथार्थवादी तरीके से सुलझाता है। उसके जानवर यथार्थवादी अभिव्यक्ति नहीं हैं बल्कि नर्मदा की कोरी कल्पना की दुनिया की उपज हैं। राजेन्द्रग्राम शहडोल के एक युवा गोंड कलाकार रोशनसिंह मरावी की कलाकृतियाँ भी बहुत आकर्षक हैं। मरावी के बारहसिंगा के पास शक्ति है और प्रागैतिहासिक गुफा चित्र का प्रभामण्डल भी है, मरावी के चित्र प्रभावशाली अवसाद की भावना से अनुप्राणित हैं, जबकि जनगण के चित्र जीवन्तता के अर्थ से चिह्नित हैं। रोशनसिंह का गाँव अवाक् करने वाला दृश्य प्रस्तुत करता है, लहराती हरी-भरी पहाड़ियों के बीच मौजूद इस गाँव में सजावट और सफाई का भाव बहुत प्रबल है, जो स्पष्ट दीखाई देता है। झोपड़ी के भीतरी आँगन की सफ़ेद पुती दीवारों पर एक काला समकोण सिमसिमा रहा है जो दूसरे काले समकोण के मध्य में रखा गया है और वहाँ एक पीला विभाजित वृत्त उत्कीर्ण है। यह भित्तिचित्र पवित्रता का उत्कृष्ट भाव पैदा कर रहा है, जिस पर परम्परा की छाप भी लगी हुई है। इन घरों के झुण्ड में एक से दूसरी दीवार से लेकर अनेकों दीवारों पर ऐसे भित्तिचित्र देखे जा सकते हैं। यहाँ कलाकारों की अभिव्यक्ति किफायती है, सामग्री, मिट्टी और गोबर को इस्तेमाल करने का अनुभव है, पर्यावरण की समझ है, आध्यात्मिक अवकाश की रचना इन कलाकृतियों में महसूस होती है।

गोंड भित्तिचित्रों में सामान्य तौर पर पाया जाने वाला अनुकल्प त्रिकोण है, जिसे पैनल में विपरीत दिशाओं में डालकर इस्तेमाल किया गया है, दीवार की किनारी की तरह या कभी चौपड़ की आकृति में, जो सृजन के पुरुष-प्रकृति सिद्धान्त का प्रतीक है तथा अमूर्त ज्यामितिक आकल्पन पीले लाल काले या गहरे नीले रंग में, जो गोंड झोपड़ी की मितव्ययता को मांगलिकता प्रदान करता है।

सृजन के सिद्धान्तों का पुरुष-प्रकृति उर्वरता का यह प्रतीक गोंड विवाह-स्तम्भ मंगरोही खाम्ब में भी पाया जाता है। चटकीले रंगों से पुता और लकड़ी में तराशा गया यह खाम्ब, उर्वरता का प्रतीक होने के साथ बुरी नज़रों को दूर रखने के लिए भी है। इसे अक्सर शादी के मण्डप में कार्यक्रम के बाद वहीं अनाश्रित छोड़ दिया जाता है। विभिन्न ऋतुओं के बीच। बाद में पास की किसी नदी में विसर्जित कर दिया जाता है। एल्विन इसी तरह की किसी मानवरूपी मंगरोही की नक्काशी से टकराये थे, जिसका फोटो उनकी 'द ट्राइबल आर्ट ऑफ़ मिडिल इंडिया' नामक किताब में छपा है। इस तरह की मंगरोही रूपी नक़्क़ाशियाँ हालाँकि अब दुर्लभ हो गयी हैं। आमतौर पर यह लकड़ी का साधारण-सा कल्पना किया हुआ खाम्ब रेतघड़ी की आकृति

की तरह, हरे और लाल रंग से पुते हुए उलटे पिरामिड नक्श की तरह होते हैं। कभी-कभी खम्बे के शिखर पर लकड़ी का क्रास तोतों के साथ लगाया जाता है, जो चारों दिशाओं को दर्शाते हैं। ये खाम्ब आमतौर पर गाँव का बढ़ई बनाता है, कभी-कभी गोंड स्वयं भी बनाते हैं। इनका इस्तेमाल अक्सर बैगाओं, भूमिकर भुईंया के द्वारा भी किया जाता है।

इस तरह की आकृतियाँ, सच कहा जाये तो शायद सिन्धु घाटी सभ्यता से सम्बन्ध रखती हैं और लगता है गोंड-स्मृति में अटक गयीं हैं। जीवन के उन तमाम उतार-चढ़ावों के बीच जिनसे ये लोग गुज़रे होंगे, जिनके ज़्यादातर सांस्कृतिक-लक्षण लुप्त हो गये और जो बड़ी हद तक हिन्दू धर्म की जातियों से प्रभावित हुए, जो इण्डो-आर्यन भाषा के भीषण आक्रमण के चलते बड़ी हद तक अपनी बोलियाँ भी खो बैठे। सबसे सादी अभिव्यक्ति भी शायद निश्चित ही गाढ़ा निहितार्थ रखती है और वे जो दे रहे हैं, उससे ज़्यादा पाने की कोशिश करना हमारी भूल होगी। इन लोगों की कलात्मक परम्पराओं को गरीबी या अमीरी के सन्दर्भ में परखा जाये, यह बहस की जा सकती है कि हम आदिवासियों की कला को समझने के लिए अपनी संवेदनशीलता को बीच में ला रहे हैं और अधिकार से ज़्यादा उसमें घुस रहे हैं। फिर भी कला में हमारी प्रतिक्रियाएँ पैदा करने की शक्ति है और यह हमारे घमण्ड की पराकाष्ठा ही होगी कि हम यह माने कि आदिवासी कलाकार में परिष्कार की कमी है, यह सकारात्मक भाव नहीं होगा।

एल्विन ने इस पर ध्यान दिया कि मूड़िया घोटुल की दीवारों पर चित्र बनाते थे, फिर भी यह हिस्सा परम्परा का नष्ट हो गया है, घोटुल संस्था के नष्ट होने के साथ-साथ लुप्त हो गया। बस्तर, नारायणपुर, गढ़बेंगाल गाँव के बेल्गूर, शंकर और पिसाडू मूड़िया चित्रकार आज हमारे साथ हैं। बेल्गूर के चित्रों में पूरी आकृति बाघ, हिरन, माड़िया युगल, रंगों के बिन्दुओं से रचे गये हैं, एक निराला आकारहीन स्वरूप उसे प्रदान करते हुए। उसके बनाये जानवर स्वप्नलोक के निवासी हैं। बेल्गूर के चित्र पेमा फत्या के चित्रों के बरक्स स्पष्ट अन्तर रखते हैं। पेमा फत्या, भील जिसके चित्र प्रबल रूप से रेखीय हैं और जनगण, परधान जो रंगों के प्रशंसात्मक सम्वाद का इस्तेमाल सपाट रंगक्षेत्र में करता है। शंकर बिन्दुओं और हल्के ब्रश-आघातों, दोनों का इस्तेमाल करता है, उसके उल्लू, तितलियाँ, मछली और अन्य जानवर क्षणभंगुर चरित्र पाते हैं। शंकर का एक उल्लेखनीय चित्र है जिसमें बेन्द्री और उसका बच्चा चौक से बाहर कूदकर आ रहे हैं। बेन्द्री के चारों पैर उसके बच्चे के चारों पैरों के साथ रस्सी से बँधे हैं। हल्के वक्रीय ब्रश आघातों से चित्रित यह आकृति काग़ज़ की सतह पर स्थिर नहीं है बल्कि ऐसा लगता है कि वह उससे धीरे-धीरे बाहर निकल रही है। यद्यपि शंकर ने चित्र में किसी अन्तर्निहित महत्त्व को सामने नहीं रखा है, उसके लिए बेन्द्री और उसके बच्चे का चौक से बाहर आना, बाहर आना ही है। बगैर किसी जादुई प्रयोजन के इसमें अद्भुत जादुई शक्ति है। पिसाडू भी अपने चित्र बिन्दुओं से बनाता है जिनमें बेजोड़ काव्यात्मक गुण है। यह नहीं कहा जा सकता कि इन चित्रों का कोई धार्मिक या आनुष्ठानिक महत्त्व है, ये महज सजावटी भी नहीं हैं, किन्तु कला के उच्चतम मानदण्डों की अभिलाषा रखते हैं। पुनः इन मूड़िया कलाकारों के कामों से बिल्कुल

भिन्न सरगुजा के पण्डों के भित्तिचित्र हैं। वे अमूर्त ज्यामितिक आकारों की एक उत्साही चित्र-यवनिका बुनते हैं। खड़िया, गेरू और पीली मिट्टी के इस्तेमाल से (सफ़ेद, लाल और पीली मिट्टी से)। इनकी विषमता जो आकृति के पूर्ण सन्तुलन को सम्भाले हुए है, गीत और सजीवता का अनुभव सृजित करती है। सरगुजा के रजवार भी अमूर्त भित्तिचित्र मिट्टी की दीवारों की भूरी रंग सतह पर सफ़ेद रंगों से बनाते हैं। यह पुनः रेखीय ज्यामितिक आकृतियाँ हैं जिन्हें स्वतंत्रता और आवर्तन के विशिष्ट अनुभव से बनाया जाता है। रजवारों में एक विलक्षण कलाकार सोनाबाई हुई हैं जो अपने बचपन से देवी-देवताओं, जानवरों, चिड़ियाओं तथा दीवारों पर मिट्टी के भित्तिचित्र बनाती हैं। उसकी झोपड़ी एक सम्पूर्ण संग्रहालय है जहाँ कला अपनी उत्कृष्टता में देखने के लिए प्रस्तुत ही नहीं है बल्कि रहने के लिए एक धड़कता हुआ वातावरण प्रदान करती है। रजवार और पण्डों के कामों से अलग रायगढ़ के नगेसिया के चित्र हैं। जो कि कह सकते हैं कि ऑस्ट्रेलियन आदिवासियों की एक्स-रे कला के सादृश्य हैं। नगेसिया आकृति के बाहरी आकार को ही चित्रित नहीं करते हैं बल्कि आन्तरिक अंगों को भी प्रगट करते हैं, जो अन्यथा आँखों से छुपे रहते हैं।

करिया बैगा एक समय हिरण का शिकार कर रहा था (जिन दिनों शिकार सम्भव था) अमरकंटक के घने जंगलों में जहाँ महानदी नर्मदा का जन्म होता है, अपनी घबराहट में उसने पाया कि वह हिरण का नहीं बल्कि शेरनी का पीछा कर रहा है जो अपने बच्चों के साथ थी। वह अपना जीवन बचाने के लिए भागा और एक पेड़ पर चढ़ गया। करिया बैगा ने यह कथा एक काग़ज़ पर शेरनी का चित्र बनाते हुए सुनायी। वह अपने समुदाय का प्रतिभाशाली कलाकार है जो कबीर चौतरा के पास रहता है। जो शेर उसने बनाया वह उल्लेखनीय है, उस खूँखार जानवर से भिन्न जिससे उसकी जंगल में मुठभेड़ हुई थी। जैसी हम अपेक्षा करते हैं, शेर की उग्रता दर्शाने के बजाय जो करिया ने बनाया वह बहुत ही रूपात्मक चित्र है। शेर का शरीर पार्श्व चित्र की तरह बनाया है जबकि चेहरा सामने की ओर मुड़ा है। रेखीय तर्क जोरदार ढंग से लागू किया गया है। रेखांकन यथार्थवादी हुए बगैर निस्सन्देह शेर का है। शरीर को यथार्थवादी पट्टियों की तरह नहीं चित्रित किया गया है बल्कि आड़ी एवं खड़ी रेखाएँ जो चित्र शरीर क्षेत्र को काट रही हैं, से चित्रित किया गया है, इसके भीतर बिन्दुओं से रचा गया है। चेहरा अण्डाकार है जिसमें ऊपर-नीचे दो अर्ध-वृत्त बने हैं। जिसमें दो छोटे वृत्त आँखों के लिए हैं और आपके सामने सुस्पष्ट शेर है जो तुम्हें घूर रहा है। मैंने करिया से पूछा कि उसने एक खूँखार शेर क्यों नहीं बनाया? उसने कहा, उग्रता जानवर की एक अवस्था है, जबकि उसने जानवर को बनाया है। करिया का हाथ सधा हुआ है और अपनी एक अदा है। शेर के शरीर का चित्रण बहुत कुछ बिलासपुर के लकड़ी के बाघदेव पर किये गये काम के सादृश्य है जो किसी शैलीगत परम्परा की तरफ इशारा है। इस तरह के शेर प्रायः अब और चित्रित नहीं किये जाते हैं यह एक अलग विषय है। करिया कहता है कि वह रेखांकन करना एवं चित्र बनाना पसन्द करता है, और व्यंग्यपूर्वक कहता है : अब तुम कहाँ चित्र बना सकते हो जब तुम इस बात के लिए आश्वस्त नहीं हो कि तुम्हारी झोपड़ी को वनरक्षक जंगल में बनी रहने देगा। करिया अपने समुदाय की कलात्मक परम्परा का एक अन्य विश्वस्त

व्यक्ति है तथा बैगा चित्र परम्परा के नये विकास का सम्भवतः अग्रदूत। १९५१ में बहुत पहले एल्विन ने कहीं टिप्पणी की है कि, असम के बाहर भारतीय आदिवासी कला धीरे-धीरे लुप्त हो रही है कि यह कुछ सालों के अन्दर ही विस्मृति के गर्त में जाने के लिए अभिशप्त है। छत्तीस वर्षों के अन्तराल के बाद यह स्थिति निश्चित ही बदतर हुई है। स्वतंत्र भारत सरकार के सदाशयी उद्देश्य के बावजूद भी आदिवासी कला का संरक्षण करने के लिए बहुत योग्य नहीं हुआ है। भित्तिचित्र, अलंकरण, दरवाज़े की नक्काशियाँ आदि जिन्हें एल्विन ने दर्ज किया था अब कभी-कभार ही गोंड या बैगाओं में पाये जाते हैं। बदलाव के इस सन्दर्भ में जिसमें से ये समुदाय गुज़र रहे हैं हमें उनके कलात्मक संघर्ष देखने को मिलते हैं एवं नये सांस्कृतिक रीति-रिवाजों के आविर्भाव की सम्भावना नज़र आती है। इस अर्थ में करिया बैगा जैसे लोगों ने महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा हासिल की है। करिया बैगा ने बड़े-बड़े पैनल्स चित्रित किये हैं जिसमें शिकार-दृश्य रचे हैं तथा उसके क्षेत्र की वनस्पतियाँ भी। यदि पहाड़ी कोरबा के रेखांकन पशु-परियोजना के झुण्ड को दर्शाते हैं जिसमें आदिवासी निश्चित खेतीबाड़ी तथा सम्भावित पशुधन को स्वीकार कर रहा है, यह विषय-वस्तु है। करिया बैगा के जानवरों के चुनिन्दा प्रस्तुतीकरण सम्भवतः गायब हो गये शिकारी जीवन के प्रति मोह का प्रदर्शन है। करिया बैगा के रेखांकन शहडोल के बैगा लामा लपसू से अलग हैं। लपसू का हाथी का चित्र, घोड़ा, मुर्गा एवं एक मानव-आकृति में प्रागैतिहासिक शैलाश्रय भीमबैठका का स्मरण कराने वाली अ-दक्ष शक्ति है। इसी योजना से बनाया गया घोड़े का रेखाचित्र, दो त्रिकोणों को जोड़ते हुए जिसके शिखर पर खड़ी मानव-आकृति है, जैसा हम वारली रेखाचित्र में देखते हैं, सौंरा के चित्रों में या भीलों के भित्तिचित्रों में है वैसा लामा के चित्रों में पाया जाता है। यह परावर्तन लगता है तथा लगता है बैगा बाहरी सांस्कृतिक प्रभावों से कम अनुकूलित हैं बजाय अपने पड़ोसी मण्डला और शहडोल जिले के गोंडों से।

...

बधिया बैल और महालिंगी घोड़ा

आदिवासी मिथ का सबसे ज़्यादा लुभावनी अभिव्यक्ति पिठौरा है, जो भीलों, भिलाला और राठवा के बीच बड़े आनुष्ठानिक महत्त्व का है। यह हमें कुछ-कुछ आश्चर्य में इस तरह डालती है कि यह आनुष्ठानिक भित्ति चित्र अपने में अनूठा है, वस्तुतः हम आदिवासियों के बीच मिथक के उदाहरण की तरह चित्र नहीं देखते हैं और भील सामाजिक नृतत्त्व शास्त्रीय साहित्य में कोई जिक्र नहीं पाते हैं। ज्योतिन्द्र जैन सम्भवतः पहले हैं जिन्होंने पिठौरा का गम्भीर अध्ययन किया, जो गुजरात१ के बड़ौदा जिले के पाँच महल के राठवाओं के बीच चित्रित किया जाता है। जैन ठीक ही कहते हैं कि एक स्तर पर यह चित्र मिथ को दर्शाता है, किन्तु दूसरे स्तर पर चित्र खुद ही एक ज़िन्दा मिथ है - सृजन का मिथ, पिठौरा का और इंड का।

पिठौरा एक आनुष्ठानिक भित्तिचित्र है, जिसे उर्वरता की देवी पिठोरो को शान्त करने के लिए भीलों, भिलाला और राठवा मध्यप्रदेश के धार और झाबुआ क्षेत्रों में बनाया जाता है। यह अगस्त माह में राखी के

त्योहार के तत्काल बाद घर के अन्दर की दीवार पर बनाया जाता है। चूँकि यह एक लम्बा और महँगा कार्यक्रम है जिसे समुदाय का हरेक सरोकारी सदस्य नहीं कर सकता है। इसे सामान्यतः किसी की मानता के पूरे होने पर या मानता के माँगे जाने पर बारी-बारी से भरपूर खेती के लिए, भौतिक समृद्धि के लिए और वंश परम्परा के प्रसारण के लिए बनाया जाता है। पिठौरा चित्रकार कुछ ख़ास होते हैं, कुछ वंशानुक्रम से आते हैं और कुछ अपने स्वाभाविक रुझान के कारण, जिन्हें धार, झाबुआ के क्षेत्र में लखिन्दरा के नाम से जाना जाता है। पेंटिंग की शुरूआत एक विस्तृत कर्मकाण्ड से होती है और सामान्यतया विषय-वस्तु और पात्र एक से हैं। रूपांकन में अलग-अलग क्षेत्रों और अलग-अलग सम्प्रदायों में भिन्नताएँ हैं, उसकी व्याख्या और उसके प्रस्तुतीकरण दोनों ही में। उल्टा क्रम या मिथ में तब्दीली दिखाई देती है, जैसे-जैसे वह समुदायों और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र से गुज़रता है जिस पर हम बाद में चर्चा करेंगे। किन्तु एक साफ-साफ दिखने वाला फ़र्क़ यहाँ पर नोट किया जा सकता है कि कुछ पिठौरा में घोड़े एक दूसरे की तरफ मुँह करके चित्रित हैं, और कुछ दूसरों में वे एक शोभा यात्रा की तरह चित्रित हैं। यह भी है कि भीलों के बीच चित्रित किये जाने वाला पिठौरा सम्भवतः अपनी शैली में सादगी भरा और आदिम है, जबकि भिलाला और राठवा में सजावटी और अलंकारिक है।

आयताकार हाशिया, जो बीच में नीचे जाकर खुलता है, एक दरवाज़े की तरह दीवार पर चित्रित किया जाता है। पेमा फात्या, भील लखिन्दरा झाबुआ के भावरा गाँव से एक चित्रकार जो ज़बरदस्त प्रतिभाशाली है, के अनुसार पिठौरा में चित्रित किये जाने वाले प्रमुख चरित्र इस तरह हैं :

१. बाबा गणेश : इसे आयताकार के बायीं तरफ नीचे के कोने में बनाया जाता है। यह काले रंग से बनायी जाने वाली पहली आकृति है जो हुक्का पी रही है और हिन्दू गणेश के साथ इसकी कोई साम्यता नहीं है।

२. कथिया घोड़ा : इसे ऊपरी बायें हाथ के कोने में काले रंग से चित्रित किया जाता है। यह एक घोड़ा है घुड़सवार के साथ, जिसे कथिया कुँवर कहते हैं और जो अन्य सभी देवी-देवताओं और लोगों को पिठौरा अनुष्ठान के लिए आमंत्रित करता है।

३. चन्दा बाबा, सूरज बाबा, तारे : इसे नीचे सीधे हाथ पर जहाँ पिठौरा खुला है वहाँ चित्रित किया जाता है। चन्द्रमा दूज का चाँद है, सूरज गोलाकार पिण्ड है किरणों के साथ।

४. सरग (आसमान) : यह चाँद और सूरज के पास चित्रित किया जाता है कुछ असमान लकीरों से।

५. जमीं माता : यह चाँद और सूरज के पास एक आयताकार की तरह चित्रित किया जाता है जो कई हिस्सों में बँटा है, धरती माँ को दर्शाता।

६. देशी भाबर : यह ग्राम देव है जो दो घोड़ों द्वारा जिसे साईस पकड़े हुए है, दर्शाया जाता है। घोड़े छोटे बिन्दुओं द्वारा घिरे हैं, जो सफ़ेद रंग में उनकी रौनक को बढ़ाता है।

७. पिठौरा बाबजी : इसे दो घोड़ों द्वारा जिसे साईस पकड़ा है, देशी भाबर के ऊपर चित्रित किया जाता है।

८. रानी काजल : इसे घोड़ी अपने बच्चे के साथ के द्वारा दर्शाया जाता है।

९. हघरजा कुँवर : जंगल का राजा काले घोड़े से प्रदर्शित।

१०. बारह माथ्या : सफ़ेद रंग से चित्रित किया जाता है जिसके दिया-सलाई जैसे सिर होते हैं। जिसे राजा रावण की तरह भी जाना जाता है।

११. मेघानी घोड़ी : इसे दो सिरों वाली घोड़ी से दर्शाया जाता है। एक आसमान में अपने मालिक की तरफ देख रही है, बारिश का देवता बादल और दूसरी चर रही है।

१२. नाहर (बाघ) : इसे नीचे के खुले द्वार पर बनाया जाता है।

१३. हाथी : हाथी को बाघ की तरफ मुँह किये काले रंग से चित्रित किया जाता है, जिस पर सिन्दूरी पालकी है। हरा बामन अन्दर बैठा हुआ चित्रित किया जाता है।

१४. पानी वाली : दो स्त्री आकृतियाँ पानी लाने वाली हाथी के नज़दीक चित्रित की जाती हैं।

१५. बावड़ी : एक कुँआ, नीचे खुले द्वार के नज़दीक चित्रित किया जाता है।

१६. साँप, बिच्छू, भिश्ती : इन्हें कुए के नज़दीक चित्रित किया जाता है।

१७. बन्दर : बन्दरों की एक क़तार काले रंग आयताकार के ऊपरी कोने में चित्रित की जाती है।

१८. पोपट (तोता) : पिंजरे में हरे रंग का तोता चित्रित किया जाता है।

अन्य प्रमुख चरित्र हैं- छिनाला, संभोगरत युगल, सुपर कान्या, बड़े कानों वाला आदमी, एक टाँग्या,- एक पैर वाला आदमी, हाँड्या, बैल, जो हर गाँव में है गायों को उर्वर करने के लिए। इसके अलावा मोर, खरगोश, हिरण, चीतल, भालू, उल्लू, शिकारी, ताड़वृक्ष और कुछ घोड़ों को भी चित्रित किया जाता है।

जैन कहते हैं कि ''चित्रित मिथ की आनुष्ठानिक प्रामाणिकता, विश्वसनीयता बहुत ज़्यादा कलात्मक सोच-विचार पर आधारित नहीं है बल्कि अवधारणा के पुख्ता और सम्पूर्ण और चित्रण पर है और प्रतिमा निर्माण की शुद्धता के अनुष्ठान पर।''[1] एक दृष्टि ये यह हालाँकि सच हो सकता है, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि मिथ अन्ततः एक चाक्षुष भाषा में चित्रित है और इस तरह सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष की अनदेखी नहीं की जा सकती है। पिठौरा भित्तिचित्र को कला की तरह बरतने के लिए, उसे मिथ के चित्रण या अनुष्ठान के अभ्यास के अलावा कुछ और भी होना होगा। यह याद रखना होगा कि आदिवासी कला के सभी क्षेत्र मिथ, अनुष्ठान, जादुई और धार्मिक कर्मकाण्डों से बँधे हैं। किन्तु यह ज़्यादती होगी कि कला को अन्य साधनों के

द्वारा सिर्फ़ आशय के अभिप्राय में घटा दिया जाये। तात्त्विक विषय-वस्तुओं से वंचित इस तरह के प्रकटीकरण सिर्फ़ प्रतिमा रह जाती हैं और फिर कला की तरह पहचाने जाने योग्य नहीं बचतीं।

जो भी हो, पिठौरा को किसी निश्चित रूपरेखा के साथ बनाया जाता है और पिठौरा के घर में चित्रित चरित्र और अन्य आकृतियों का चित्रण अधिकतर व्याख्यायित है। चित्र निश्चित ही उसके अपने खातिर नहीं बनाया जाता है, किन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया है, उसका प्रामाणिक अनुष्ठानिक महत्त्व है।

पिठौरा के अनुष्ठानिक महत्त्व को देखने पर यह साफ हो जाता है कि इसका चित्रण उर्वरता और समृद्धि की देवी-देवताओं के आव्हान के लिए किया गया है। चित्र बनाते वक्त कुछ ख़ास अनुष्ठान और रस्मी तौर-तरीके महत्त्वपूर्ण हैं और पुजारी, बड़वा, घर धानी, चित्रकार खुद और समुदाय के लोग सभी की कुछ निर्दिष्ट भूमिकाएँ हैं और नृत्य, और ढोल बजाना और सामूहिक भोज इस सम्पूर्ण अनुष्ठान के अंग हैं।

पिठौरा की कहानी जो पेमा फत्या और भाभरा के भील बड़वा ने सुनायी वह मूलतः ज्योतिन्द्र जैन के हेकल और त्रिपाठी के द्वारा दर्ज किये गये वर्णन से भिन्न है, जिसका हवाला उन्होंने दिया हैः पेमा फत्या के वृत्तान्त के अनुसार, पिठोरो इन्दीराजा का बेटा है। पिठोरो के सभी भाई शादीशुदा है जबकि पिठोरो अकेला है। एक बार समुदाय के लोगों की सभा थी और मेहमानों को पान पेश किया गया। पिठोरो के भाइयों ने नहीं लिया और पिठोरो ने बिना सोचे उसे ले लिया। लोगों ने यह सोचा कि यह गलती से हुआ और एक बार फिर उसकी परीक्षा लेने के लिए पान पेश किया गया। पिठोरो ने फिर ले लिया। इस अभद्रता पर यह फैसला सुनाया गया कि पिठोरो अपने काले घोड़े पर बैठकर हिमालय पर्वत पर जाये और वहाँ से हिमालय की बहिन को लेकर आये। पिठोरो चिन्तित था क्योंकि वह नहीं जानता था कि बर्फ़ और ठण्ड से कैसे बचा जाये, जो उसकी पर्वत की यात्रा में उसे झेलना होगा। जब घर की स्त्री सदस्यों ने यह जानना चाहा कि वह कहाँ जा रहा है, उसने सिर्फ़ कहा कि वह यात्रा पर जा रहा है और यदि वह न लौटे तो उसे मरा समझा जाये। इन्दी राजा की बेटी ने पिठोरो पर जोर डाला और पिठोरो ने उसे बताया कि उसे सजा सुनायी गयी है। इन्दी राजा के बेटी ने कहा कि हिमालय की बहिन से डरने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि वह उसके पिता की बेटी है। फिर उसने पिठोरो के काले घोड़े से इस तरह कहा : तुम मेरे देवता को हिमालय पर्वत पर ले जा रहे हो। सावधानी रखना और उन्हें सुरक्षित वापस लाना। फिर वह काला घोड़ा लड़की की पूजा की थाली के सामने अपने पिछले पैरों पर खड़ा हो गया और लड़की ने उसके माथे पर तिलक लगाया। पिठोरो सुरक्षित हिमालय पर्वत पर पहुँचा जहाँ उसे लेनदार मिला जो अपनी उधारी लेने आया था। पिठोरो ने उसे अपनी अँगूठी दी जिस पर हिमालय की बहिन ने उसे पहचान लिया और उसे राजसी सम्मान दिया गया। रात में, वहाँ जबकि एक ही बिस्तर था, पिठोरो और हिमालय बहिन दोनों को उस पर सोना पड़ा। पिठोरो ने उनके बीच एक तलवार रख ली और कहा कि यदि वह उसकी तरफ मुड़ेगी तो वह मर जायेगी और यदि वह मुड़ेगा तो उसका भी यही हश्र होगा। यह परीक्षा थी, यदि पिठोरो ने हिमालय बहिन के साथ सहवास करने की कोशिश की तो वह मारा जायेगा। सुबह हिमालय बहिन को यह बोध हुआ कि उसकी बहिन ने पिठोरो

को रहस्य ज़रूर बतलाया होगा जिससे कि वह बच गया। पिठोरो फिर हिमालय बहिन के साथ घर वापस लौट आया जिस पर इन्दीराज और उसके भाइयों ने पिठोरो को कहा कि वह भाग्यशाली व्यक्ति है जो उसने जान लिया कि हिमालय बहिन उसकी बहिन है अन्यथा वह बच नहीं सकता था, क्योंकि किसी ने भी उसके सुरक्षित वापस आने की आशा नहीं रखी थी। इसके बाद इन्दी राजा और देशी भावर (ग्राम देवता) ने घोषणा की कि आगे से सभी किसानों को अपना नया अनाज और भोज उसे देना होगा और इसी के बाद दूसरे खा सकेंगे। उन्होंने कहा कि अब तुम्हारा स्थायी निवास घरों की दीवारों पर है जबकि हम सब बाहर जंगल में रहेंगे।

जैन के वर्णन के अनुसार, पिठोरो काली कोयल की नाजायज संतान है जिसे रानी काजल ने बड़ा किया है। दोनों इन्दीराजा की बहिनें हैं, इस तरह इन्दीराजा पिठोरो का चाचा हुआ न कि पिता। हेकल के वर्णन में इन्दीराजा और भान्जा पिठोरो एक बार जंगल से जा रहे थे और रास्ते में उन्हें एक विधवा का मकान मिला। वे घर के अन्दर गये और रबड़ी खाने लगे। विधवा ने सोचा कोई कुत्ता घर में घुस आया है और चिल्लायी : 'भाग जा कुत्ते, तेरी चिता की लकड़ियाँ तुझसे पहले पहुँचे।' डर के मारे इन्दीराजा ने अपने को बर्तन में छुपा लिया और पिठोरो ने खुद को दीवार में छुपा लिया।

इन दोनों वर्णन में दीवार पर पिठोरो का अधिकार स्वीकृत है। जैसा भी हो भाभरा के भील वर्णन में पिठोरो ने यह अधिकार एक परीक्षण से गुज़रने के बाद प्राप्त किया और राठवा के वर्णन में यह संदिग्ध रूप से हासिल किया गया। यहाँ पिठौरा विजेता नायक नहीं है, जैसा कि भील कथा में है।

हम पिठोरा के चित्रित वर्णन पर विचार करते हैं। गुजरात सीमा के इस तरफ भील और भिलाला चित्रों में, घोड़े एक दूसरे की तरफ मुँह किये चित्रित किये जाते हैं एक पंक्ति में नहीं। किसी भी देवता का चित्रण नहीं होता है और उनको सिर्फ़ घोड़ों के द्वारा प्रतीक रूप में चित्रित किया जाता है। जबकि गुजरात के राठवा चित्रों में बाबा इन्द को छोड़कर, सभी को घोड़ों पर सवार आकृति के रूप में चित्रित किया जाता है। भीलों के वर्णन में, ज़्यादातर घोड़े सफ़ेद से चित्रित किये जाते हैं जबकि राठवा में वे रंगीन हैं। भील वर्णन में बाबा इन्द या इन्दीराज को नहीं चित्रित किया जाता है जबकि राठवा में वह घोड़े की तरह चित्रित किया जाता है।

एक समुदाय से दूसरे समुदाय में मिथ जाने पर उसमें आये बदलाव और उलट फेर पिठोरा के चित्रित वर्णन में साफ देखे जा सकते हैं।

यह जानना महत्त्वपूर्ण होगा कि पिठोरा चित्र बनाने का अभ्यास राजपूत शासकों से राठवा और भिलाला तक आया और फिर भील तक या इसके उलट हुआ। दूसरे शब्दों में, पिठोरा अपनी जड़ें पुरातन काल में जमाये है या यह इधर के तात्कालिक इतिहास से उत्पन्न हुआ है, भिलाला द्वारा राजपूतों से उठा लिया गया और भीलों द्वारा उधार लिया गया या उन्हें दिया गया। यह दर्ज करना दिलचस्प होगा कि झाबुआ

और धार के भीलों के बीच पिठोरा के चित्रों में मूलभूत शक्ति है और ऊँचे स्तर के अलंकरण का अभाव है, जो भिलाला और राठवा के चित्रों में पाया जाना है। भील पिठोरा में घोड़े का चित्रण बहुत ही साधारण युक्ति जिसमें दो आड़े त्रिकोणों को मिलाकर किया जाता है जिसके शिखर पर मानव आकृति उसी तरह से खड़े रूप में दर्शायी जाती है, भिलाला और राठवा पेंटिंग में घोड़े और सजावटी आभूषणों के अलावा आकृतियाँ ज़्यादा यथार्थवादी ढंग से कल्पित की जाती हैं। इन क्षेत्रों के भील पिठोरा में और भिलाला में भी बायें से दायें ओर जाते हुए घोड़ो के जुलूस नहीं दिखाये जाते हैं। जैसा कि राठवा पिठोरा में होता है। किन्तु घोड़े दिशाओं से आते हैं और मध्य में पिठौरा में मिलते हैं जिन्हें सईसों ने पकड़ा हुआ है। जैन यह स्थापना करते हैं कि राठवा पिठौरा में यह शोभा यात्रा राजपूत शासकों के दशहरे की शोभा यात्रा से लिया गया है।

धार और झाबुआ के भीलों के पिठौरा में उत्कृष्ट सादगी और अभिव्यक्ति की किफ़ायत है। उनमें प्रागैतिहासिक शैलाश्रय रेखांकनों और वर्ली जैसी आदिवासी समुदायों के द्वारा किये जाने वाले भित्ति रेखांकनों जैसी आदिम शक्ति है, मीणा, बैगा और उड़ीसा के सौरा के चित्रों से भी मिलती है। भिलाला पिठौरा, ख़ासतौर पर जब हम गुजरात के रथ क्षेत्र में पहुँचते हैं, वे अलंकारिक हो जाते हैं, जैसा कि रामसिंह छेदला जो एक चुनौता गाँव का भिलाला चित्रकार है के काम से प्रमाणित है। राठवा पिठौरा, निश्चित ही बहुत ही आलंकारिक और रंगीन है। क्या यह सम्भव है कि मिथ झाबुआ और धार के भीलों के बीच उत्पन्न हुई हो और फिर राठवाओं तक पहुँची हो और राजपूतों के प्रभाव से इस बीच शैलीगत अलंकारिकता हासिल कर ली हो? राठवा पिठौरा *धारनी धरती* को निर्दिष्ट करता है, धार की भूमि और राजा भोज जो धार का शासक था।

ज्योतिन्द्र जैन प्रस्तावित करते हैं कि *बाबा इन्द* या इन्दीराज वैदिक समय के इन्द्र देवता हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बाबा देव या *बाबा इन्द* भीलों, भिलाला और राठवा के उर्वरता के धार्मिक रिवाजों से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण देवता हैं। *बाबा इन्द* का सम्प्रदाय का वैदिक रीतियों के साथ समीप का समानान्तर रिश्ता है और जैसा कि जैन के द्वारा बतलाया गया है जिस पर विचार करना चाहिए। ''कि यहाँ बहुत सारे इन्द्र के पौराणिक सम्प्रदाय फैले हुए हैं और कुछ कृषि देवता, बहुत से खेतीय अनुष्ठानों से सम्बद्ध हैं और इन सम्प्रदायों का वर्णन वेद, सूत्र, पुराणों आदि में मिलता है; ठीक एक राठवा की तरह का, यह सब पौराणिक सम्प्रदायिक परम्परा के वंशज हैं।'' जैन फिर प्रश्न उठाते हैं, फिर भी यदि इन्द का यह सम्प्रदाय राठवाओं द्वारा अमल किया जाता है। जिसे एक पौराणिक परम्परा माना जाता है। राठवाओं का इस सम्प्रदाय से कितना पुराना सम्बन्ध है। इस प्रश्न का उत्तर 'जैसा वे कहते हैं' एक दूसरे प्रश्न से जुड़ा हुआ है : कि राठवा कितने समय से खेतीबाड़ी कर रहे हैं। कृषि की पिछड़ी तकनीकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह व्यवसाय तुलनात्मक रूप से नया ही है, हालाँकि यह निश्चयात्मक ढंग से नहीं जाना जा सकता है। और दूसरी तरफ इन्द, कृषि देवता के पूजा की केन्द्रीयता खेती, अनुष्ठान और मिथकों का बड़ा हिस्सा जो उनसे सम्बद्ध है यह नहीं दिखलाता की कृषि उनके पास बाद में आयी थी। यह सम्भवतः यह ऐसा है

कि कुछ खेतीय अनुष्ठानों को तुलनात्मक रूप से जल्दी ही स्वीकार कर लिया गया हो, उन्हीं लोगों से जिनसे उन्होंने खेतीबाड़ी करना सीखा। इन्द्र का सम्प्रदाय अब लगभग धर्म ग्रन्थीय हिन्दूवाद किसी पौराणिक समय में विलुप्त होता जा रहा है, किन्तु देखा जा रहा है कि वह गाँव के स्तर पर और आदिवासियों के बीच रहा है। राठवाओं ने सम्भवतः यहाँ से कहीं इसे स्वीकार किया है, यह इस पर निर्भर करता है कि उन्होंने कब और किससे खेती करना सीखा है।"[२] यह निश्चित ही सही नहीं होगा कि हम भील और राठवा के खेती के पिछड़े तरीकों पर जो उनका हाल ही में अपनाया हुआ व्यवसाय है पर समाप्त करें। कई आदिवासी समुदाय अपने बहुत ही प्रारम्भिक अल्प विकसित खेती के तरीकों से सदियों से चिपके हैं, कुछ जो हल का भी इस्तेमाल नहीं करते, उनके लिए वे धरती माँ की छाती पर घाव नहीं करना चाहते हैं। इस तरह फिर भी, यह मान लेना ठीक ही होगा कि भील और राठवा निश्चित ही बहुत पुराने समय से अल्पविकसित कृषि का रूप अपनाये हुए थे। यहाँ मुश्किल इस बात की है कि इन्द्र सम्प्रदाय को इन्द्र की तरह पहचाना गया है। यह भी संकेत मिलता है कि भील और राठवा ने खेती करना वैदिक आर्यों से सीखा और उसके साथ ही इन्द्र सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया या कि उन्हें वैदिक आर्यों द्वारा अधीन कर लिया और इन्द्र सम्प्रदाय उन पर थोप दिया गया।

भील कहा जाता है कि वे यहाँ के सबसे पुराने लोग हैं, द्रविड़ियन से भी पुराने। बी.सी. लॉ कानून इसकी पृष्ठभूमि इस तरह बतलाता है : बाद की संहिता में ब्राह्मण और निषाद पहली बार उल्लेखित हुए। शब्द निषाद 'किसी ख़ास जनजाति को नहीं दर्शाता था, बल्कि यह एक सामान्य शब्द था जिसे अनार्य जनजातियों के लिए इस्तेमाल किया जाता था, जो कि शूद्रों की तरह आर्यों के आधिपत्य में नहीं थे...' (वैदिक इण्डेक्स, खण्ड-१, पृ.-४५३)... वाजसनयी संहिता (xvi, २७) में भाष्यकार महेन्द्र व्याख्या करते हैं कि भील या भिल्ला का अर्थ एक जनजाति, जो अभी भी मध्य भारत की पहाड़ियों में रहती है और विन्ध्य अंचल... महाकाव्य के समय में व्याख्यायित और पौराणिक परम्परा में ऐसा लगता है कि निषाद के अपने रहवासी क्षेत्र हैं, वे पहाड़ियाँ जो झालवाड़ और खानदेश की सीमा तय करते हैं, विन्ध्य और सतपुड़ा पहाड़ी शृंखला में। महाभारत के एक सन्दर्भ से यह सिद्ध होता है कि सरस्वती के क्षेत्र में निषाद राष्ट्र था पश्चिमी विन्ध्य में जो कि परिपत्र[३] से बहुत दूर नहीं है। एन्थ्रोवन के अनुसार भील शब्द पहली बार गुणाढ्य के प्रसिद्ध कथासरित्सागर में आता है जहाँ पर भील सरदार एक दूसरे राजा का विन्ध्य में घुसना रोकता है... रामायण, वाल्मीकि, स्वयं भील था, जिसकी कलम से इस महान महाकाव्य का जन्म हुआ, में भी भीलों के कई सन्दर्भ मौजूद हैं, जिसका नाम - वालिया[४] - था। वेंकटाचार्य के अनुसार : ''यह सामान्य तौर पर मान लिया गया है कि भील शब्द द्रविड़ियन शब्द जो धनुष के लिए प्रयुक्त होता है - विल्ला - जो कि जनजाति के एक अस्त्र है, से निकला है। प्राचीन तमिल कविगण इस शब्द का इस्तेमाल द्रविड़ियन पूर्व कुछ जंगली लोगों के लिए विल्लवार (धनुषधारी) करते थे।..."[५]

निषादों को वर्ण व्यवस्था के चौहद्दी से बाहर का माना जाता है। स्वतंत्रता का भरपूर पालन करने वाले और आत्मविश्वास से भरे, इन लोगों के लिए यह मानना मुश्किल होता है कि भीलों ने वह भी अपनी धार्मिक आस्थाओं के केन्द्रीय तत्त्व के रूप में वैदिक इन्द्र सम्प्रदाय को अपनाया होगा। यह भी सोचना मुश्किल है कि इन्द्र पंथ की शुरूआत भीलों से हुई और बाद में वैदिक पद्धति द्वारा अपना लिया गया। इन्द्र इण्डो-आर्यन की वैदिक देवताओं के सबसे प्राथमिक देवताओं में से एक हैं। अभी भी भील बाबा इन्द्र सम्प्रदाय को मानते हैं और ज्योतिन्द्र का शोध इस अर्थ में विश्वसनीय लगता है। निस्सन्देह यह सम्प्रदाय काश्तकारी कला को एक श्रद्धांजलि है किन्तु हल के फाल के सम्मान में झुकते हुए, घोड़े को नहीं भुला है।

ऐसा लगता है कि भीलों की ज़िन्दगी में घोड़ा केन्द्रीय महत्त्व रखता है। मिट्टी और टेराकोटा के बने घोड़े मुख्य रूप से लगभग सभी जादुई, धार्मिक और अन्य उत्सवों के अवसर पर मन्नत के लिए चढ़ाये जाते हैं और उनके अवशेष पेड़ों के चारों ओर बिखरे और भील भूमि में हर तरफ देवताओं के सामने देखे जा सकते हैं। गाथा, स्मृति खाम्ब में जो मृतकों के लिए बनाया जाता है, घोड़ा बनाना ज़रूरी है और पिठौरा में प्रमुख आकृति घोड़ों की ही है।

नाईक द्वारा दी गई भीलों की दुनिया की उत्पत्ति की कहानी में एक सन्दर्भ आता है जिसमें एक स्त्री घोड़े के साथ संभोग कर रही है : बलाती पानुत, पारोप देव की पत्नी भगवान की कृपा से एक दिन होली को जन्म देती है, फिर होली के नर्तकों को और फिर ढोल बजाने वाले और बाँसुरी वादकों को। इन सबके पैदा होने के बाद गाना गाने वाले, दीवाली, बोहोन, गामती देवी, नीलो नान्दरबो और जात्रा बिम्ब को जन्म देती है। इसके बाद उसके गर्भ से आगे जानवर पैदा होते हैं - शेर, भालू और बाकी सब। राजा पंथा और बीना देव आते हैं और इनमें से बहुतों की जोड़ी बनाते हैं पति और पत्नी की तरह निरन्तर रहने के लिए।

जब दुनिया का जन्म हुआ और ये प्राणी उसमें रहने लगे, मनुष्यों के रहने के लिए यह उपयुक्त नहीं था। चारों तरफ राक्षस थे और कोई मनुष्य मात्र, कोई मवेशी नहीं था, हिंगोटी न ही अनाज, कानी; और आगे भी वहाँ के निवासी कॉकरोच और मेंढकों को खाते थे। स्वच्छन्द काम-सम्बन्ध फैल रहे थे; औरतों में किसी तरह की शालीनता नहीं थी; और वे घोड़े के साथ भी संभोग में शामिल हो जाती थीं। माताएँ खेतों में काम करने जाती थीं और पिता बच्चों को रखते थे। लकड़हारे इतने मूर्ख थे कि वे जिस डाल पर बैठते थे उसे ही काटते थे। मुर्गों की जगह बच्चे, भैंसों की जगह आदमियों को देवताओं की बलि चढ़ाया जाता था। कुछ आदमियों के कान इतने बड़े थे कि वे अपना पूरा शरीर ढक लेते थे और कुछ हिस्सों में रहवासी नरभक्षी थे। इस तरह की असहनीय स्थितियाँ माता पंढर और दो देवता राजपंथा और बीनादेव द्वारा ठीक की गयीं। माता पंढर मोर का रूप धारण करके दूधा गवली के क्षेत्र में गयीं और अपनी जान जोखिम में डालते हुए चोंच में कुछ ज्वार के दाने भर लायीं और उन्हें अपने पिता के देश में बो दिया। उसके बाद वह देश सालभर समृद्ध धन-धान्य से पनपने लगा। दो देवता उद्धार के मिशन पर लग गये। अपनी आसामान्य शक्तियों के प्रभाव से वे इस अजीब देश के लोगों से अपनी बुरी आदतों को छोड़ने के लिए कहते और उन्हें

अच्छी बातें सिखलायीं। इसके परिणामस्वरूप स्वच्छन्द शादियों की जगह गोत्र में शादियाँ होने लगीं। नर बलि की जगह बकरे, मुर्गी या अण्डों की, और मेंढक की जगह मछलियों को खाने की शुरूआत हुई। लोग समझदार और बहादुर हो गये और नया संसार पनपने लगा।[६]

काने कहते हैं अश्वमेघ यज्ञ ऋग्वेद के वर्णन से भी पुराना है और इस यज्ञ की एक विधि यह भी है कि राजा की बड़ी रानी बलि दिये जाने वाले घोड़े के साथ सम्भोग करे।[७] क्या यह रीति पहले की विधानों की अनुगूँज नहीं हैं? भीलों की उत्पत्ति के पारम्परिक वर्णन में घोड़े का महत्त्वपूर्ण वर्णन पाया जाता है :

एक पारम्परिक वर्णन यह कहता है कि एक धोबी, जो अपने कपड़े नदी में धोता था, को एक मछली ने एक दिन चेतावनी दी कि महाप्रलय आने वाला है। मछली उसके प्रति कृतज्ञ थी क्योंकि वह उसको और दूसरे समूह को चारा खिलाता था। उससे कहा गया कि वह एक बड़ा बक्सा बनाये जिससे वह बचकर निकल सके। धोबी ने एक बड़ा बक्सा बनाया और उसमें अपनी बहन और मुर्गे के साथ बैठ गया और जब महाप्रलय आया, राजा श्रीराम ने अपने दूतों को राज्य में हालचाल पूछने के लिए पूछा। उनमें से एक ने मुर्गे की आवाज़ सुनी और इस तरह बक्से को खोजा। राम के सामने उसे लाया गया और धोबी से पूछा वह कौन है और कैसे बच निकला। धोबी ने अपनी कहानी सुनायी। राम ने उसे उत्तर, पूर्व और पश्चिम दिशा की तरफ चेहरा घुमाने के लिए कहा और कहा कि वह कसम खाये कि उसके साथ जो औरत है वह उसकी बहन है। राम ने फिर उसे दक्षिण की तरफ घुमाया जिस पर धोबी ने अपने पिछले वक्तव्य के विपरीत बयान दिया और कहा कि वह उसकी बीवी है।

राम ने उससे पूछा कि उसे भागने की सलाह किसने दी और यह सुनने पर कि वह मछली थी उसने उसकी जबान कटवा दी और उसके बाद से इस प्रकार की मछली जबान के बगैर होती हैं। राम ने फिर धोबी से कहा कि इस दुनिया को फिर से बसायो। इस तरह धोबी ने अपनी बहन से शादी की जिससे उसे सात लड़के और सात लड़कियाँ पैदा हुईं। राम ने पहले जन्मे बच्चे को एक घोड़ा भेंट में दिया, चूँकि इस उपहार को पाने वाला घुड़सवारी नहीं कर सकता था, उसने घोड़े को मैदान में छोड़ दिया और जंगल में लकड़ी काटने चला गया। वह और उसके वंशज जंगल में रहने वाले हो गये और इस तरह भील जनजाति की शुरूआत हुई।[८]

एक सन्दर्भ में जिक्र आता है कि नवीं शताब्दी में नन्दीवर्मा पल्लवमाल ने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसके सेनापति ने निषादराज पृथ्वी व्याघ्र को हराया, जो एक जगह से दूसरी जगह जाने वाले अश्वमेध के घोड़े की रक्षा कर रहा था।[९]

भील, भिलाला और राठवा जैसे वे आज रहते हैं, उस आर्थिक व्यवस्था में घोड़ा कोई प्रमुख भूमिका नहीं निभाता है, किन्तु यह साफ है कि दोनों, कालिक और ईश्वरीय शक्ति का प्रतीक है। इस अर्थ में यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि धोबी के मिथक में उसके बच्चे राम से घोड़े को उपहार स्वरूप नहीं लेते हैं। घोड़े

को स्वीकार करने से मना करना वह भौतिक स्तर पर करते हैं। उसके प्रतीकात्मक शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है : भील देवी-देवताओं को उसे मन्नत के रूप में चढ़ाया जाता है और भीलों के घरों में। पिठौरो में भी वह अपनी सुरक्षात्मक उपस्थिति दर्ज करता है। भीलों के लिए घोड़ा अश्वमेध का घोड़ा नहीं है जो कालिक शक्ति का जिम्मा लेता है, यह मिथकीय घोड़ा है, जो जीवन के मूल सत्त्व को प्रदर्शित करता है, जिसमें शक्ति है कि वह एक छलाँग में मनुष्य और देवताओं के बीच बँटी दुनिया के अवरोध को पार कर सकता है। भीलों के जीवन में इस तरह घोड़े की प्रासंगिकता निर्णायक है उस वक्त भी जब यह उनके आर्थिक जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाता है। घोड़ा एक साथ ही सहयोग और मुकाबला दोनों की स्थापना निषाद और इण्डो-आर्यन के बीच करता है।

तथ्य यह है कि घोड़ा भीलों के दिमाग को बैल के पहले से अधिकार में लिये है, जिसके टेराकोटा और मिट्टी की आकृतियाँ हिन्दू काश्तकार समुदायों की जातियों के बीच आमतौर पर मन्नत के लिए चढ़ाने वाली मूर्ति है, कारण यह तथ्य है कि भील काश्तकारी बहुत ही आदिम है और यह कि शिकार और पशुपालन करना उनके अर्थव्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस तरह घोड़े का प्रतीक भील मस्तिष्क के लिए उर्वरता और शक्ति के प्रतीक के तरह मौजूद है।

समुद्र मंथन, जो देवता और असुरों द्वारा किया जा रहा था, उच्चैश्रवा सफ़ेद घोड़ा अमृत के साथ ऊपर आता है जिसे बाली, असुर को दिया जाता है, देवता और असुरों के बीच में संघर्ष होने पर यह नहीं लगता कि, इन्द्र कुछ अच्छा कर पा रहे थे और निश्चित ही बाली उन्हें हरा देता है और उनके साम्राज्य पर क़ब्ज़ा कर लेता है, जो उन्हें घोड़े उच्चैश्रवा के साथ वापस मिलती है जिसे विष्णु (बामन अवतार) युक्ति से वापस प्राप्त करते हैं। बाली असुर होने के नाते निषाद भी हो सकता है, जो वर्ण-व्यवस्था की चौहद्दी के बाहर है।

यदि इन्द्र राजा वैदिक इन्द्र हैं और पिठौरा का आराधन मूलतः काश्तकार समुदाय का अनुष्ठान है, फिर क्यों घोड़ा प्रमुखता से पिठौरा और भील और भिलाला की कल्पना में मौजूद है? यह भी दिलचस्प तथ्य है कि हिन्दू जाति जो भील-भूभाग के आसपास रहती हैं वे लोग 'पिठौरी' उत्सव मनाते हैं। पिठौरी भी उर्वरता का अनुष्ठान है। कहानी इस तरह है कि एक समय आटपाट नाम का एक शहर था, जहाँ एक गरीब ब्राह्मण रहता था। उसके पिता के श्राद्ध पर जो श्रावण महीने का तेरहवाँ दिन था, जो कि अमावस्या थी, उसकी बहू ने एक बच्चे को जन्म दिया जो तत्काल ही मर गया - ठीक उस वक्त जब ब्राह्मण (श्राद्ध अनुष्ठान के लिए आमंत्रित) अपना भोजन खाने जा रहे थे उन्हें बगैर खाये घर छोड़ना पड़ा। यह लगातार छः सालों तक हुआ। जब यही घटना सातवीं बार घटी। यह क्रोधित ससुर। उसने मरे हुए बच्चे को अपनी बहू के हाथों में दिया और उसे घर से बाहर निकाल दिया। वह एक जंगल में गयी जहाँ उसे एक स्त्री मिली। उस स्त्री ने ब्राह्मण की बहू से पूछा कि वह कौन है, किस कारण से वह जंगल में आयी है और चेतावनी दी कि वह जल्दी ही जंगल छोड़ दे, नहीं तो उसका पति जो एक राक्षस था, उसे खा जायेगा।

ब्राह्मण औरत ने जवाब दिया कि वह अपने जीवन को ख़त्म करने ही आयी है। जब उस स्त्री ने आगे पूछा कि उसके इस निराशाजनक कदम उठाने का क्या कारण है, ब्राह्मण औरत ने अपनी पूरी कहानी सुना दी। जंगल की उस स्त्री ने उसे सान्त्वना दी और सलाह दी कि इसी दिशा में वह बढ़ती चली जाये जब तक कि उसे बेल के वृक्ष के नीचे शिवलिंग न मिले। उसने आगे सलाह दी कि वह बेलवृक्ष की शाखा पर रात को बैठ जाये। रात को देवकन्या और नागकन्या अपनी सात अप्सराओं के साथ वहाँ पूजा करने आयेंगी। पूजा के बाद वे भगवान को खीर-पूड़ी चढ़ायेंगी और पूछेंगी कि आसपास कोई भूखा है। फिर वह उसके बारे में विस्तृत जानकारी चाहेंगी। उसे अपनी पूरी कहानी उन्हें सुनाना चाहिए। ब्राह्मण औरत सलाह के अनुसार उस पेड़ पर बैठ गयी। रात में देवकन्या और नागकन्या अप्सराओं के साथ आयीं और उन्होंने पूजा की और नेवैद्य (खीर-पूड़ी) चढ़ाने के बाद उन्होंने पूछा कोई अतिथि है। तत्काल ही ब्राह्मण औरत उनके सामने चली आयी और पूरी कहानी सुनायी, जिसे सुनने पर अप्सराओं ने सातों मरे हुए बच्चों को रख दिया और उनमें प्राण फूँके। उन्होंने ब्राह्मण औरत को यह भी सलाह दी कि वह श्रावण के तीसवें दिन, अमावस्या, को हर वर्ष चौंसठ योगिनी की पूजा करे। यह उनके परिवार में धन-धान्य और खुशी लायेगी। ब्राह्मण औरत अपने बच्चों के साथ अपने घर लौट आयी जिसे उसके ससुर ने आवभगत के साथ रख लिया।

पिठौरी उत्सव के वक्त हिन्दू जाति की औरतें टेराकोटा का पोला बैल देवता को चढ़ाती हैं। यह भी हिन्दू जाति का उर्वरता का उत्सव है। हिन्दू औरतों द्वारा इस अवसर पर भित्तिचित्र बनाये जाते हैं। पिठौरी उत्सव श्रावण अमावस्या के दिन मनाया जाता है, झाबुआ क्षेत्र में पिठौरा आमतौर पर श्रावण पूर्णिमा के बाद चित्रित किया जाता है जबकि पिठौरी के दौरान भित्तिचित्र औरतों द्वारा बनाये जाते हैं, पिठौरा केवल आदमियों द्वारा बनाया जाता है। जबकि पोला बैल (बधिया बैल) पिठौरी के समय चढ़ाया जाता है। महालिंगी घोड़े पिठौरा में चित्रित किये जाते हैं और बैल की आकृति भी जो गाँवों की गायों को गाभन करता है। यदि भील वास्तव में काश्तकार थे, जिन्होंने इन्द्र के काश्तकारी उर्वरता के अनुष्ठान को स्वीकार कर लिया था, फिर क्यों महालिंगी घोड़ा उनके लिए इतने महत्त्व का है। वास्तव में, कई पिठौरों में घोड़ा स्त्री के साथ संभोग करता दर्शाया जाता है।[१०] भील और भिलाला में घोड़ा पौरुष और उमंग का प्रतीक माना जाता है, उर्वरता और शक्ति का। बधिया बैल शायद सच्ची फसल के जन्म का प्रतीक माना जाता हो। भील ऐसा लगता है कि वे घोड़े की उस शक्ति, जो प्रकृति ने उसे प्रदान की है, की बलि संस्कृति (खेतबाड़ी) पर नहीं देना चाहते हैं, जिसे लेविस्ट्रॉस दूसरी प्रकृति कहते हैं। वह कहते हैं ''एक क्रॉस समाज के बीच मौजूद मान्यता के ऊपर प्रमुख हो जाता है, जिसे मनुष्य ने कभी प्रकृति की तरह देखा है और अक्सर यह एक भ्रम की मौजूदगी ही होता है।''[११] घोड़ा यथार्थ है जिसे भील इसी भ्रम में सचाई मान बैठे और उसके प्रति वह अभी तक सहज नहीं हो सका है।

पिठौरा निश्चित ही सृजन के चित्रित मिथ हैं। दीवार पर उकेरा गया आयताकार, स्वर्ग और सूरज और चन्द्रमा की जगहें, भील जीवन से सम्बद्ध सभी चिन्ह यहाँ चित्रित हैं : शेर, हाथी, बकरियाँ, ऊँट; केले

का वृक्ष, ताड़वृक्ष, झाड़ियाँ, कीड़े-मकोड़े, बिच्छू, गिरगिट, मधुमक्खी के छत्ते; देवी-देवता और मिथ की आकृतियाँ, भीलट देव, बारा माथ्या या राजा रावण, सुपड़ कन्या और एक टाँग्या; धरती माँ और खेती करता किसान, मक्खन निकालती महिला और शिकारी; और इन सबके ऊपर प्रमुखता से चित्रित और केन्द्र में रखी गयी घोड़ों की आकृतियाँ, पिठौरो और देवी-देवता, जिन्हें या तो घुड़सवार की तरह घोड़े पर सवार दिखाया जाता है या घोड़ों द्वारा दर्शाया जाता है : घोड़ा उर्वरता और शक्ति का भण्डार है।

पिठौरा एक टेपेस्ट्री प्रस्तुत करता है जो कई स्तरों पर बुनी जाती है और भील चेतना की कई सतहें उसमें होती हैं। उसमें आदिम देवी-देवता अपने आडम्बरहीन जादुई शक्तियों के साथ मौजूद हैं, वहाँ मिथकीय आकृतियाँ हैं जैसे विचित्र एक टाँग्या, जो कहा जाता है कि उस लुप्त देश का वासी है जहाँ एक पाँव के मनुष्य थे, असाधारण विरोधाभासी बारह माथ्या जो वाल्मीकि की रामायण का रावण नहीं है; वहाँ सुपड़ कन्या है (सूप जैसे कान वाला व्यक्ति) जो सभी कहानियों को सुन रही है। उन कहानियों और गप्पों को जो दुनिया में पैदा हुईं; और वहाँ जानवर हैं और वृक्ष हैं और कई दूसरे चरित्र हैं। इस टेपेस्ट्री के कई अर्थ लगाये जा सकते हैं, किन्तु भील के लिए यह पवित्र है और इसलिए एक सौन्दर्यशास्त्रीय उपस्थिति है। देवी-देवता और अन्य चरित्र को उनके सम्बन्धों से जाना जाता है न कि उनकी व्याख्याओं से। यह टेपेस्ट्री पिठौरा पेंटिंग में ही जीवित हो उठती है, और कई लिखन्दरा अपने सृजन की विलक्षणता को अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं, उनमें से एक भाभरा गाँव के पेमा फत्या हैं जिनके चित्र की रेखाओं में कसाव है, रंगों में परावर्तन है और हास्य वृत्ति पर जोर है यह सब मिलकर पिठौरा को एक धड़कता हुआ यथार्थ प्रदान करता है और भीलों के निवास में एक ज़िन्दा उपस्थिति का अहसास कराता है। आस्था की वस्तुनिष्ठता प्रतिमाओं को कला में एक सार्वभौमिक प्रमाणिकता प्रदान करती है, अनुष्ठानों के बीच एक मानव आत्मा उसमें प्राण फूँकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

१. पेंटेड मिथ्स एंड क्रियेशन, आर्ट एंड रिचुअल ऑफ़ एन इंडियन ट्राइब, ज्योतिन्द्र जैन, ललित कला अकादमी, १९८४.

२. वही.

३. ट्राइब्स इन एशियंट इंडिया, बी.सी लॉ, भंडारकर ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, पूना, प्रथम संस्करण, १९४३.

४. द भील - ए स्टडी, टी.बी. नायक, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ, १९५६.

५. सी.एस. वेंकटाचार सेंसर ऑफ़ इंडिया १९३१ में, भाग-१, खण्ड-३, टी.बी. नायक द्वारा उद्धृत.

६. द भील्स - ए स्टडी, टी.बी. नायक.

७. धर्मशास्त्र का इतिहास, डा. पी.वी. काने, ए.सी. कश्यप द्वारा अनूदित, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ.

८. सेंसस ऑफ़ इंडिया १९६१, मध्यप्रदेश डिस्ट्रिक्ट सेंसस हैंडबुक, झाबुआ जिला.

९. धर्मशास्त्र का इतिहास, डा. पी.वी. काने, ए.सी. कश्यप द्वारा अनूदित, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ.

१०. पेंटेड मिथ्स एंड क्रियेशन, आर्ट एंड रिचुअल ऑफ़ एन इंडियन ट्राइब, ज्योतिन्द्र जैन.

११. द वे ऑफ़ द मास्क, क्लॉड लेवि-स्ट्रॉस, जोनाथन, केप, लंदन, १९८३.

चिन्तित बेन्द्री

जब असुरों और देवताओं द्वारा समुद्र मंथन किया जा रहा था, अमृत निकला। ब्रह्मा को नहीं पता था कि इसे कहाँ रखें। हर जगह बर्तन ढूँढ़ने में निष्फल रहने के बाद उन्होंने विश्वकर्मा का सृजन किया और उसे एक बर्तन बनाने को कहा। विश्वकर्मा ने एक कुम्हार को पैदा किया और उसे एक बर्तन बनाने को कहा। कुम्हार ने मिट्टी और ज़रूरी औज़ार माँगे। ब्रह्मा ने उसे मिट्टी दी और औज़ारों के लिए विष्णु के पास जाने को कहा। विष्णु ने उसे अपने चक्र का आधा हिस्सा दिया और कुम्हार ने बर्तन बनाया। कुम्हार अपने चाक को विष्णु का आधा चक्र मानते हैं। विष्णु चक्र अपने आप घूमता है, और कुम्हार के चक्र को हाथ से घुमाना होता है। नगरनार बस्तर के लीमधर कुम्हार ने यह कहानी अपने समुदाय की उत्पत्ति के सन्दर्भ में सुनायी।

मध्यप्रदेश की मिट्टी बहुत समृद्ध है और उसके टेराकोटा भी। कुम्हार न सिर्फ़ आदिवासियों के लिए घड़ा और अन्य बर्तन बनाते हैं वह उनके लिए टेरोकाटा के खिलौने और देवी-देवता भी बनाते हैं। सरगुजा के अलावा जहाँ वे अपने खुद के कबेलू बनाते हैं। आदिवासी शायद ही अपने टेराकोटा के देवी-देवता या मन्नत के लिए चढ़ाये जाने वाली वस्तुएँ बनाते हैं। कुम्हार हिन्दू जाति के सीढ़ी में बहुत नीचे हैं और आदिवासियों के नज़दीक रहते हैं। यह कहा जा सकता है कि उन्होंने आदिवासियों का जीवन दृष्टिकोण अपने जीवन में आत्मसात कर लिया है। जाति व्यवस्था में उनका शामिल कर लिया जाना उनसे आदिवासियों की विश्व दृष्टि को साथ-साथ साझा करना मुश्किल नहीं होने देता। मान्यता के लिए चढ़ाये जाने वाली टेराकोटा की आकृतियाँ जो वे बनाते हैं उनमें आदिम शक्ति है, निस्सन्देह आदिवासी मानस में इसकी जड़ें गहरी जमीं हैं। इस तरह आदिवासी कला पर विचार करते वक्त कुम्हारों के द्वारा बनाये जाने वाली वस्तुओं को इसमें शामिल किया जा सकता है।

भील मानस में घोड़ा एक महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है। टेराकोटा की घुड़ आकृतियाँ उनके देवताओं जैसे, भीलटदेव, रानी काजल, आदि को चढ़ायी जाती हैं। घोड़े की आकृति दोनों तरह से हाथ और कुम्हार के चाक से बनायी जाती हैं। सिर और शरीर चाक पर बनाया जाता है, वे खाली बेलनाकार हैं और उन्हें पैरों के साथ जोड़ दिया जाता है। खाली सिर और खाली शरीर घोड़े को अलौकिक पक्ष देता है; यथार्थवाद यहाँ नहीं लागू नहीं होता है और कुछ उदाहरणों में घोड़े का सिर उस जानवर से बिल्कुल ही नहीं मिलता है। हमारे पास निश्चित ही बाघ से आया सफ़ेद टेराकोटा का घोड़ा है, जिसका शरीर खोखला है और उसकी गर्दन और सिर घोड़े से मिलता-जुलता यथार्थवादी ढंग का है। कैथीवाड़ा क्षेत्र में बने टेराकोटा के घोड़े ज़्यादा अलंकारिक हैं, जिसमें अलंकरण ऊपर से जोड़ा गया है। इन घोड़ों को बड़ी संख्या में बनाया जाता है और

शायद इसमें व्यक्तिगत आकर्षण न हो, पारम्परिक आकार ही अपने में अवधारणात्मक रूप में पूर्ण है कि उसे सच्ची सौन्दर्यशास्त्रीय शक्ति और उपस्थिति मिल जाती है। घोड़ों के अलावा, टेराकोटा के भैंस, ऊँट भी मान्यता के रूप में चढ़ाये जाते हैं। भैंसा आर्थिक रूप से सोचा गया आद्य रूप है।

टेराकोटा का घोड़ा भी बस्तर की एक दूसरे आदिवासी समुदाय मूड़िया द्वारा मन्नत में चढ़ाया जाता है। यहाँ घोड़ा चाक पर नहीं बनाया जाता है और कई तरह के शैलीगत आकार कुम्हार की इच्छा के अनुसार बनाए जाते है। घोड़े घुड़सवारों के साथ भी बनाये जाते हैं और कहीं-कहीं घुड़सवार रोचक रूप से घोड़े के सिर में ही बना दिया जाता है, वह घोड़े का अंग बन जाता है। इस तरह वह दो सिरों वाला जानवर दिखायी देता है, एक घोड़े का सिर और दूसरा आदमी का। बस्तर के टेराकोटा समृद्ध हैं और भिन्न हैं। हाथी, बाघ, शेर, घोड़े और शीतला माता की आकृतियाँ और उसका परिवार और अद्‌भुत बेन्द्री बहुतायत और असाधारण कारीगरी से बनाये जाते हैं। क़िलेपाल का बाघ, बाघ से ज़्यादा लगता है, शायद ओझा ने बाघ का आकार लिया और उसके दुश्मन की आत्मा उसमें डाल दी।

बस्तर और छत्तीसगढ़ इलाकों में टेराकोटा की मन्नत के लिए चढ़ाये जाने वाली बेन्द्री विचित्र रूप से आकर्षक है। जबकि पास ही उड़ीसा में हम टेराकोटा के हनुमान पाते हैं यहाँ एक विचित्र बदलाव के रूप में यह मादा बन्दर में बदल गयी। हनुमान की टेराकोटा आकृतियाँ जो शक्ति को दर्शाती हैं, उसके विपरीत बेन्द्री में चिन्तामग्न और विषाद के पक्ष दिखाई देते हैं। इसे जोड़ दिया गया है उन दो हाथों से जो उसकी जाँघों से निकल रहे हैं और बेन्द्री की ठोड़ी अपने हथेलियों पर टिकी है। बेन्द्री भत्तरा, मूड़िया और बस्तर के हलवा लोगों द्वारा माथिया देवी को चढ़ावे के रूप में चढ़ाये जाने वाला शिल्प है। बेन्द्री क्या सोच रही है? उसकी चिन्ताएँ क्या हैं? मूड़ियाओं की भाषा गोंडी में हनु का अर्थ बन्दर है, और हनुमान प्राचीन देवताओं में से एक हैं, मादा बेन्द्री का यहाँ क्या महत्त्व है? बेन्द्री का आकार परम्परा द्वारा पवित्र किया गया है और एक ही मुद्रा में सभी कुम्हारों द्वारा अपनी शैलियों में बनाया जाता है। अपने दोहराव के बावजूद इस क्षेत्र में पाये जाने वाले टेराकोटाओं में यह सबसे ज़्यादा नाटकीय अभिव्यक्ति देता है जबर्दस्त कलात्मकश्शक्ति से थरथराता हुआ। जो भी इसका अनुष्ठानिक या सामाजिक महत्त्व हो। हमारे सामने बेन्द्री की पहेली पूरी तरह से कपड़े पहने कला की पहेली की तरह आती है। खिन्न बेन्द्री की तीखी तुलना में हाथी है जिसे दो बर्तनों को जोड़कर बनाया जाता है, एक बड़ा शरीर के लिए और दूसरा छोटा सिर के लिए सरगुजा और रायगढ़ के कुम्हारों द्वारा। यह हाथी अन्दर से खोखले हैं, जिसके ऊपर एक छेद और जिन्हें आदिवासी शादी के अवसर पर इस्तेमाल करते हैं। कुम्हार को हाथी में जितना चावल भरा जा सकता है उतना दिया जाता है, और इसलिए उनके बीच में यह प्रथा है कि वे जितना सम्भव हो सके उतना बड़ा बनायें। इन हाथियों में एक अनोखा हास्य दिखलायी देता है : कुछ जिनका बहुत बड़ा पेट है और छोटे चार पाँव और एक छोटी-सी सूँड और कुछ जिनकी बहुत बड़ी सूँड है और कुछ तो कहने को विविध अनादर करने वाले रूपाकार हैं। वे कई प्रकार के जानवरों की आकृतियों वाले और अलंकारिक कबेलू और कबेलू शिखर भी

बनाते हैं। गोंड और ओराव आदिवासियों द्वारा भी कभी-कभी कबेलू बनाये जाते हैं जो दोनों ही काम के लिए इस्तेमाल होते हैं सुरक्षा और अलंकरण। साँप का फन, शेर, चिड़ियाएँ, बैल, किसान हल लिए हुए जैसी आकृतियाँ उसमें जोड़ी जाती हैं। कबेलू शिखर के ऊपर मछली, चिड़िया और कभी-कभी कर्मा नर्तकों का समूह बनाया जाता है। ये कबेलू एक क़तार में लगाये जाते हैं और छत के किनारों पर कबेलू शिखर आदिवासी झोपड़ियों को अतुलनीय लालित्य प्रदान करते हैं।

सामान्य तौर पर टेराकोटा की आकृतियों में देवी-देवता नहीं दिखायी देते हैं, पाँचगाँव शहडोल के अघरवा बैगा द्वारा बनायी गयी महादेव की आकृति अप्रतिम आदिम शक्ति से भरी है, ठीक जैसे कि हरिसिंह बैगा द्वारा बनाया गया हाथी सवार। कच्ची मिट्टी और गोबर से बनाया गया हाथी विशालकाय दिखता है जैसे कि उत्पत्ति के जन्म के समय ही वह धरती से खुद का आकार ग्रहण कर रहा हो। मण्डला के पाटनगढ़ के जनगण परधान द्वारा बनायी पकी हुई देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उसकी अपनी कल्पना की उपज है : वे देवी-देवताओं के लिए बनाये जाने वाले चौक के चिन्तन से जन्म लेती हैं। बड़ादेव की टेराकोटा मूर्ति विचार में तल्लीन है और बाघदेव, अपने मानव आकार में शारीरिक शक्ति का साकार रूप है। जनगण बाघ और बाघदेव के बीच फ़र्क़ पैदा करता है। यद्यपि बाघदेव की आकृति लकड़ी में पायी जाती है, कुछ-कुछ बाघ को भी प्रस्तुत करती हुई, बैगा और गोंडों के बीच में, जनगण कहता है कि बाघदेव बाघ के समतुल्य नहीं हैं। बाघदेव के एक लोकोत्तर देवता है जो समय -समय पर मनुष्यों पर उतरता है और वह सिर्फ़ बाघ नहीं हो सकता जिसे शिकार कर मारा जा सकता हो। इसी तरह के विचार भील अविवाहित युवती द्वारा टी.बी. नायक को बतलाये गये। इन विनम्र कलाकृतियों के सृजनकर्त्ताओं को इन आकारों की संकल्पना की क्षमता निश्चित ही उल्लेखनीय है जैसा कि इन असीम आकारों से प्रमाणित है जिसमें वे रचते हैं अपने हाथी, बाघ, बैल, हिरण, घोड़े और चिड़ियाएँ। रायगढ़ कुकरी के सकलूराम कुम्हार का उल्लेखनीय टेराकोटा है जिसे मैं रौदा से क्षमा प्रार्थना के साथ, एक विचारक की तरह तुलना करूँगा।

गोंड और सौराज के द्वारा बनाये गये टेराकोटा के मुखौटे और कुम्हारों द्वारा बनाये गये जिसे आदिवासी कर्मा नृत्य के दौरान इस्तेमाल करते हैं और दूसरे नृत्यों के लिए जिसे सरगुजा के ओझा डॉक्टर द्वारा पहना जाता है जिसका रूप पागलपन तक डराने वाला है।

जैसे हम मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में पश्चिम में झाबुआ से दक्षिण में बस्तर की ओर और पूरब में सरगुजा और रायगढ़ की तरफ गुज़रते हैं हम मान्यता में चढ़ाये जाने वाले टेराकोटा के ढेर पेड़ों के तने के नीचे गाँव के बाहर पाते हैं, छतों पर : एक समानान्तर संसार निर्जीव चीज़ों का और फिर भी संग्रह स्थल ज़िन्दा विश्वासों का, मानसून में बारिश के द्वारा धो दिये जाने और फिर मौसम के बदलने पर देहाती कलाकारों द्वारा फिर से सृजन किये जाने के लिए दिखाई देता है।

...

बूझती अँगुलियाँ

मानव की अँगुलियाँ उल्लेखनीय शरीर का हिस्सा हैं। ऐसा लगता है वे अपनी इच्छा शक्ति से प्रेरित हैं। वे अपने आसपास के यथार्थ में ही नहीं पैठती बल्कि मस्तिष्क के गहरे अवकाशों में भी जा घुसती हैं। वे खोज करती हैं और ढँकती हैं, उद्‌घाटित करती हैं और गढ़ती हैं। पानी से गुज़रते या रेत से वे लहरों और रेखाओं को पैदा करती हैं, वे सतह पर रेखाएँ बनाती हैं और मस्तिष्क आश्चर्य करता है कि रेखाएँ क्या उद्‌घाटित करती हैं। मैं सन्ना के जंगल के विश्राम-गृह में दूबी को देखता हूँ, एक पहाड़ी कोरबा युवती लकड़ी के ब्रश से काग़ज़ पर रेखांकन कर रही है। उसकी अँगुलियाँ ब्रश को बिना किसी प्रयत्न के पकड़े हैं और काग़ज़ के सतह पर घुमा रही हैं : रेखाएँ निकल रही हैं और चारों तरफ रेंग रही हैं जिसे वह अपनी बीड़ी पीती हुई, बच्चों जैसी तल्लीनता से देख रही है कि बूझती अँगुलियाँ क्या रच रही हैं।

दूबी का यह रेखांकन किसी भी परम्परा में मौजूद नहीं है। जब तक वह उस संस्कृति के पीछे नहीं जाता जहाँ वह पैदा हुई है। एक भटकता लावारिस समुदाय, उसी समुदाय से सम्बद्ध जो अब शिकार नहीं कर सकता या जंगल में बदलती खेती का अभ्यस्त नहीं होता। दूबी अब नहीं है। उसकी मृत्यु बुखार से हुई। हमारे लिए बनाये गये काग़ज़ पर उसके रेखांकन उसके समुदाय के कुछ और लोगों द्वारा बनाये गये रेखांकन, अब बच गये हैं। पहाड़ी कोरबा कोरबाओं के वंशज हैं जो अम्बिकापुर और सरगुजा ज़िले के सामरी तहसील, रायगढ़ ज़िले की जशपुर तहसील और बिलासपुर ज़िले की कोरबा तहसील में रहते हैं,

बलादरपाट के पहाड़ी कोरबाओं से सम्पर्क स्थापित हो जाने पर हमने उन्हें रेखांकन के लिए काग़ज़ और रंगीन पेन दिये। शराब पीते हुए निश्चित ही हम लोगों में पहले ही मेल हो चुका था। लगभग सभी ने बगैर किसी झिझक के एक साथ ही शुरू किया, बिना एक दूसरे की ओर प्रेरणा या निर्देशों के लिए झाँकते हुए। अत्यन्त ही सरलता और विश्वास के साथ। मैं जानवरों, चिड़ियाओं के रेखांकनों की उम्मीद कर रहा था या मानव रूपी देवी-देवताओं का प्रस्तुतिकरण या चौक के अनुष्ठानिक रेखांकन भी। जो उनकी उँगुलियों से बहता हुआ आया वह अप्रत्याशित और चौंका देने वाला था। इनमें जो हम तत्काल ही स्पष्ट रूप से देखते हैं वह इन रेखांकनों में उनका सुलेखिक चरित्र है, जैसे कि कलाकार रेखांकन नहीं बल्कि लिख रहा है। इन कोरबाओं की कोई लिखित लिपि नहीं है और जिन्होंने ये रेखांकन किये वे अशिक्षित हैं। निश्चित ही साप्ताहिक हाट के दौरान व्यापारियों से हुई मुलाकात, जंगल रक्षक के साथ और सरकारी महकमों के लोगों से मिलने के बाद उन्होंने कुछ अल्पविकसित शब्द उठा लिये बाहरी दुनिया से अपने संवाद के लिए। अन्यथा वे लोग न पढ़ सकते हैं न ही लिख सकते हैं। फिर इस तरह के उल्लेखनीय रेखांकन कैसे?

जब हम इन रेखांकनों की तरफ देखते हैं, हम तत्काल ही पॉल क्ले के इस कथन का ध्यान आता हैं कि रेखा को चहलकदमी के लिए ले जाना चाहिए। ये रेखांकन पूरी तरह से रेखीय हैं। यद्यपि, यह लगातार बहती हुई रेखा नहीं है किसी वस्तु, आकार या रूप को दर्शाती। रेखा एक धागे की तरह है जो

रील से अव्यवस्थित ढंग से खुलकर घूम गया, सिर्फ़ धागा टुकड़ों में बचा है, कुछ छोटे और सचमुच लम्बे, ऐंठे हुए भँवर बनाते हुए, आढ़े-तिरछे, वृत्त और अर्धवृत्त, किन्हीं ख़ास जगहों पर जुड़े हुए और कहीं बिखरे हुए, जैसे कि केन्द्राभिमुखी और केन्द्र-मुखी शक्तियाँ एक ही साथ हों। उन्हें निरुद्देश्य की गयी गोदा-गादी की तरह रद्द किया जा सकता है (हालाँकि कोई भी गोदा-गादी उद्देश्यहीन नहीं होती) सिर्फ़ कुछ साफ-साफ देखे जाने वाले नक्श के सिवा ज़्यादातर निरुदृश्य हैं। ज़्यादातर रेखांकनों में रेखाओं के जाल के भँवर में कहीं हम कुछ चित्र लेख पाते हैं - रेखांकन जो स्वाभाविक रूप से सूरज है या मानव आकृति है या एक जानवर है, हालाँकि ये भी फिर से रेखीय गुणवत्ता ही धारण किये हैं। ज़्यादातर इन रेखांकनों में हम पाते हैं कि रेखाएँ लिपि बनने की आकांक्षा लिये हैं। वे बिखरे हुए आधे आकार धारण किये हुए किसी भाषा के अक्षर की तरह हैं, जिन्हें अभी पैदा होना है। यह चारित्रिकता इन रेखांकनों को एक विचित्र और गतिमान सुलेखीय गुणवत्ता प्रदान करती है। यह उल्लेखनीय है कि वे अपने को किसी चित्रलेख के आकार में नहीं ढाल रही हैं, वस्तु के चाक्षुक प्रस्तुतीकरण में, किन्तु यह अमूर्त संकेत चिह्न हैं, जैसे कि वे लिखित लिपियों के जन्म और विकास के समूचे इतिहास को एक बार में ही जीतना चाहती हों। सिर्फ़ ये 'अक्षर' अक्षर नहीं हैं, क्योंकि वे अपने को किसी निश्चित क्रम में नहीं दोहराते हैं और ये 'शब्द' शब्द नहीं हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति की कोई पद्धति नहीं है और यह 'वाक्य' वाक्य नहीं है, क्योंकि उनके अनुक्रम या वाक्य-विज्ञान का कोई व्याकरण नहीं है। एक प्रकट होता है उनमें से और दूसरे में लुप्त हो जाता है। इस अर्थ में यह पढ़ने योग्य पाठ नहीं है, फिर भी यह धड़कता चाक्षुष अनुभव है, प्लास्टिक आर्ट की दुनिया में अपनी जगह को वैध बनाता हुआ।

अपनी रेखीय गुणवत्ता को बचाते हुए, इनमें से कुछ रेखांकन कई रंगों में हैं, रंगों का चुनाव कोरबा कलाकारों ने खुद किया। पहली बार में वे छितरी हुई दिखायी दे सकती हैं, फिर भी वे जोरदार रूपात्मक एकता हासिल कर लेती हैं जब आँखें इस रेखीय लहरों के बहाव और उतार के साथ घूमना सीख जाती हैं (डूफ़ी के ब्रश आघातों की तरह नहीं) और अन्दरूनी लय को खोज लेती हैं। वे अतिसूक्ष्म तल्लीनता के विस्तार में जाती हैं और ब्रह्माण्ड की अभिलाषा में खुलती हैं। वे यहाँ की समस्याओं के बारे में बात करती हैं और हवाओं की स्वतन्त्रता के बारे में, पहाड़ों की ऊँचाइयों की, जंगल के रहस्य की और आसमान के चौड़े फैलाव की। एक पहाड़ी कोरबा, अपने रेखांकन करते हुए हाँफ रहा था और गहरी साँस ले रहा था। मुस्कुरा रहा था और आनन्दित आवाज़ें कर रहा था। शब्दशः वह अपने अनुभव को जी रहा था जो काग़ज़ पर संहिताबद्ध कर रहा था। ये रेखांकन गति चित्रकला (Action Painting) की मनोकामिक शुद्धता से अनुप्राणित है और उसी वक्त शब्द के जन्म की कविता से तरबतर भी।

सामान्य तुलनाएँ तत्काल ही दिमाग़ में आती हैं, मार्क टोबी के चित्र उदाहरण के लिए या फिर अम्बादास के। इन दोनों आधुनिक उल्लेखनीय अमूर्त चित्रकारों के संसार में, एक अमरीकी और दूसरा भारतीय, रेखाएँ भाषा के संदेश देने के थका देने वाले बोझ से छुटकारा पाती हैं और तत्काल संवाद पर पहुँचने का संघर्ष करती हैं; वे उस सिरे पर काँपती हुई संघर्ष करती हैं जहाँ ध्वनि बोली में बदल जाती है

और लिखाई लिपि बन जाती है। वह क्रम-बन्धन की कमी से खत्म हो जाती है और इस तरह पहचान नहीं बनती। वह मानव मस्तिष्क के उन सारी कल्पनाओं और भावनाओं को साथ ले चलती है बिना उसे संज्ञान रूप में बदलते हुए। बच्चे द्वारा खींची गयी कोई भी रेखा अर्थहीन नहीं है यद्यपि हम शायद प्रतिक्रिया करने की अपनी क्षमता खो चुके हैं जिसका एकमात्र कारण व्यवस्थित शिक्षा के जाल का दख़ल है। पहाड़ी कोरबाओं के ये रेखांकन आदिम हैं, बच्चों जैसे हैं, अबोधगम्य हैं, फिर भी जीवित संगीत की तरह दीप्त है।

लालदरपाट और बलादरपाट के पहाड़ी कोरबाओं के विपरीत, राउनी के पहाड़ी कोरबाओं के रेखांकनों में उल्लेखनीय फ़र्क़ हमने पाया, जिन्होंने व्यवस्थित खेतीबाड़ी अपना ली है। यहाँ-वहाँ मवेशियों, चिड़ियाओं, मनुष्यों आदि की आकृतियों में तल्लीन दिखते हैं। एक रेखांकन में मवेशियों का पूरा झुण्ड दर्शाया गया है, एक क़तार के ऊपर दूसरी जरा से जगह बदलकर, एक गति का भ्रम पैदा करते हुए, पूरी सतह पर फैलाते हुए, जैसे कि कलाकार अत्यधिक पशुधन का सपना देख रहा हो। एक दूसरे रेखांकन में एक चूज़ा कीड़े के साथ दिखाया गया है। अत्यन्त सादगी से बनाया गया, चूजे की जिज्ञासा भरी आँखें कीड़े को देख रही हैं, जो कि धड़कता हुआ ज़िन्दा कीड़ा है। कुछ रेखांकन हैं मोर के, हिरण के (शिकार का कथासार), एक रावण बारह सिरों के साथ (इसे भीलों के बारह माथ्या से नहीं मिलाना) किसान एक हल के साथ आदि। एक रेखांकन है जिसमें एक आदमी है घर में है और पशु बाहर। जिन पहाड़ी कोरबाओं ने व्यवस्थित खेती को अपना लिया है वे विरोधाभासी रूप से लिखित शब्द के वहम से मुक्त हैं। ये रेखांकन उतने ही उल्लास से भरे हैं जैसे कि उन युवा बच्चों के हों और जो किसी भी अनुष्ठान या शैली का मोहर अपने ऊपर नहीं चिपकाये हैं।

निश्चित ही अनुष्ठानिक रेखांकन बहुत ही दुर्लभ हैं और एक दूर पहाड़ी कोरबा गाँव में मिला जो कि बहुत ही सादा और प्रतीकात्मक था : एक मानव आकृति मूलभूत आकृति तक घटा दी गयी थी, जिसमें दो रेखाएँ एक दूसरे को काटती हुई और एक बिन्दु बीच में। लाल बिन्दु सफ़ेद रेखाओं के ऊपर लगाया गया है। दो क़तारें इस तरह की आकृतियों की एक तरफ है और एक क़तार दूसरी तरफ है और बीच का आयताकार एक निवास स्थल को दर्शाता है। ऐसा लगता है कि यह रेखांकन सुरक्षा के आकर्षण को सुझा रहा है। बलादरपाट और लालदरपाट के पहाड़ी कोरबाओं द्वारा बनाये गये रेखांकन या रावनी के कोरबाओं द्वारा बनाये गये रेखांकन उनकी झोपड़ियों की दीवारों पर नहीं मिले, वे इन लोगों द्वारा काग़ज़ दिये जाने पर अकस्मात् ही रंग, ब्रश और पेंट से उड़ेल दिये गये हैं। अपने रहने के पारम्परिक ढंग से विस्थापित कर दिये गये। ये लोग लगता है इनकी जो भी रेखांकन करने की परम्परा रही होगी, उसे खो चुके हैं। हमारे लिए बनाये गये रेखांकन ऐसा लगता है कि उनके चारों ओर के संसार की पुनर्खोज है एक नये जीवन के अनुभव की संहिता, एक नयी संस्कृति की शुरूआत। एक समय में सरगुजा के मैदानों पर रहने वाले लोगों के लिए पहाड़ी कोरबा आतंक का पर्याय थे, अब वे लोग क्षुब्ध हैं और अपने चारों ओर बदलते हुए डरावने संसार

को पकड़ में लेने की कोशिश कर रहे हैं, वे हमें कर्मा गीत की उस पीड़ा के पास ले आते हैं जिससे इस निबन्ध की शुरूआत हुई थी।

साहचर्य की वैकल्पिक सृष्टि

मिथिलेश शरण चौबे

जीवन की पुनरावृत्ति, भले ही कितनी खूबसूरती से की जाये; वह 'गल्प' होने को कमतर ही करती है। गल्प की आत्मा कल्पना ही होती है जिसका यथार्थाभास कराने के उद्यम में ही कई कथाओं का 'गल्प' मद्धिम पड़ जाता है। यह बात अचरजकारी है कि हम किसी को उसके मूल स्वभाव से कम, आरोपित व्याख्याओं से ज़्यादा जानते हैं और इस आरोपित को ही प्रतिमान मानकर विश्लेषण का कर्म भी चलता है। जिस जीवन से हम असन्तुष्ट हैं, उसी के अतिरेक में हम उन आकांक्षाओं को पाना चाहते हैं जिनमें असंतोष से विमुख कुछ तृप्तिदायक और औसतपन से ऊपर का अनुभव हो। इस प्रवृत्ति से आक्रान्त व्याख्याकारों ने पाठकों को भी दिग्भ्रमित करने का काम किया है। बड़ी प्रतिक्रियाओं से आकृष्ट होकर पढ़ने वालों से वे कृतियाँ दूर होती गईं जिनमें कल्पना की बड़ी उड़ान थी और जिन्हें पढ़कर कल्पना का कलात्मक आनन्द और जीवन के औसतपन का विलोम मिल सकता था।

आनन्द हर्षुल का उपन्यास 'चिड़िया बहनों का भाई' ऐसे ही कलात्मक आनन्द को देने वाला उपन्यास है जिसे रचा है कल्पना की बड़ी उड़ान ने। यह सिर्फ़ मनुष्य की कथा नहीं है बल्कि मनुष्य की दुनिया को पूर्णता देने वाले और उसकी एकांगी वृत्ति की केन्द्रीयता को अपूर्णता का ठोस अहसास कराने वाले वे सभी हैं जो वास्तव में अन्य तो नहीं ही हैं। मनुष्य, पक्षी, जानवर, नदी, पहाड़, वृक्ष, धरती, देवता आदि के साहचर्य का वृत्तान्त है यह जिसमें सभी की सक्रिय सहभागिता है। सत्रह वर्षीय भुलवा अपने बालविवाहित माँ-पिता की छठवी और बची हुई अकेली संतान है। पूर्व में जन्मी सभी पाँच बहनें अपने जन्म पर उत्पन्न नाख़ुशी और निरादर पाकर चिड़ियों में बदल चुकी हैं लेकिन वे विलग नहीं होती। भुलवा के नित्य कर्म मछली पकड़ने में व उन्हें उड़कर घर पहुँचाकर उसकी मदद करती हैं। लड़कियों के जन्म पर दुखी होने की सहज समाज प्रतिक्रिया के बरअक्स यह उनके होने और अपने लिए जगह बनाने की अद्‌भुत कल्पना है। भुलवा का गाँव चारों तरफ़ से पहाड़ों से घिरा था, तीन तरफ़ के पहाड़ों को उसके एक पराक्रमी पुरखे परसन ने हटाकर गाँव में सूर्य, चन्द्र और तारों को साकार किया था। भुलवा का घर उसके अभावों को छुपा लेने का जतन करता है और दरवाज़ा छोटों के लिए विनम्र व बड़ों के अहंकार को झुकाने वाला व्यवहार कर अपना जीवन्त व संवेदनशील होना जताता है।

भुलवा व विराजो का प्रेम, रात को एक-दूसरे को देखने की संकेत युक्ति, मिलन की आतुरता का सुन्दर वर्णन मिलता है। एक बार घटित हुए सम्पूर्ण मिलन के ऐन्द्रिय दृश्य, मिरचुक भूत का प्रभाव व चन्द्रमा का मुग्ध अभिसार किसी भी तरह की विश्वसनीयता की दरकार नहीं रखता। विराजो के अन्यत्र विवाहित होने पर भुलवा का विरह व्यथित होकर गाँव छोड़, पहाड़ चढ़कर ठीक उस दुनिया में पहुँचना जहाँ कभी पूर्वज

परसन गए थे, एक और पराक्रम भरी यात्रा है। परसन ने इक्कीस दिन में इक्कीस रोटियों के सहारे पहाड़ के ऊपर की दुनियाँ देखी थीं जहाँ वे नीले शेर में बदल गए थे। बाद में पहाड़ से उतरकर धीरे-धीरे मनुष्य में रूपान्तरित हुए परसन की अगुवाई में गाँव वालों ने तीनों पहाड़ों को चढ़ा था और उन्हें नष्ट कर दिया था, चौथा पहाड़ स्वयं ही छोटा हो गया था। अब भुलवा से भी कुछ होना है जिसने बगैर किसी इन्तजाम के पहाड़ चढ़ना शुरू किया था लेकिन तमाम फलदार वृक्षों ने असमय ही फल देकर उसकी मदद की थी। ऐसी ही मदद पहाड़ के ऊपर सोनई व रुपई तालाबों ने शीतलता व तृप्ति तथा आम के पेड़ ने रसभरे आम देकर की। यह सारा वृत्तान्त प्रकृति व मनुष्य को एकमेक कर देता है। पहाड़ पर शंकर देवता भूत पिशाचों के संग नृत्य करते हैं जिसे छुपकर भुलवा देखता है और पकड़ा जाता है। भूत-पिशाचों की मुक्ति के लिए सम्पूर्णता से 'नाचा' ही एकमात्र युक्ति है। जब शंकर के समक्ष भुलवा को पेश किया जाता है तो शंकर भुलवा से तुरन्त ही नाचा का अभ्यास करने के लिए कहते हैं और ऐसा करने की वजह स्वरूप राजा राउत और राजा विरज की मैत्री का एक किस्सा सुनाते हैं जिसके वे स्वयं एक चरित्र हैं। इस किस्से में राजा राउत के पुत्र अछरिया और राजा विरज की पुत्री चतुरा के विवाह की प्रक्रिया का, एक ब्राह्मण के माध्यम से, जो तोता बनने की शक्ति रखता है, रोचक वर्णन है। इस कथा में नाचा को चरितार्थ करने का विचार मुख्य रूप से है। वह अधूरा रह गया था जिसके लिए ग्यारह बार अछरिया और चतुरा ने जन्म लिया और शंकर के अनुसार अबकी बार भुलवा और विराजो के रूप में। भुलवा का गाँव छोड़, पहाड़ ऊपर की दुनिया में पहुँचने तथा शंकर से सम्वाद व नाचा अभ्यास करने अवधि लम्बी है। इधर गाँव में माँ-पिता, लौटकर वापस आई विराजो सहित उसकी पाँचों चिड़ियाँ बहनें भुलवा की अनुपस्थिति से अत्यन्त व्याकुल रहती हैं। उसकी पाँचों बहनें किंचित आभास और व्यापक अनुमान लगाकर पहाड़ को पार करने के लिए उड़ान भरती हैं। पहाड़ के ऊपर उगे हुए पेड़ असमय रसीले फल देकर पाँचों को तृप्त करते हैं। वे पता लगाते हुए सोनई-रुपई, आम के पेड़ आदि से मदद पाकर भुलवा के पास पहुँचती हैं। भुलवा तथा चिड़िया बहनें वापस गाँव लौटना चाहते हैं। शंकर भुलवा को विराजो व चिड़िया बहनों के संग पृथ्वी पर नाचा को अपना कर्म बनाने के लिए कहते हैं। भुलवा शंकर से बहनों के मनुष्य रूप में बदलने का निवेदन करता है। शंकर भुलवा के आग्रह-अनुरोध पर पाँचों बहनों के मनुष्य रूप में रूपान्तरित होने का वरदान देते हैं लेकिन स्त्री-पुरुष रूप में नहीं, तृतीय लिंग वृहन्नला के रूप में। सभी पहाड़ से धरती पर अपने गाँव आते हैं। गाँव में 'सभी ने पहली बार देखा है पक्षियों को मनुष्य बनते।'

गाँव के स्त्री जीवन की नियति के मार्मिक और दारुण दृश्य सहज ही यहाँ मिलते हैं। एक तरफ पुरुष से समानता की नाउम्मीदी और दूसरी तरफ कठिनाइयों की अधिकतम जवाबदेही के साथ घिसटती भुलवा की माँ का चरित्र स्त्री इच्छा की दुर्व्याख्या को प्रकट करता है:

> "कमरे में देह रहती थी पति की हर रात। हर रात उसकी भी देह रहती थी। रहती थी एक चुप देह उसकी। उसकी देह के कहने पर कमरे में नहीं होती थी कोई आवाज़। कमरे

में कुछ घटता नहीं था उसकी देह के कहने पर। घटता था सब कुछ पति के चाहने पर। पति के चाहने पर हो रहा था सब कुछ। एक बार भुलवा की माँ ने अपनी ओर पीठ किये पति की बाँह पकड़कर खींचा अपनी ओर तो पति ने कहा- वेश्या मत बन...

उस दिन से भुलवा की माँ देह की इच्छा को देह के भीतर दबाकर रखना सीख गयी है। सीख गयी है कि पति अपनी स्त्री के साथ सोना चाहे तो वह पति का अधिकार है। प्रेम है पति का। पर अगर पत्नी सोना चाहे तो इतनी बड़ी निर्लज्जता है कि जैसे वह पति के साथ नहीं, कई पुरुषों के साथ सोना चाह रही हो..."

भुलवा की पहली बहन के जन्म पर यह पुरुष प्रतिक्रिया का दृश्य भी कितना दारुण है-

"लड़की पैदा होने की बात सुन भुलवा के बाबू के चेहरे पर बादल उतर आये। चेहरे की धूप गायब हो गयी। अचानक उसका चेहरा काला पड़ गया।

भुलवा का बाबू अपनी बेटी को देखने जचगी वाले कमरे में गया ही नहीं है।

बेटी बाप का इन्तजार करती रह गयी है। अठारह साल से भी कुछ माह छोटे इस पिता बने लड़के में लड़का पैदा करने की यह आदिम इच्छा कहाँ से आई है ?"

भुलवा की केन्द्रीय कथा के साथ ही उपन्यास में सोनई व रुपई जुड़वा बहनों का किस्सा, अपने सौन्दर्य के कारण जिन्हें तालाबों में रूपान्तरित होना पड़ता है तथा घसियारे से सम्बद्ध वृहत मनुष्य, देवता व अन्न की उत्पत्ति का किस्सा गल्प का आनन्द तो देते ही हैं जीवन के उन सूक्ष्म अभिप्रायों को भी टटोलते हैं जो अब हमारी दृष्टि से ओझल ही हैं।

इस उपन्यास में सजीव-निर्जीव का भेद पूरी तरह विलीन है। पक्षियों से, मछलियों से तो सहज सम्वाद है ही, सब्जियों से, वृक्षों से, पहाड़ से, नदियों से, मछली की हड्डियों से, दरवाज़े व घर से भी बिना किसी व्यवधान के बातचीत मिलती है। देवता से भी समान स्तर पर सम्वाद है। अभिव्यक्ति के लिए 'स्वरूप' कोई बाधा नहीं है। मनुष्यों की परस्पर बातचीत से ज़्यादा यहाँ मनुष्य के अन्य जीवन उपस्थितियों से बोलने के दृश्य हैं। यहाँ सभी अपनी स्वभाविकता के प्रतीक रूप में आये हैं। चिड़िया, नीले शेर, तोता, बृहन्नला, बृहत पुरुष और देवता तक हम मनुष्य स्वभाव के विविध आयामों को देख सकते हैं।

उपन्यास की कथा, कथा-भाषा, कल्पना पर विचार करते हुए एक दृश्य में आये शंकर देवता की उक्ति को उद्धृत करना अर्थपूर्ण लगता है-

"ब्राह्मण की पोथी में मेरी एक कथा थी। कथा पूरे उड़ान पर थी। कल्पना की उड़ान। हर ब्राह्मण एक नयी पोथी रच रहा है। रच रहा है एक नया शंकर। हर ब्राह्मण यह कह रहा है कि उसकी ही कथा सबसे सच्ची है।"

यह उपन्यास भी एक नयी कथा है, पूरे उड़ान पर, कल्पना की उड़ान। जिसमें जीवन हिस्से में आते दुखों का ठोस एहसास है, किसी के लिए नियति की तरह अविकल्प तो किसी के लिए विमुख होकर ठेलने की कवायद की तरह है। लेकिन कोई भी चरित्र दुःख से इतना अतिक्रमित नहीं कि जीवन सौन्दर्य से ही विमुख हो। सभी जैसे अपने यथार्थ के विरुद्ध यत्नशील हैं और सभी में पारस्परिकता एक अनिवार्य सूत्र है। सिर्फ़ मनुष्य को ही नहीं, देवता को भी मनुष्य की ज़रूरत, वृक्ष-नदियों-पहाड़ और पक्षियों के साहचर्य की दरकार है। हर अस्तित्त्व दूसरे से सघन रूप से सम्बद्ध है। इसे पढ़कर हम यह भी अनुभव करते हैं कि शारीरिक शक्ति और पराक्रम भौतिक बदलाव ला सकते हैं, भौतिक रूपान्तरण में त्रुटियाँ भी आ जाती हैं लेकिन निश्छल भावनात्मक लगाव स्थायी और त्रुटिमुक्त बदलाव लाते हैं। ऐसे बदलाव में देर तो लगती है लेकिन समस्त मानवीय-दैवीय-मानवेतर शक्तियाँ इसी के लिए एकमेक होती हैं।

निपट गद्य से मुक्त काव्यात्मक और सूक्तिपरक भाषा ने इसे पठनीयता के स्तर पर समृद्ध किया है और लम्बे कथाकाल व अनेक किस्सों के मध्य आवाजाही को सुगमता दी है। यहाँ आवाजाही 'स्वरूप' के स्तर पर भी है। यह उपन्यास एक ऐसे 'स्पेस' को रचता है, सम्बन्धों और साहचर्य की एक वैकल्पिक सृष्टि को साकार करता है, जो अमूर्त में तो निरन्तर है, भले ही उसे हम अनुभव न कर पाते हों। यह हमारे सम्मुख बहुत सारे ऐसे अभिप्रायों को उजागर कर देता है, जिन्हें हम 'मनुष्य केन्द्रीयता' के आलोक में अलक्षित करते हैं। ऐसे ही अलक्षित संसार का अनुभव करने, यह उपन्यास पढ़ा जाना चाहिए।

चिड़िया बहनों का भाई

आनन्द हर्षुल

राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

४५०/ रुपये

लेखक परिचय

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी – हमारे समय के महान लेखक। १९६६ से 'शबख़ून' पत्रिका का सम्पादन और लगभग उसी वक़्त उर्दू में आलोचना लेखन आरम्भ। उनकी 'लफ़्ज़ ओ मानी', 'शेर ग़ैर शेर और नस्र', 'इस्बात ओ नफ़ी', 'तनक़ीदी अफ़कार' आधुनिक आलोचना की और 'तफ़हीमे-ग़ालिब' तथा 'शेर ए शोर अंगेज़' उर्दू की क्लासिकी शाइरी पर बेहतरीन किताबें। कहानी संग्रह 'सवार और दूसरी कहानियाँ', 'कई चाँद थे सरे आसमाँ' उपन्यास प्रकाशित। इसके बाद एक और उपन्यास 'कब्ज़े ज़माँ' छपा। राजकमल प्रकाशन से हाल में रज़ा पुस्तक माला के तहत फ़ारूक़ी साहब से बातचीत की किताब 'उपन्यासकार का सफ़र' शाया हुई है। 'कब्ज़े ज़माँ' का हिन्दी में लिप्यान्तर राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है। अन्तिम कहानी 'फ़ानी बाक़ी' समास-२१ में प्रकाशित हुई है। मृत्यु कोरोना से २५ दिसम्बर २०२१ को हुई।

कुमार शहानी- भारत के महानतम् फ़िल्मकारों में गिने जाते हैं। सिनेमा पर गहरा विचार किया है। 'माया दर्पण', 'तरंग', 'ख़याल गाथा', 'कस्बा', 'भावान्तरण', 'चार अध्याय', 'विरह भर्‌यो घर आँगन कोने' इनकी प्रसिद्ध फ़िल्में हैं जो भारत और विश्व के सिनेमा में कालजयी कृतियाँ मानी जाती हैं। कुमार संसार के बड़े सिनेमा-अध्यापक के रूप में ही सहज स्वीकृत हैं। कुछ वर्ष पहले निबन्धों और व्याख्यानों का संग्रह 'शॉक ऑफ़ डिज़ायर' प्रकाशित। इनसे बातचीत की क़िताब 'सिनेमा और संसार' राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित। इनकी फ़िल्मों को राष्ट्रीय पुरस्कार समेत कई भारतीय और 'प्रिंस क्लाउस' समेत कई अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हैं। इन दिनों पुणे में रहते हैं।

जगदीश स्वामीनाथन – स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के देश के महानतम चित्रकार और चिन्तक। आधुनिक भारतीय चित्रकला को पारम्परिक लघुचित्रों और जनजातीय सृजनात्मकता से जोड़कर उसे ऊर्जस्वित किया। चित्र संसारभर के बड़े संग्रहालयों और जाने-माने चित्र संग्रहाकों के पास। चित्रकला की कई पीढ़ियों को प्रभावित किया है। भारत भवन, भोपाल के रूपंकर संग्रहालय के संकल्पक और स्थापक निदेशक। १९९४ में दिल्ली में हृदयाघात से मृत्यु।

ध्रुव शुक्ल – हिन्दी के कवि, कथाकार, उपन्यासकार और टिप्पणीकार। कई कविता संग्रह प्रकाशित हैं जिनमें 'खोजो तो बेटी पापा कहाँ हैं', 'फिर वह कविता वही कहानी' और 'एक बूँद का बादल' प्रमुख हैं। इनके तीन उपन्यास 'उसी शहर में', 'अमर टॉकीज़' और 'कचराघर' प्रकाशित। कहानी संग्रह 'हिचकी', सामयिक विषयों पर टिप्पणियों का संग्रह, 'एक नागरिक की डायरी', महात्मा गाँधी की प्रसिद्ध पुस्तक, 'हिन्द स्वराज' पर केन्द्रित सुदीर्घ निबन्ध, 'पूज्य पिता के सहज सत्य' आदि प्रकाशित हुए हैं। ध्रुव को अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए है। हिन्दी साहित्य की पत्रिका, 'पूर्वग्रह' में सम्पादन सहयोग और 'साक्षात्कार' का सम्पादन किया है। हाल में कृति संचयन 'यह दिन सब पर उगा है' प्रकाशित। आप भोपाल में रहते हैं।

वीनेश अन्ताणी – गुजराती के अप्रतिम गद्यकार। गद्य की सभी विधाओं में पारंगत। अब तक पच्चीस उपन्यास, नौ कहानी संग्रह और ग्यारह निबन्ध संग्रह प्रकाशित हैं। एक संस्मरण और चार अनुवाद की

पुस्तकें भी प्रकाशित हैं। उनका उपन्यास 'प्रियजन' गुजरात में अत्यन्त लोकप्रिय है। साहित्य अकादमी पुरस्कार, कन्हैयालाल मुन्शी गोल्ड मेडल और साहित्य अकादमी का अनुवाद पुरस्कार। हैदराबाद में रहते हैं।

माधव हाड़ा – भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के पूर्व अध्येता और मोहन लाल सुखाड़िया, उदयपुर विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य रहे हैं। आपकी देहरी पर दीपक, मीरां वर्सेज़ मीरां, मुनि निजविजय, मीडिया-साहित्य और संस्कृति, तनी हुई रस्सी पर आदि कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। आपने कई पुस्तकें सम्पादित भी की हैं जिनमें सौने काट न लागै, सूरदास, तुलसीदास, अमीर खुसरो, मीरां रचना संचयन, कथेतर और लय आदि शामिल हैं। आपको भारतेन्दु हरिश्चंद्र पुरस्कार, राजस्थान साहित्य अकादमी का देवराज उपाध्याय आलोचना आदि पुरुस्कार प्राप्त हैं। उदयपुर में रहते हैं।

ख़लीन मामून – उर्दू के जाने-माने शायर। शायरी की कई क़िताबें प्रकाशित। कर्नाटक में भारतीय पुलिस सेवा में रहे। बैंगलोर में रहते हैं।

मदन सोनी – हिन्दी के प्रख्यात आलोचक और अनुवादक। 'कविता का व्योम और व्योम की कविता,' 'विषयान्तर', निर्मल वर्मा पर 'कथापुरुष', 'विक्षेप' पुस्तकें। बर्टोल्ट ब्रेख़्त और कालिदास के नाटकों के बुन्देली में अनुवाद। हर्मन हेस के उपन्यास 'सिद्धार्थ' और उम्बर्टो इको के उपन्यास 'द नेम ऑफ़ द रोज़' के हिन्दी अनुवाद 'ख़ाली नाम गुलाब का' के साथ इज़राईली इतिहासकार युवाल नोआ हरारी की कई किताबों के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। अभी हाल में निबन्ध संचयन 'काँपती सतह पर' प्रकाशित। इन दिनों भोपाल में रहते हैं।

बिन्दु भट्ट – गुजराती की लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासकार, निबन्धकार और अनुवादक। अनेक कृतियों के अन्य भारतीय भाषाओं से गुजराती में अनुवाद और गुजराती कृतियों के हिन्दी में अनुवाद। श्रीकान्त वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु जैसे विलक्षण हिन्दी लेखकों का गुजराती में अनुवाद और वीनेश अन्ताणी के प्रसिद्ध उपन्यास 'प्रियजन' का हिन्दी में अनुवाद। अनुवाद के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त।

स्टिवन ग्रीको – इतालवी भाषा के महत्वपूर्ण कवि। इतालवी में ग़ालिब के अनुवाद। ग्रीस में रहते हैं।

अखिलेश – अपनी पीढ़ी के जाने-माने चित्रकार। चित्रकला पर हिन्दी में लेखन। मक़बूल फ़िदा हुसैन की जीवनी प्रकाशित। कई और किताबें व अनुवाद प्रकाशित। जगदीश स्वामीनाथन के सान्निध्य में भारत भवन, भोपाल में कई वर्षों काम किया है। इन दिनों स्वतन्त्र चित्रकार हैं और कलाओं आदि पर लेखन करते हैं। भोपाल में रहते हैं।

डॉ. राजकुमार – हिन्दी साहित्य के जाने-माने आलोचक और निबन्धकार। औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक विघटन पर बहुत विचार किया है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में पढ़ाते हैं। आपकी कई पुस्तकें हैं, जिनमें आधुनिक हिन्दी साहित्य का चौथा दशक, ... पाश्चात्य आलोचक और

आलोचना शामिल हैं। लगभग छः पुस्तकें प्रकाश्य हैं। इन दिनों आप स्वीट्ज़रलैण्ड के लोसाँ शहर में रह रहे हैं।

शिरीष ढोबले – हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और कहानीकार। दो कविता संग्रह 'उच्चारण' और 'पर यह तो विरह' प्रकाशित हुए हैं। कविताओं के अनुवाद कई भारतीय और विदेशी भाषाओं में हुए हैं। रज़ा पुरस्कार, कथा पुरस्कार, अशोक वाजपेयी पुरस्कार, भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार आदि से विभूषित। इन दिनों उदयपुर के प्रसिद्ध चिकित्सा महाविद्यालय में हृदय की शल्यचिकित्सा विभाग की स्थापना के कार्य में संलग्न हैं। उदयपुर और इन्दौर में रहते हैं।

रिज़वानुल हक़ – उर्दू के अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न कथाकार। जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली में अध्ययन। कहानी-संग्रह 'बाज़ार में तालिब' प्रकाशित। शोधकार्य 'उर्दू फ़िक्शन और सिनेमा' भी प्रकाशित। शमीम हनफ़ी के कई लेखों का उर्दू से हिन्दी में और कुछ कहानियों का अंग्रेज़ी से उर्दू में अनुवाद। उर्दू का अध्यापन। इन दिनों दिल्ली में रहते हैं। जनाब शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी के उपन्यास 'कब्ज़े ज़मा' का आपका हिन्दी अनुवाद राजकमल प्रकाशन से शाया हुआ है। अभी हाल में 'खुदकुशी-नामा' (उपन्यास) प्रकाशित हुआ है। दिल्ली में रहते हैं।

आशुतोष पोद्दार – मराठी के पुरस्कार प्राप्त नाटककार और कवि हैं। वे कहानी लेखन के साथ-साथ अनुवाद, सम्पादन और शोध कार्य भी करते आ रहे हैं। आशुतोष पिछले बीस वर्षों से भारतीय साहित्य, सृजनात्मक लेखन आदि का अध्यापन कर रहे हैं। इन दिनों वे पुणे के फ्लेम विश्वविद्यालय के साहित्य और रंगमंच विभाग में एसोशिएट प्रोफ़ेसर हैं।

मिथिलेश शरण चौबे – हिन्दी के युवा कवि और आलोचक। कुँवर नारायण पर आलोचना पुस्तक 'कुँवर नारायण का रचना संसार' प्रकाशित और कविता संग्रह 'लौटने के लिए जाना' प्रकाशित हैं। आपको 'मीरा सम्मान' और 'रमेश दत्त दुबे युवा रचनाकार सम्मान' मिले हैं। कई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ और लेख प्रकाशित हुए हैं। 'समास' में सम्पादन सहयोग भी किया हैं।

अनामिका अनु – हिन्दी की युवा कवि। कविताएँ, गद्य और अनुवाद हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। अभी हाल में 'इंजीकरी' नामक कविता संग्रह प्रकाशित। भारतभूषण पुरस्कार प्राप्त। तिरुवनन्तपुरम् में रहती हैं।

आस्तीक वाजपेयी – हिन्दी के युवतम कवियों में एक। भोपाल के मौलाना आज़ाद राष्ट्रीय तकनीकी संस्थान से धातु विज्ञान में बी.टेक. की डिग्री। पश्चिमी और भारतीय मार्गी संगीत में गहरी दिलचस्पी। कविताओं के लिए 'जानकीपुल' और 'भारत भूषण अग्रवाल' पुरस्कार (२०१४) और कविता संग्रह 'थरथराहट' के लिए 'युवा साहित्य अकादमी' पुरस्कार (२०१८) प्राप्त। इन दिनों सूरत में रहते हैं।

सृंजना शर्मा – असमिया भाषा की युवा कवि और कथाकार। कृतियाँ असम की अनेक महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। गोवाहाटी में रहती हैं।

विनोद रिंगानिया – असमिया के कहानीकार, अनुवादक और पत्रकार। साहित्य अकादमी पुरस्कृत कवि हरेकृष्ण डेका के कविता संकलन का असमिया से हिन्दी अनुवाद और अन्य प्रमुख असमिया कवियों का भी हिन्दी अनुवाद। यात्रा वृतान्त 'ट्रेन टू बांग्लादेश' और राजनीतिक लेखन 'असम कहाँ कहाँ से गुज़र गया' प्रकाशित। कहानियाँ समकालीन भारतीय साहित्य, कथादेश सहित अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित। पूर्वांचल प्रहरी, सप्तसेतु, पूरब, दैनिक पूर्वोदय आदि समाचार पत्रों का सम्पादन। सम्प्रति बर्लिन स्थित 'इंस्टीट्यूट ऑफ़ साउथ एशिया मार्केटिंग एंड पॉलिटिकल एनालिसिस' के भारत प्रमुख।

ISBN-2394-2355

समास

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी
कुमार शहानी
जगदीश स्वामीनाथन
ध्रुव शुक्ल
वीनेश अन्ताणी
माधव हाड़ा
ख़लीन मामून
मदन सोनी
बिन्दु भट्ट
स्टिवन ग्रीको
अखिलेश -
डॉ. राजकुमार
शिरीष ढोबले
रिज़वानुल हक़
आशुतोष पोद्दार
मिथिलेशशरण चौबे
अनामिका अनु
आस्तीक वाजपेयी
सृंजना शर्मा

समास, प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी द्वारा द रज़ा फाउण्डेशन, सी-४/१३६, सफदरजंग डेवलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित। मुद्रक : भण्डारी प्रेस, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.) सम्पादक : उदयन वाजपेयी
Samas, A literary Quarterly Magazine, Language : Hindi, Published by Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation, C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016 Edited by Udayan Vajpeyi.